

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

U. G. C. BOOKS

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

प्रथम उद्योत

व्याख्याकारः

डॉ० रामसागर त्रिपाठी



मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली खाणपसी पटना बंगलौर मद्रास

द्वितीय संस्करण : १९७३
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९७९, १९८९, १९९५

© मोतीलाल बनारसीदास

बगलो रोड जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
१२० रॉयपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
१६ सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक वाराणसी २२१ ००१

नान्द्रप्रकारा जैन, भातान्नाम बनारसोदाम, बगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनैन्द्रप्रकारा जैन, श्री जैनैन्द्र प्रेम
ए-४५ नारायण फज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

समर्पण

चरसलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी अननी
श्रीमती कूर्मती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावती
छादर समर्पित है ।

है। अतः रामशक्तिणी का यह बयान सत्य सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का भीरी राम
अवन्तिवर्मा के समानचित्त थे

धन्यात्मिक के दो भाग हैं—एक कारिकामाण और दूसरा स्वरयामाय। व्याख्या में ही
का श्लोक, समस्त श्लोक और सगर श्लोकों का उदाहरण किया गया है। व्याख्या भाग के दोन
नाम प्राप्त होने हैं—धन्यात्मिक सद्गुणायाम और काव्यात्मिक

साहित्यिक लोचकों में इस बात में पण्डित मनमोह है कि कारिकाकार और व्याख्याकार
एक ही हैं या पृथक् पृथक् कतिपय विद्वानों का मत है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार
हैं। इसमें एक ठा प्रमाण यह है कि कारिकाकार ने महलाचरण नहीं किया। इसमें प्रक
दाता है कि आल क का महलाचरण ही ध्वनि कारिकाओं का भी महलाचरण है और इसने
निश्चय ही कि आल क का महलाचरण ही ध्वनिकार भी है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि तथा आलक
दानों में विषय भेद नहीं पाया जाता। तीसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन के समस्तानन्दिक
अथवा इनमें तत्काल बाद में काव्ययत्र में अथवा न जाने कब आचार्य ध्वनि तथा आल क को
पृथक् का संकेत करे हैं। महिममृत ने व्यक्तिवचन में शनो का एक रूप में ही खण्डन किया
है महिममृत काव्ययत्र के होनेवाले ध और आनन्दवर्धन के लगभग समसामयिक थे। अत
उनका सम्बन्ध लक्षण य नहीं हो सकता। काव्ययत्र की सन्निभुतावस्था में एक श्लोक निर
रथा है जिसमें आनन्दवर्धन का ही ध्वनिकार माना गया है। रामनेत्र ने भी इस पृथ को
उद्धृत किया है इसका आशय यह है कि काव्ययत्र और रामनेत्र के मत में कारिकाकार और
वृत्तिकार शनो एक ही हैं इसी प्रकार हमने सुमन्त्र नन्दय विवतय, गाविण और
कुमार श्याम इत्यादि आचार्यों ने आनन्दवर्धन का ही कारिकाकार माना है। अतएव
पण्डित परमेश कारिकाकार और वृत्तिकार का अन्त मानने के योग्य ही है।

दूसरी बात कही जाती है कि आरम्भिक महलाचरण पर प्रथम सख्या का न होना ही
इस बात का परिचायक है कि आनन्दवर्धन केवल वृत्तिकार हैं। यह उन्होंने कारिकाओं के वर्णन
होना ठा महलाचरण वृत्त के प्रारम्भ में नहीं करके कारिकाओं के प्रारम्भ में किया है।
इसके अतिरिक्त यह प कारिकाओं के प्रारम्भ में शब्दों का समस्तानन्दिक महल नहीं है तथा
प्रतिशब्द व ध्वनि-समस्त महल ता विद्यमान है ही। कारिका तथा वृत्ति दोनो के विषये
का उक्तवचन भा वचन इतना ही स्पष्ट करती है कि दानों आचार्यों का मत एक ही था
इसने शनो का एक स्वरयत्र का परिचय कराने नहीं मिलता। दूसरी बात यह मा है कि
वृत्तिकार ने अनेक पय विषयों का महलाचरण कर दिया है जिसका सन्दर्भ ध्वनिकारिकाओं में
नहीं पाया जाता। इसमें इनके स्वरयत्र का पृथक् का प्रमाण अवलम्ब हो जाता है।

जिन आचार्यों ने दानों का उक्तवचन सकेत किया है उनमें कुछ ठा केवल इतना बत
है कि आनन्दवर्धन ध्वनि के स्वरयत्र थे। इसका आशय यह बनाने नहीं होता कि आनन्दवर्धन

प्राक्कथन

'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों को आलोकित कर उन्हें यथार्थान विन्यस्त करता है और दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य शास्त्र पर अपनी प्रकाशारमियाँ विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है; आलोचनाशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतत्त्वों को एक व्यवस्थित रूप देता है। लक्ष्य ग्रन्थों की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इस ग्रन्थरत्न में भारतीय साहित्य शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि दृश्यमान जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल इतना ही है कि उसमें हमें प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है। अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें दृश्यमान जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही उच्च है जो हृदय को मुकावस्था की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठोक रूप में हृदयह्रम करना चाहते हैं तो ध्वन्यालोक का आश्रय अपरिहार्य हो जाता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्त्व है जितना श्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त में वेदान्तमूत्रों का। इस ग्रन्थ के महत्त्व का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि दुर्दम आलोचक पण्डितराज ने भी सम्मानपूर्वक इसके लेखक को आलङ्कारिकमरणि का व्यवस्थापक माना है।

इस ग्रन्थरत्न की रचना विक्रम नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने की थी। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है कि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभारत्नों में आनन्दवर्धन भी एक थे। यह मान्यता दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में कालिदास, पुण्डरीक, वाण, मट्टोद्गत, मामह, मनोरथ, सर्वसेन, सातवाहन, अमरक और धर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमयन विषय, रत्नावली, तापस-वामरान, हर्षचरित, रामानुजदय इत्यादि छन्दग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में वामन का भी उल्लेख किया गया है। वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा काश्मीरी से उदाहरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अष्टमशती का उत्तरार्ध अथवा नवमशताब्दी का पूर्वार्ध है। लोचन इत्यादि ग्रन्थों को देखने से यह ही निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नवमशताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टनायक ने हृदयदर्पण में ध्वन्यालोक का उल्लेख किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और भट्टनायक (नवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) के बीच में अर्थात् नवम शताब्दी के मध्यभाग में है। यही समय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल का

ब्रह्मन्दवर्षण के जीवनवृत्त विषयक ऋषिद्वय संकेत भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। इनके सिद्धांत का नाम 'मनोष' का जो कि काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और व्यकरण को ये सभी शास्त्रों का मूर्धन्य मानते थे। इनके बनाये हुए ५ भाग हुये जाते हैं— (१) ध्वन्यालोक (२) देवीमतक (३) विषय वाच्यलोक (४) अर्जुनचरित (५) धर्मोत्तमा नाम को एक विवृति। इन भागों में ध्वन्यालोक ही इनका कीर्ति का बीज है। देवीमतक काव्यमाला में प्रकाशित किया गया है। विषयवाच्यलोक और अर्जुनचरित बड़ी उपलब्ध नहीं होते। ध्वन्यालोक में ही इन भागों का उल्लेख पाया जाता है। विनिश्चय टीका की धर्मोत्तर नाम की विवृति का उल्लेख लोचनकर ने शृतीय उपोत्त के अन्त में किया है।

ध्वन्यालोक में ४ उपोत्त हैं— प्रथम उपोत्त में ध्वनि विरोधी सम्भावित पदों का उल्लेख कर उनपर पूरा विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही कान्य का एकमात्र प्रयोजक तत्त्व है तथा उमका अन्तर्भाव और बहूनी नहीं हो सकता। द्वितीय उपोत्त में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनिभेदों का निरूपण किया गया है और इसी प्रसङ्ग में रस का स्वरूप तथा रसवत् शब्दादि अलंकारों से रसध्वनि के भेद शब्दादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है तथा विरोधी सिद्धान्तों का पूर्णरूप से स्पष्टन किया गया है। इसी उपोत्त में गुणों का निरूपण भी किया गया है। शृतीय उपोत्त सबसे बड़ा है। इसमें 'व्यंग्यक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं। इसी प्रसङ्ग में रीतियों और वृत्तियों का भी विवेचन किया गया है और मातृ, प्रामाण्य, तार्किक, वेदान्ती शब्दादि के सिद्धान्तों में भी ध्वनि को आनन्दयकता दिखलाई गई है। चतुर्थ उपोत्त में ध्वनिसिद्धान्त को व्यंग्यकता तथा उसके महत्त्व पर विचार किया है और यह दिखलाया है कि यदि प्रथमा विद्यमान हो तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन सिद्धान्तों का आशय देने से व्याख्या की परिहर्माति नहीं हो सकती। ध्वनि का आशय देने से परिचित व्यंग्यार्थ भी उसी प्रकार प्रतीत होना लगता है जैसे मनुष्यास में पुराने भी वृत्त नये से जान पड़ते हैं। इसी उपोत्त में यह सिद्ध किया गया है कि महाप्रकाश में भी अज्ञी के रूप में एक ही रस की व्यंग्यता होती है जैसे महामात्र में दान्य रस की व्यंग्यता होती है।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका बर्दवा का उल्लेख लोचन में किया गया है तथा लोचन टीका से ही बर्दवाकर और अमिनवगुप्त का ज्ञान होना भी सिद्ध होता है। किन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती। ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका लोचन ही है जो कि अमिनवगुप्तदाचार्य की लिखी हुई है। श्री अमिनवगुप्त एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे। अत्र उन्होंने साहित्यशास्त्र में प्रायः लिखित बड़े दार्शनिक स्वरूप दे दिया। यह उनकी महाप्रपूर्णा तथा सङ्कट टीका है कि हम इसे साहित्यशास्त्र का महामाय्य मटीमति कह सकते

ही कारिकाकार भी थे। महिममठ ने दोनों का समान खण्डन किया है इसका भी यही आशय है कि दोनों का मत एक ही था और एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है। कुछ लोग भ्रान्त भी हैं भय इस आधार पर कि कुछ लोगों ने दोनों की एकता का प्रतिपादन किया है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार भी थे।

एतद्गत होता है कि जो कारिकायें आनन्दवर्धन को प्राप्त हुई थीं उनकी विचारधारा न तो व्यवस्थित थी न पूर्ण। उन कारिकाओं को आधार बनाकर आनन्दवर्धन ने एक पूर्ण, व्यवस्थित, समन्वयमूलक और निर्णायक वाक्य सिद्धान्त स्थापित किया। वृत्तिग्रन्थ इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि परवर्ती आचार्यों ने असन्दिग्ध रूप में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिप्रवर्तक मान लिया तथा कारिकाकार सर्वथा विस्मरणावृत्त हो गये। यही कारण है कि अनेक परवर्ती ग्रन्थों में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहा गया है और कारिकायें आनन्दवर्धन के नाम तथा वृत्तिग्रन्थ ध्वनिकार के नाम पर उद्धृत किया हुआ पाया जाता है।

प्रथम कारिका का विवेचन और विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नहीं था। छोचनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथक्त्व का अनेकशः निर्देश किया है। उन्होंने कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकार और वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकार शब्द का प्रयोग किया है। केवल इतना ही नहीं अपितु उन्होंने कारिकाओं से स्वतंत्रिक अर्थ का भी यथास्थान वृत्तिग्रन्थ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा इसमें कठमेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध चिन्तक हैं और आनन्दवर्धन को परम्परा से परिचित भी अधिक है। अतः अन्य आचार्यों की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है। इससे व्यक्त होता है कि ये दोनों व्यक्ति पृथक्-पृथक् थे।

यदि इन दोनों की सत्ता पृथक् मानी जावे तो ध्वनिकार के अनिर्दिष्ट कारिकाकार का कोई दूसरा नाम उपलब्ध नहीं होता और न उनके समय के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है। सामान्यतया एतद्गत होता है कि ध्वनिकार दण्डी मामह उद्भूत इत्यादि से अर्वाचीन और वृत्तिकार से प्राचीन आचार्य होंगे जिन्होंने प्राचीन परम्परा पर आधारित ध्वनिसिद्धान्त की कारिकाओं का निर्माण किया और वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने उसको व्याख्या की। ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य और अभिनव गुप्त के प्रथम पद्य में सद्दय शब्द के आ जाने से तथा ध्वन्यालोक के पुराने नाम सद्दयानोक के आधार पर कुछ लोगों ने ध्वनिकार का नाम सद्दय होने का अनुमान लगाया है। किन्तु सद्दय सामान्यतया काव्यमरिशीलक को कहते हैं। अतः यह शब्द ध्वनिकारक नहीं माना जा सकता।

जा सकता है कि लेखक का मदन प्रथम अरलीकनाय अरथ है । इस व्याख्या में वही इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि लोचन का आशय पूर्णतः प्रकट हो जाये वही इस बात की भी धारा की गइ है कि पाठकों को इसमें मौलिक रचना जैसा आनन्द प्राप्त हो । यह व्याख्या एक भार उन संस्कृतज्ञों के लिये लाभकर होगी जो लोचन का मूल्य समझना चाहते हैं और दूसरी अर हिन्दी साहित्य के व विद्वान् भी इसमें रुचि ले सकेंगे आ एक सहस्र वर्ष पूर्व की साहित्यशास्त्र व अकाश्या का पर्यवसाय करना चाहते हैं ।

अन्य में नामकरण पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतात होता है । सरकृत साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाइ जाता है । केवल काव्यग्रन्थों में ही नहीं व्याकरण और दर्शन जैसे नौगम विषयों व ग्रन्थों में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये मृगसिंह दाम्पित्य ने कौमुदी की रचना का । किन्तु कौमुदी को सद्दय रमिकों की लज्जानेवन्ती ही होती है । कौमुदी का वास्तविक आनन्द तो वही ले सकता है जिसके अन्तर्गत प्रेमियों का वियोग पीड़ित न कर रहा हा । अतः दाम्पित्य को ने स्वयं हा मन्तरमा' मदन कर दी । हरि दाम्पित्य ने देखा कि यह नगा मनोरमा सद्दयो को क्या आकर्षित कर सकेगा ? अतः उन्होंने उस मनोरमा को शम्भरल पहिरा दिया । किन्तु मन्त्रेण के मन्त्र हृदय को ली'कन मनोरमा के साथ कौमुदविहार की बात उचिन नहीं बची और उन्होंने मनोरमा में भगवती पावती के दर्शन कर उनका सहाय इन्दुसेखर (शम्भे-इन्दुसेखर) अर्थात् भगवान् शिवर से करा दिया ।

आनन्दवधन ने ध्वनि सम्बन्धिना वृत्त का नाम आलोक रक्खा था । उत्तर चन्द्रिका नाम का व्याकरण लिखी गई । अमिनर शुभ ने देखा कि अलोक और चन्द्रिका का अनेक सम्बन्ध था उपयुक्त हा सकता है, चन्द्रिका के द्वारा आलोक का अनन्द लेना समझ में नही आता । आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है । अतः उन्होंने अपना टीका का नाम लोचन रक्खा ।

मुझे भी अपने पत्नी के नाम में लोचन को व्याकरण का सुन्दर तथा उपयुक्त नाम प्राप्त हो गया । संस्कृत व्याकरण के अनुसार ठारा शब्द से मनुष्य प्रत्यय होकर ठारावत् शब्द बनता है । यदि इस शब्द का मनुष्यक लिङ्ग का विशेषण बनाया जाये तो 'ठारावती' बनेगा । लोचन भा दी होते हैं । अतएव ठारावती शब्द विशेषण 'लोचने' का विशेषण हो जायेगा और इस शब्द का अर्थ हो जायेगा 'सुन्दर तथा मनुष्य पुत्रलक्षी बान्हे दा नेत्र ।' दूसरी ओर अलोक के एकवचन में 'ठारावती' शब्द निषेध होकर व्याख्या का विशेषण हो जायेगा । इसी आधार पर प्रारम्भ में दो श्लोक रक्ते गये हैं —

नेत्र ठारावती पावत्योचने लभते सुधी ।

अलोकं ठारावतीं बोधितुं मुनिरासुरि ॥

हैं। जहाँ ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानों को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करती है वहाँ दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा की दृष्टि से पर्वतरूप में मौलिक भी है।

अमिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े शैव थे। कहा जाता है कि आन भो काश्मीर के अनेक ब्राह्मण परिवारों में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर जन रक्खा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमें इन्हीं के ग्रन्थों में परिचय प्राप्त होता है। ये वाराहगुप्त के पीत तथा चुगुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम या मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अमिनवगुप्त ने तीन गुरुओं से शिक्षा पाई थी। लोचन टीका में इन्होंने अपने गुरु का नाम लिखा है भट्टेन्दुराज। इन्होंने ध्वन्यालोक इहीं गुरु भट्टेन्दुराज के पास पढ़ा था और स्थान स्थान पर लोचन टीका में बड़े शौरव के साथ इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है तथा लिखा है कि सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरु ने इस प्रकार बतलाया था। इनके दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतीत जिनका उसी रूप में इन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अमिनव भारतो में स्मरण किया है। शैवदर्शन के इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र पर इनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर इनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं एक है ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन और दूसरा है भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या अमिनव भारतो, जो कि बलिष्ठरूप में ही प्राप्त होती है। कहा जाता है कि इनके गुरु भट्टतीत ने काव्यकौतुक नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

लोचन व्याख्या जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नहीं होती। बालमिया एक माधारण टीका है जिसमें अधिकतर श्लोकव्युत्पत्ति ही की गई है। लोचन जैसे महान् ग्रन्थ के लिये प्रतीकयोजनामान पर्याप्त नहीं हो सकती। चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय से ध्वन्यालोक की दीपिति नाम की एक व्याख्या प्रकाशित हुई है। इसमें प्रतिपाद की गई थी कि लोचन का ही सार सरल भाषा में मौलिकता के साथ प्रकट किया जावेगा। किन्तु यह टीका मौलिक अधिक है। अनेक स्थानों पर लोचन का प्रतिफलन इस रचना में हुआ अवश्य है फिर भी इस टीका के सहारे लोचन की ठीक रूप में समझ सकना सर्वथा असम्भव है। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्द दीपिका नामक व्याख्या श्री आचार्य त्रिवेदिवरजी ने हिन्दी में लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान स्थान पर लोचन के अर्थों का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रयत्न व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन की पूर्णरूप से समझने की आशा ही नहीं की जा सकती।

मरुतु प्रथम लोचन को ठीक रूप में समझाने के लिये लिखा गया है। लेखक को संशयता बहुत तक मित्ती है इसका निर्णय तो सहाय्य पाठक ही करेंगे किन्तु इतना कहा

और व्यञ्जना का भेद (१०५), धनिक को तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना (१०७), महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना (१०९), वेदान्तिनों और वैश्याकरणों का लक्षणदत्तावाद और व्यञ्जना (११०), दूसरे प्रमाण और व्यञ्जना (११५) 'भ्रमधार्मिक' विषयक मट्टनायक की भ्रांति और उसका खण्डन (११५), 'भ्रमधार्मिक' के शब्दों की व्यञ्जना (११८), वाच्य तथा वस्तु व्यञ्जना के विभेद के दूसरे उदाहरण (११९), अलङ्कार तथा रस व्यञ्जना का वाच्यार्थ से भेद (१२०)।

४—काव्य में व्यञ्जना के महत्त्व का ऐतिहासिक उदाहरण	१४२
५—'मानिवाद' की विस्तृत व्याख्या	१४५
६—प्रतीयमान की काव्यात्मता की स्वसवेदनसिद्धि	१५४
७—प्रतीयमान अर्थ को सिद्ध करने के दूसरे प्रमाण	१५७
८—प्रतीयमान की मुख्यता और उसका महत्त्व	१६१
९—प्रतीयमान के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ का उपयोग	१६६
१०—ध्वनि की परिभाषा	१७१
११—परिभाषा के प्रकाश में विभिन्न विरोधी मतों का निराकरण	१७२
१२—विभिन्न अलङ्कारों के द्वारा ध्वनि के आत्मसात् कर लिये जाने का निराकरण	१८१

समासोक्ति में ध्वनि सन्निवेश का निराकरण (१८३), आलेख के विभिन्न रूपों में ध्वनि के सन्निवेश का निराकरण (१८९), दीपक और अण्डति इत्यादि से व्यञ्जना के तात्पर्य होने का उदाहरण (१९९), अनुकल्पित विरोधीति में व्यञ्जना के सन्निवेश का निराकरण (२१६), पर्यायवाचक के द्वारा ध्वनि तात्पर्य नहीं हो सकती (२०३), अण्डति और दीपक में व्यञ्जना के सन्निवेश न हो सकने का विवेचन (२१६), सङ्घट्ट अलङ्कार पर विचार (२१५), अमनुजमहाशय विचार (२०२), विविध अलङ्कारों में व्यञ्जना के सन्निवेश का उपसंहार (२३३), व्यासमुक्ति पर विचार (२३३), मायालङ्कार पर विचार (२३४), ध्वनि और अलङ्कार इत्यादि का सारांश (२३८)।

१३—वैश्याकरणों का स्फोट और ध्वनि की सम्मुखता	२४१
१४—ध्वनि के विभिन्न अर्थ और उनके क्षेत्र	२५०
१५—भ्रमवाक्यादियों के निराकरण का उपसंहार	२५६
१६—ध्वनि के प्रमुख दो भेद	२५४
१७—अधिवक्षितवाच्य का उदाहरण	२५७

व्याख्या तागावती सेव चन्द्रिकाच्छावहारिणी ।

श्यामेवाम्मान् (सशाश्व रजयेल्लभ्यलोचनान् ॥

अर्थात् 'तिस प्रकार' अत्रेकल पुनर्लियोवाले नेत्री को अवनक बुद्धिमान् व्यक्ति प्राप्त नहीं करता तबतक वद यत् मुनकेग भा कि यदा प्रकाश विद्यमान है उम प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता उमा प्रकार अवनक महदप तागावती व्याख्या के साथ लोचन वा अध्ययन नहीं करता तबतक वद शास्त्रज्ञ होने हुवे भा ध्वन्वालाक वा आशय ठीक रूप म समझ नहीं सकता । यद तागावती व्याख्या चन्द्रिका नामक टीका के सौन्दर्य वा अपदूरण करनेवाली है । तिन लार्ग न लोचन टीका प्राप्त कर ली है उ-हैं तथा हमें यह पेंसी हो आनन्द देने-वाणी हो जैसे चादनी की मुन्दरता से शोभित होनेवाला अथवा चादनी के सौन्दर्य को परामून करनेवालों को श्यामा (पीढगी) आंगुशालों को आनन्द देती है अपवा शारावती । नक्षत्रों से भरी हुई) चन्द्रिका का चमक से शून्य श्यामा (काली राव) सङ्घर्षों को आनन्द देती है ।

अन में मै बा० नगेन्द्र जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत रचना सम्भव हो सकी है ।

वसन्त पञ्चमी

संवत् २०१९

रामसागर त्रिपाठी

तारावती

लित किया करती है। इसी लिये दुर्गासप्तशती में अन्तःकरण में विद्यमान अनेक मातृ के रूप में उसके दर्शन किये गये हैं; शान तो उस सत्ता का प्रत्यक्ष रूप है। 'सत्य ज्ञानमनन ब्रह्म'। यही कारण है कि ऋषियों की कृति वेदमन्त्र उस महातत्त्व का निरञ्जसित माने गये। वेदलक्षणा ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण में तो साधारण श्लोक की भी ईश्वरीय निरञ्जसित ही माना गया है—'अस्य महतो मृतस्य निरञ्जसितमेतद् यदुभेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वोऽङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद् श्लोका सूत्राभ्यनुव्याख्यानानि, अग्न्यैवेतानि सर्वाणि निरञ्जसितानि'। अत एव यह स्वाभाविक ही है कि प्रशंसा जैसी महत्त्वपूर्ण कार्य में उस महाशक्ति का अनुशीलन किया जावे। इसी उद्देश्य से ग्रन्थ के प्रारम्भ में महत्त्वाचरण करने की परिपाटी प्रतिष्ठित है। महत्त्वाचरण के अनेक रूप हैं—(१) उस महाशक्ति को प्रणतिपूर्वक सदायता के लिये प्रेरित करना। इसे इष्टदेवतानमस्कारात्मक महत्त्व कहते हैं। (२) परिशीलकों की महत्त्वाचारा करते हुए उनसे अपनी एकता स्थापित करना। इसे आशीर्वादात्मक महत्त्व कहते हैं। (३) पराशक्तिमयन्त्र किसी वस्तु का निर्देश कर परमात्मा को ध्यानरता की ओर ध्यान दिखाना। यह वस्तुनिर्देशात्मक महत्त्व कहा जाता है। (४) प्राचीन आचार्य 'वृद्धि' 'निर्द्ध' इत्यादि मातृशक्ति शब्दों के प्रयोगमात्र को ही महत्त्वाचरण मानते थे (५) कहीं कहीं केवल 'अयं' शब्द का प्रयोग ही महत्त्वाचरणपरक माना गया है। महत्त्वाचरण के प्रयोजन के विषय में मतभेद हैं। कुछ लोग महत्त्वाचरण का उद्देश्य विघ्नविनाश मानते हैं, दूसरे लोग अन्यतमार्थ को ही महत्त्वाचरण के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। मत्तिय आचार्य विघ्नविनाशपूर्वक प्रयोजनार्थ को महत्त्वाचरण का प्रयोजन मानकर दोनों मतों का सामन्वय स्थापित करते हैं। महत्त्वाचरण अपने महत्त्व के लिये भी किया जाता है और शिष्यों को महत्त्वाचरण की परम्परा बनाये रखने का उपदेश देने के लिये भी। जिन ग्रन्थों में महत्त्वाचरण होते हुये भी अन्यतमार्थ नहीं होती वनमें विघ्नवादुःख की कल्पना कर ली जाती है और जिन नात्मिकों के ग्रन्थों में महत्त्वाचरण न होते हुए भी प्रयोजनार्थ देखी जाती हैं वनमें अमान्तरिय महत्त्वाचरण की कल्पना कर आरिद्रता का निवारण किया जाता है।

आचार्य भी अभितरपुत्र 'वाप्यलोक' ग्रन्थ की 'लोचन' नामक व्याख्या करने के मन्त्रस्य से ऐसे इष्टदेवता का स्थापन कर रहे हैं जिसका स्मरण अन्य के विषय के अनुकूल है :—

'मगवती सरावती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। यह सरावती का तत्त्व ऐसे शान्ततर निद्रा की रचना करता है जिसकी सुखता ब्रह्मा की वा बनाया हुआ यह इन्द्रयमान जगत् कभी नहीं कर सकता। इस वाप्यजगत् की सभी वास्तु अपूर्ण होती है। ब्रह्मा का बनाया हुआ जगत् नियमों से अपरक तथा परकता होता है, अर्थात् वाप्यजगत् सर्वत्र स्वतन्त्र तथा नियमों से सर्वथा विनिर्मुक्त होता है इन्द्रय जगत् में रात्रि में सुषु और दिन में जागृत प्रकृत नहीं हो सकने जब कि वाप्यजगत् में रात्रि का प्रकाश सुषु तथा एतरी का सुखचन्द्र रात्रि दिन एक ही प्रकृत रहता है। वाप्यजगत् के लिये ये नियम सर्वथा अर्थात्वाच है। ब्रह्मा की सृष्टि कर्म की सृष्टि का सत्य अनुकरण करने की चेष्टा करती है,

विषय-सूची

१—मङ्गलाचरण

१

मङ्गलाचरण की उपयोगिता (१), उसके प्रकार (२), लोचन के मङ्गलाचरण की व्याख्या और उसमें लोक तथा काव्य के वैभवं का निर्देश (२), लोचनकार का स्वपरिचय (३), आठोकरकार के मङ्गलाचरण पर विचार (५), आठोकरकार के मङ्गलाचरण में तीनों प्रकार की ध्वनियों का अध्ययन (६) ।

२—ग्रन्थ का अनुबन्ध चतुष्टय और ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ

११

ग्रन्थ का अनुबन्ध चतुष्टय (११), ध्वनिकार के व्यक्तित्व पर विचार (१२), काव्यशास्त्रीय प्राक्तन सम्प्रदायों में ध्वनि के मूठ की खोज (१३), ध्वनि की काव्यात्मता तथा तद्विषयक बादविवाद (१६), 'ध्वनिरिति' में इति शब्द के अन्वय पर विचार (१७), प्रथम कारिका का संश्लिप्त पदरूप (२०), अभाववादविषयक सम्भावना का अर्थ (२२), विरोधी पत्रों के तीन वर्ग (२४), अभाववाद के तीन विकल्प (२५), प्रथम अभाव विकल्प गुप्तालङ्काराव्यतिरिक्तत्व का निरूपण (२६), द्वितीय अभावविकल्प प्रवादमात्रत्व का निरूपण (३५), तृतीय अभाव-विकल्प गुप्तालङ्कारान्तर्भाव का निरूपण (३६), द्वितीय अभावविकल्प प्रवादमात्रत्व का निरूपण (३८), तृतीय अभावविकल्प गुप्तालङ्कारान्तर्भाव का निरूपण (३९), अभावविकल्पों का वृत्तसंहार (४२), मञ्जिवादोपस का निरूपण (४५), अशक्यवक्तव्यतावादीपत्र (५३) विरोधी पत्रों का वृत्तसंहार (५४), विरोधी पत्रों पर सश्लिष्टकृतानिर्देश (५४), रचना प्रयोजन का वृत्तसंहार (५७), आनन्दशब्द के विभिन्न अर्थ, रसपरता, प्रयोजन परता, व्यक्तिकारता (५६) ।

३—ध्वनिसिद्धांश की भूमिका

६३

काव्यात्मभूत अर्थ के दो रूप वाच्य और प्रतीयमान (६३), प्राक्तन आचार्यों द्वारा किये हुये वाच्य विवेचन का निर्देश (६८), प्रतीयमान अर्थ की वाच्यव्यतिरिक्तता (७०), प्रतीयमान अर्थ की निरूपता (७३), रससम्पन्नता की मुख्यता (७४), वस्तुसम्पन्नता का वाच्य से भेद (७७), 'अप्र धार्मिक ?' का संश्लिप्त पदरूप (७६), तात्पर्यवृत्ति में व्यञ्जना के समावेश का निराकरण (७९), अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता (८१), लक्षणा में व्यञ्जना की आवश्यकता (८६), अन्वितार्थमिथानवाद और व्यञ्जना वृत्ति (९२) 'वत्पर. शब्द-स शब्दार्थ' और 'सोऽवमिथोरिक दोषदीर्घतरो व्यापार.' इन वाक्यों पर विचार (९४), काव्यप्रधानकार के अनुसार ध्वनि की सिद्धि (९७), काव्यप्रधानकार के अनुसार लक्षणा

ध्वन्यालोक

स्वेच्छाक्रेसरिण स्वच्छस्वच्छायावासितेन्द्रव ।
त्रावन्तां यो मधुरिपो प्रपन्नार्तिच्छिदो नखा ॥

[(अनु०) स्वेच्छा मे ही केमरी का रूप धारण करने वाले तथा मधु (दानव)—
मयन भगवान् विष्णु के मुख जो कि अपनी निमल छाया (कान्ति) से इन्द्र को आवास में
हालने वाले हैं तथा शरणागतों के दुःख और दैन्य को वाटने वाले हैं, आप सब व्याख्याताओं
और अज्ञानों की रक्षा करें ।]

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातध्वन्यानाम्
विघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तय समुचिनाशी प्ररूपनद्वारेण परमेश्वर
साम्मुख्य करोति वृत्तिकार — स्वेच्छेति ।

[वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) स्वयं निरन्तर परमेश्वर नमस्कार का सम्पत्ति से कृतार्थ हुआ
भी व्याख्याताओं तथा श्रोताओं के अभीष्ट व्याख्याश्रवण का सुनने की पूर्ति के लिये समुचित
आगीर्षाद प्रकट करने के द्वारा परमेश्वर के साम्मुख्य (का सम्पादन) कर रहा है—
स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ।]

तरावन्ती

करता रहा है और गुरु के चरणचमलों के निरन्तर बैठकर मैंने समस्त शास्त्रों का मलीमति अध्ययन
किया है ।) इस प्रकार सभी शास्त्र मरे हृदय में विद्यमान हो गये हैं और ये शास्त्र श्रोताओं के
हृदयों के लिये खिचकर तथा आनन्ददायक हैं । (जिस प्रकार चमलों में किसी वस्तु को बसा
देने से उसमें गुणध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार गुरु के चरणचमलों में लोचनकार का शास्त्र
वासित होकर श्रवण को खिचने लगा है ।) भगवान् अभिनवगुप्तवाद हैं । (कहा जाता
है कि शास्त्रों में अधिक प्रचण्ड होने के कारण इनसे इनके सहस्रांशों बरते गये और इनका
नाम बाल-वन्धु मुबहम रख दिया था । इन्होंने उन तरावन्ती को नयनपूर्वक स्वेच्छा कर
लिया और मुबहम का पर्वण गुप्तवाद अपने नाम के साथ जोड़ लिया ।) मैं अपने 'लोचन'
की नियोजना के द्वारा वैश्वश्रुति अनुरणित कण्ठ वृत्त नान्यालोक का श्लोक के सामने श्रुत
कर रहा हूँ । (लोचननियोजना' के कई अर्थ हो सकते हैं—(१) मन लगाकर (२)
ज्ञान के योग के द्वारा (३) लाचन व्याख्या के द्वारा (४) नेत्र गणा कर । जैसे किसी
वस्तु को नेत्र गणा कर देना जाता है वैसे ही लोचन का समुचित रूप में व्याख्यात कर श्रुत
कर रहा हूँ । 'अनुपान' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार पशु बरने के बाद उससे एक
प्रतिबन्धन निकलती है और वह विन्दुल पथ्यात्म के समान ही होती है वही प्रकार मैं को
कुछ बर्णना बद्ध सब ध्वन्यालोक की प्रतिबन्धनाश हागा । मैं अपनी ओर से कुछ नहीं बर्णना ।
'वैश्वश्रुति' का अर्थ यह है कि ध्वन्यालोक की पूरी व्याख्या का सम्भव नहीं है । यदि मैं
सबका कुछ भाग ही श्रुत कर सका तो मैं अपने को कन्ध समझूँगा । (आनन्दवर्धन ने ध्वनि

१८—विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण	२५९
१९—विवक्षितान्य पर वाच्य में लक्षणा की सम्भावना पर विचार	२६०
२०—मन्त्रि और घनि काविभेद	२६२

लक्षणा और घनि पर्याय नहीं हो सकते (२६४), लक्षणा घनि का लक्षण नहीं हो सकती, इस विषय पर विचार (२६५), लक्षणा के लक्षण न हो सकने का उदाहरण (२६६), लक्षण की व्याप्ति (२६७), 'अभिप्रेयाविनामूत्रप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' पर विचार तथा रस प्रसंग में रस प्रतीति पर विचार (२६८), लक्षणा सभी घनि भेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती (२६९)।

२१—अशक्यवत्त्वता वादियों के मत का निराकरण	२७०
२२—लोचन में द्योत का उपसंहार	२७१



लोचनम्

चरणम्, सच्च तत्प्रविद्धिद्विविध्नापसरणादिना भवतीति इत्यद्य प्राणं विवक्षितम्, नित्ययोगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगिवेनोष्माहप्रतीतेर्वाररसो ध्वन्यते । नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामभ्यतिरिक्तत्वेन करणस्वात् सातिशयशक्तता कर्तृत्वंन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य स्थिति रिक्रमणोपेक्षाविरह, भधुरिपोरिस्थनेन तस्य सदैव जगत्प्रासापसारणोद्यम अपने विरोधी विषय इत्यादि के असाधारण इत्यादि के द्वारा होता है अतः इतना ही प्राण कहना यहाँ पर अभीष्ट है । नित्य उद्योग में लगे हुए भगवान् के सम्मोह रहित अध्यवसाय में लगे रहने के कारण उरसाह की मनीषित होने से बीर रस ध्वनित होता है । नखों के महार का उपकरण होने से और महार द्वारा रसा किये जाने में नखों के मित्र न होने से कारण होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा (अर्थात् महार में नख करण होते हैं तथापि कर्ता में प्रयोग किया गया है इसलिए) सातिशयशक्तिव की सूचना मिलती है और ध्वनित होता है भगवान् का अतिरिक्त करण को अपेक्षा का अभाव । 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा (उन भगवान्) का सदैव ससार के आसापसारण का उद्यम कहा गया है । किम प्रकार के

तारावर्ती

। है जब कि आश्रयक उपकरण प्रदान कर लिये जावे । यही प्राण का भव्य है । भगवान् विष्णु जिस प्रकार निरन्तर ही नृसिंह मधु इत्यादि दानवों का महार का ससार के प्राण में लगे रहते हैं उसी प्रकार मत्स्य के मार्ग में आने वाले तिनो का ससार भी निरन्तर ही किया करते हैं । भगवान् अपनी रस क्रिया में न कभी सम्पादन में पड़ते हैं और न उनके अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी आती है । इस प्रकार भगवान् का उरसाह स्पष्ट होता है । शास्त्र का नियम है कि विमाव इत्यादि रस के चारों अङ्गों में यदि एक भी व्यक्त हो जावे तो शीघ्र ही दूसरे अङ्गों का भी आश्रय कर लिया जाता है । यहाँ पर बीर रस के स्वाधी भाव उरसाह की ध्वनना हुई है । अतः उसके आत्मभवेन मधु इत्यादि दानव, उनके साहस शीघ्र इत्यादि उदात्त उनकी कबडेलना इत्यादि अनुमाव और गर्भ इत्यादि सघनारी भावों का भी शीघ्र ही समावेश हो जाता है और इनसे पुत्र होकर उरसाह स्वाधी भाव से पानकरस प्राय से बीर रस की ध्वनि होती है ।

मत्स्य से महार किया जाता है और महार के द्वारा रसा को जानी है । इस महार रसायन क्रिया में नख शरीरान्तरता करण है । किन्तु उनका प्रयोग कर्ता कारण में किया गया है । इस प्रकार इनकी शक्ति की अधिकता ध्वनित होती है । 'भगवान् विष्णु नखों से अर्क' की शक्ति का उन्मूलन नहीं करते अर्थात् नख रस ही मत्स्य के दुर्गा को काट सकते हैं । यही नखों की सातिशय शक्ति है । यहाँ पर कारण के द्वारा ध्वनित होती है । कारण का महार के हाव है, एक आत्मन्तर दूसरा बाध । अर्थात् महारण क्रिया में उरसाह इत्यादि बाध करण है और हाव इत्यादि आत्मन्तर कारण है । अनुभव हमसे यह ध्वनि और निकलती है

॥ श्रीमत्सत्ये नमः ॥

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

(लोचन तारावती सहितः)

प्रथम उद्योतः

(लोचनम्)

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणबलां,
जगद्ग्रावप्रत्य निजरसभारस्सारयति च ।
प्रमात्प्रत्योपाख्याप्रमरसुमगं मासयति, तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयार्ण्यं विजयते ॥

[जो (सरस्वती का तत्त्व) कारणरस के विना (हो) अपूर्वं वस्तु को रचना और विस्तार बिना करता है, पाषाणवत् नीरस जगद् को अपने रस को अधिकता में सारमय बना देता है; क्रमशः प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से उस जगद् को रमणाय बना देता है वह कवियों और सहृदयों में मञ्जोभाति पूर्ण रूप से स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजय हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्तमान है ॥१॥]

तारावती

भानन्दाद्वैतमभ्यग्रं दिशन्मार्गमनश्चरम् ।

प्रथयन्तो जगन्मुक्त भारती सा धियेऽस्तु नः ॥ १ ॥

सर्यशास्त्रप्रदं मद्रं नत्वा धीचन्द्रशेखरम् ।

ध्वन्यालोकावलोक्यार्थं कुमंस्तारावतीमिमाम् ॥ २ ॥

नैव तारावती यावल्लोचने लभते मुधीः ।

मालोकं तावदाहितं धीक्षितुं ध्रुतवानपि ॥ ३ ॥

ध्यायत्या तारावतीं सेयं चन्द्रिकाच्छायहारिणी ।

ध्यामेयास्मान् रसशांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान् ॥ ४ ॥

परोक्षसत्ता की अनुभूति और अन्तस्तत्त्व की सम्पन्न शक्तता भारतीय विचारसाधना के मेरुदण्ड हैं। इत्यन्त जगद् के पीछे गंती शक्ति अन्तर्निहित है जो धेनुन विरव की समस्त गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है और उसी की प्रेरणामयी सदिच्छा मानवजीवन को सद्भा-

१. म्रिया चन्द्रन्ति, धियं चन्द्रयन्ति वेति धीचन्द्राः । चरेत् । तेषु श्लोकान् विष्णुं शोभा-
सम्पन्नं मगन्तं दिवं तदाख्यं गुहं च ।

लोचनम्

विनाशयद्भिरातिरेकोच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थाया परमकार-
णिकबहुत्वम् । किञ्च ते नताः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्यन् । स्वच्छमृदु
प्रभृतयो हि सुरयतया भावदृत्तय एव, स्वच्छायया च वज्रहृत्वरूपयाऽऽहृत्याऽऽ-
यामित खेदित इन्दुर्यै, भगवांशानिमूर्तेन ध्वनिना बालचन्द्राव ध्वन्यते ।

उपपन्न करने के कारण आठ का साक्षात् मूर्त्तरूप ही है, उसका नष्ट करने वाले नाशकों से
जाति ही उर्ध्व छत्र हो गई इस प्रकार उस छत्रमा में भी परमेश्वर को परम बालचन्द्राव
बतलाई गई है । और भी वे नामून वगैरह स अर्थात् स्वच्छतागुण से अथवा निर्मलता से—
शोक स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप में भाववाचक (स्वच्छता इत्यादि धर्म के
वाचक) ही होते हैं—उदा अपनी छाया बक तथा हृत् आदि के द्वारा अर्थात्
कर दिया है अर्थात् छेद में टाल दिया है जिहोने, यही पर अर्थात् चन्द्राव ध्वनि से
बालचन्द्रन ध्वनित हुआ है, अर्थात् करने से उन नरों के निकट चन्द्र को कान्तिहेता

तारावर्ती

की मूर्ति ही है ।) यही लक्षण वा प्रयोजन है । हिरण्यकशिपु के मार जाने से शरणागत
की पीडा भी नष्ट हो जाती है । इस प्रकार यही पर अर्थात् स्वच्छतागुण वाच्यध्वनि है ।
साक्षात् यह है कि हिरण्यकशिपु तीनों लक्षणों का कष्टक है और सत्कार का उपाय करने
वाला है । अर्थात् स्वभाव भगवान् के अधीन रहने वाले ध्वनियों का पीडा देने के कारण
यह बालचन्द्र में पीडा की मूर्ति है । उसका नष्ट कर भगवान् ने नरों पीडा नष्ट कर दी ।
उस अवस्था में मा भगवान् को परमकारणकता ध्येय होती है ।

[आद्यस हाना चरनधर्म है । अर्थात् आद्यस का हा सत्कारा इन्दु में सम्भव नहीं ।
इस प्रकार ता परात्पुन च होने के कारण अर्थात् आद्यस का बाध हा जाता है और आद्यस को
लक्षणा जन्मदर्श में हा जाती है । भगवान् के नष्ट होने स्वच्छ तथा होने मनाहर है कि
उनके सामने चन्द्र की शोभा भी पीडा पर जाती है । यही हमका उपाय है । लक्षणा का
प्रयोजन है अर्थात् आद्यस की अर्थात् ध्वनि को कि ध्वन्यावृत्ति से प्राप्त होता है । आद्यस के
अर्थ का सदा परिभाषा हो जाता है । इस प्रकार यही पर अर्थात् तिरभृत्त वाच्य अर्थात्
वाच्यध्वनि है ।]

यही पर स्वच्छता वा अर्थ है स्वच्छता । शोक स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप में
धर्मवाचक ही हुआ करते हैं । एक ओर नरों में स्वच्छता का गुण विद्यमान है और दूसरी
ओर उनकी छाया (अर्थात्) बक तथा हृत् आदि के कारण चन्द्र में आद्यस का अर्थात्
जाती है । नरों को शोभा के कारण चन्द्र के अर्थात् होने से अर्थात् ध्वनि के द्वारा ध्वनित
हुआ है कि यही पर स्वच्छता (शोभा के कारण) से सम्भव है । अर्थात् होने से
नरों के न जाने बालचन्द्र को अर्थात् तथा अर्थात् ध्वनित होती है । नरों का अर्थात्

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाद्भक्तकृताधिवासद्वयद्युतोऽभिनवगुप्तपदामिधोऽहम् ।

यत्किञ्चिद्व्यनुरणन् स्फुरयामि काव्यालोक स्वलोचननिर्णयजननया जनस्य ॥

[भट्टेन्दुराज के चरणचरणों में जिसने अधिवास किया है । (और इसी कारण) जिसका शास्त्र द्वय हो गया है । इस प्रकार का अभिनवगुप्तवाद की अभिधा (नाम) वाला मैं अपने छोचन की निरावना के द्वारा अत्यन्त स्वल्प भी अनुरणित (प्रतिध्वनित) करते हुये लोगों के सामने काव्यालोक (नामक ग्रन्थ) को स्फुट कर रहा हूँ ।]

सारावती

किन्तु वहाँ एक कभी नहीं पहुँच सकती । ब्रह्मा की सृष्टि में न राम जैसे आदर्श पुरुष होते हैं और न सीता जैसा परिप्रायण महिलाएँ । यही काव्यसृष्टि की अपूर्वता है ।) भारती काव्य जगत् के समस्त पदार्थों को विना ही किसी कारण के अंग के उत्पन्न करता है । (इन्द्रिय जगत् में जिसने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें समवाय असमवाय और निर्मित कारणों का सहयोग और सहकार अपेक्षित होता है । किन्तु काव्य जगत् में कमल (नाबिका के मुख कमल) की उपस्थिति विना ही फूल के हा सकती है । भारती केवल नवीन जगत् की रचना ही नहीं करती बल्कि तु इन्द्रिय जगत् के विभिन्न पदार्थों को भी आनमान् करता है ।) जैसे ठा सत्तार पाषाण कत् नीरस है किन्तु जब कवि उममें अपना रस भर देता है तब वे ही नीरस और निस्सार पदार्थ सरस तथा सारवान् प्रतीत होने लगते हैं । (विभाव इत्यादि के रूप में काव्यजगत् में सन्निविष्ट होकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु महत्त्वपूर्ण हो जाती है और नीरस से नीरस वस्तु सरस बन जाती है ।) इस सारसती-तत्त्व के दो भाग हैं एक प्रत्या अर्थात् कविमनिमा और दूसरा उदाहृता अर्थात् वर्णन करने का शक्ति । (इन्हें ही हम आधुनिक भाषा में अनुमूर्ति और अभिध्वक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं ।) पहले प्रत्या और फिर उदाहृता इस क्रम से जब सारसती के तत्त्व का प्रसार होता है तब काव्यजगत् बड़ा ही मनोरम हो जाता है और उससे सारा काव्यजगत् जगमग उठता है । इस तत्त्व के दो छोर हैं एक है कवि और दूसरा सहृदय । (कवि का काम है निर्माण करना और सहृदय का काम है विचार करना ।) इन्हीं दो में उसकी प्रविष्टा होती है । इस प्रकार सारसती-तत्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हो रहा है । वही पर सारसती-तत्त्व का अर्थ धनिकाव्य भा हो सकता है । यह तत्त्व भी वैदिक प्रकाशनात्मक होने के कारण अमर्कणित वा प्रकाशन करता है और प्रकाशित को मनोरम बनाता है । अतः यह आत्मारूप है । विजया बहने से नमस्कार शक्त होता है । अपूर्व वस्तु निर्माण में बनना तत्त्व की अभिध्वक्ति होती है और प्रायः प्रत्येक शब्द के सामय बनाने में विम्वहार का साम्य ही विधा वा मरुता है । इस प्रकार महत्त्वानरण में ही प्रथम का प्रविष्टय विषय भी बनता दिखा गया है ।

अब छोचनकर अन्ता परिचय दे रहा है—' मैंने भट्टेन्दुराज नामक अपने गुरु के चरण कमलों के निरुद्ध निराम किया है । (अर्थात् मैं निरन्तर अपने गुरु के चरणकमलों की सुश्रूषा

भारावती

बालचन्द्र निरन्तर आवास का अनुभव करता है। इस प्रकार यह उभेगा भी हो गई। ये नख नहीं हैं किन्तु १० बालचन्द्र हैं इस अपहनुति की भी ध्वजना होती है (यहाँ पर नख नहीं किन्तु बालचन्द्र इस अपहनुति के कारण माने चन्द्र की वगैरे होता है यह उभेगा हाती है। अतएव इन दोनों का अन्तर्निर्माण सद्गुरु है। इन दोनों में एक अन्तर्निर्माण सद्गुरु नहीं हो सकता क्योंकि दोनों अलग-अलग एक दूसरे के निरपेक्ष नहीं हैं। यहाँ पर चन्द्र में आवास का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की ध्वजना की गई है। अतएव सम्बन्ध-व्यतिरिक्त अलग-अलग भी यहाँ पर हो सकता है) इस प्रकार हमारे गुरु (सम्भवतः भट्ट दुराज) ने इस आकाश में वस्तु अलग-अलग आर रस तीनों ध्वनियों की व्याख्या की है।

[लाक्षणिकता ने यहाँ पर उभेगा तथा अपहनुति ये भी अलग-अलग व्याख्या की है। इस पर द्वाधितिकार ने लिखा है— कुछ लोगों ने यह पर उभेगा और अपहनुति की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते क्योंकि हमें इन महानुभावों के महत्त्व का ध्यान रहना ही है। ही श्रुति का वा सद्गुरु है कि प्रतीति-व्यतिरिक्त उभेगा और अपहनुति भी यहाँ पर स्वोक्त की वा सद्गुरु है यहाँ पर उभेगा की सामग्री प्रकृत-धर्मिक अमृत सम्भावना तथा अपहनुति की सामग्री प्रकृत के निरकरण के साथ अपहनुति की स्थापना विद्यमान हो। सद्गुरु की वा श्रुति का समझना ही चाहिये कि अमृत-ध्वजना विच्छिन्न का नाम देने वाली नहीं होती। इस पर भट्ट निवेदन है कि यहाँ पर उभेगा और अपहनुति वाच्य नहीं है किन्तु ध्वजना है। आवासित गुरु है। दोनों सामग्री का जुग देने के लिये पयात है। चन्द्र में आवासित धर्म का सम्भावना के कारण उभेगा का बीज तो विद्यमान है ही— आवासित होने का कारण यह है कि चन्द्र यह सम्भवता है कि अब लग नहीं को बालचन्द्र का करने मुझ नहीं। यहाँ अपहनुति का बीज है इनमें वही वगैरे ध्वजना नहीं।

यहाँ पर ध्वजना की मगरी-ध्वजना रति अन्तर्निर्माण और अन्तर्निर्माण की रस उभेगा ध्वजना है। इस प्रकार वीर रस अपहनुति गुणानुत्त का उभेगा रस उभेगा है। बाह्यप्रियाकार ने लिखा है कि यहाँ पर वगैरे ध्वजना अन्तर्निर्माण है वगैरे ध्वजना मगरी से सम्भवता का प्राप्त है ही मुझ है। उसने ध्वजना की वा श्रुति का उभेगा रस उभेगा की मगरी-ध्वजना रति ध्वजना नहीं होती। ध्वजना का मगरी-ध्वजना रस रस से सिद्ध है कि उसने ध्वजना रस से पहले मगरी-ध्वजना नहीं किया और उभेगा ध्वजना मगरी की रसना कर दो जो कि मगरी-ध्वजना से ही सम्भव की। इस पर भट्ट निवेदन यह है कि एक ही यह बात सिद्ध नहीं है कि ध्वजना तथा अन्तर्निर्माण दोनों एक ध्वजना हैं। दूसरी बात यह है कि ध्वजना में मगरी-ध्वजना ध्वजना ध्वजना ध्वजना से ही किया जाता है जिससे उसकी परमता बनी रहे और ध्वजना को उभेगा उभेगा प्राप्त हो जाये। जिन ध्वजना में मगरी-ध्वजना नहीं होता है उनमें भी ध्वजना से अन्तर्निर्माण मगरी-ध्वजना की ध्वजना की ही जाती है। अतएव ध्वजना के ध्वजना में मगरी-ध्वजना न जाने से मगरी-ध्वजना का सम्भव सिद्ध नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ध्वजना

लोचनम्

(४) मधुरिपोर्नवा वो युष्मान् व्याख्यातृथोत् स्यान्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वान्, सम्बोधनसारा हि युष्मदर्धं, प्राण चामीष्टलाम प्रति सहायका

[मधुरिपु के नख तुम सब ल गो की अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि सम्बोधन के योग्य वही हैं। और निरुप-देह युष्मद् (व) के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। प्राण का अर्थ है अमीष्ट लाम के प्रति सहायक का आचरण और वह

तारावती

की टीका का नाम 'का वालोक' ही रखा जा। बाद में ध्वनि का कारिकाओं को मिलाकर उसे ध्वन्यलोक कहा जाने लगा।)

उत्तम पुरुष के क्रिया में प्रयोग करने से ही 'अहम्' का अर्थ आ सकता है। फिर भी 'अहम्' का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे ध्वनित होता है कि—'मैं अपने म'द पाणिप्य क कारण इस प्रय की व्याख्या करने का सबका अधिकारी हूँ।' 'सुट कर रहा हूँ' कहने का आशय यह है कि टीकाकारों ने आज तक हम प्रय की यथाश्रुत व्याख्या हा की है इसे रण नहीं कर पाये। यह कार्य मैं करूँगा।

अब आलावकार के मद्गलाचरण पर विचार किया जा रहा है। मद्गलाचरण पर विचार दो दृष्टिकोणों से हो सकता है—प्रयकार के दृष्टिकोण से तथा व्याख्याताओं और श्रोताओं के दृष्टिकोण से। (प्रयकार स्वयं तो बिना वाच में रुके द्रुये निरन्तर ही परमात्मा का नमस्कार करते रहते हैं, उस नमस्कार की सम्पत्ति से व रूतार्थ हा गये हैं। (अतएव अन्यकार को आने दृष्टिकोण से मद्गलाचरण की कद आवश्यकता नहीं।) तथापि व्याख्याताओं और श्रोताओं का आगीर्वाद श्मोत्रिये द रह है कि व्याख्याकार तो विमरहित होकर अमीष्ट व्याख्या करने का फल प्राप्त कर सकें और श्रोता लग विमरहित होकर सुनने का फल प्राप्त कर सकें। इसीलिये उचित आगीर्वाद को प्ररु करते द्रुये अन्यकार ने इस मद्गलाचरण में व्याख्याताओं और श्रोताओं के लिये परमशर की अनुकूलता सम्पादित की है।

'मधुरिपो मगवान् विष्णु के नख तुम्हारी सबकी अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें। (यहाँ पर 'तुम्हारी' शब्द का अर्थ व्याख्याता और श्रोता' श्मोत्रिये लिया गया है कि प्रयकार ने प्रय उर्ही को सम्बोधित करके ता बनाया है।) क्योंकि वे हा सम्बोधन के योग्य हैं। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि मद्गलाचरण में सम्बोधन का प्रयोग यहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि) 'व' शब्द युष्मद् शब्द का रूप है। युष्मद् के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। जिसको सम्बोधित नहीं किया जाता उसके लिये युष्मद् शब्द का प्रयोग हा ही नहीं सकता।

रण करने का आशय यह है कि वरुन की निद्रि के लिये सहायता की जाये। सहायता की जा सकती है अमीष्ट लाम के विरोधी विजो के दूर करने इत्यादि के द्वारा। यह उभासम्भव

तारावती

प्रकार वह स्वच्छाया का विगण हो जावेगा। यद्यपि अभिनवगुप्त की व्याख्या में धर्मिरक को धर्मरक मानने की कल्पना करनी पड़ती है तथापि द्वाद मानने में निर्मलता गुण का प्रयास विगण रूप से हो जाता है। यह आगोवांगमक मद्राचारण है और व्याख्याताओं तथा भाषाओं का भ्रमीष्टव्याख्याश्रयणकलमति के लिये आगोवांद दिया गया है। इससे आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयत्नकार का निरन्तर भवत-पूतन अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर कुछ लोगों का मत था कि इस प्रकार मानना ठीक नहीं कि एक ही वह अनिश्चय है, दूसरे उसमें प्रयत्नकार की एतत् परमात्मिक सिद्ध नहीं होती। एक बात यह भी है कि यहाँ पर अभिधावृत्ति से आगोवांगमक मद्राचारण है और व्यंग्यवृत्ति से इष्टदेवतानमस्कारामक मद्राच भी कहा जा सकता है]

अब प्रधानतया वन व शत्रु का स्वरूप बतलावे हुये प्रयोजन रूप में प्रयोजन के प्रयोजन और हमसे सम्बन्धित प्रयोजन का अवसाधन से प्रयत्न करते हुये इन मयम गुण का बयन किया जा रहा है।

[प्रथम का विषय है ध्वनि का स्वरूप। प्रयोजन है सद्भावों को ध्वनि के स्वरूप का एतत् बताना। उक्त प्रयोजन का प्रयोजन है सद्भावों का प्रत्यक्ष। इस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या कर्तव्य है इस भाव्य व अर्थ के द्वारा प्रयत्न का विषय बतलाया गया है। सद्भाव मनोभाव के लिये इस वन के भाग के द्वारा प्रयोजन का प्रयोजन बतलाया गया है। स्वरूप एतत्प्रयोजन का अयसामर्थ्य से आगोवांद किया जाता है। इस प्रकार वास्तव्य होने के कारण विषय का एतत्प्रयोजन है एतत्प्रयोजन होने के कारण प्रयोजनप्रयोजन मति और आश्लेष्य होने के कारण प्रयोजनप्रयोजन दाता ही प्रयोजन है। सद्भावजन इस निरर्थक अधिकारी है और विद्वानों के विषय प्रयोजन से सम्बन्ध है। 'कुपे' (विद्वानों के द्वारा) वन में बहुरूपन के प्रयोजन से व्यक्त होता है कि वाच्य का आत्मा ध्वनि है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक न नर्त किन्तु अनेक विद्वानों ने किया है। अनेक विद्वान् जिस सिद्धान्त का निरन्तर प्रतिपादन करते हैं उसका न ता प्रतिपक्ष ही सम्भव है और न उसकी उल्लेख हो ही जा सकता है। अतएव उसका निरूपण निराला आवश्यक है। यद्यपि प्रयोजन रचना का अनुभव प्रयोजन है

[ध्वनिप्रकार का ध्वनि व सवसा रहस्य । ध्वनि का तथा काय महोत्सव इहे वृत्तिप्रकार आनन्दवर्धन से वृत्त मानते हैं और हा० द्वाद्वान ने इहे आनन्दवर्धन से अभिन्न माना है। सद्भाव साहित्य जगत् में अपना ही डिग्रा हुई प्रत्यक्ष पर स्वयं वृत्ति अथवा टीका डिग्रे की एक वृत्ति रही है। किन्तु प्रयोजन प्रकरण पर विचार करने से सात होता है कि आनन्द वर्धन ही ध्वनिप्रकार नहीं है। आनन्दवर्धन ने विपरीत समय से ध्वनि आनी हुई ध्वनिमयिनी वृत्तिप्रकार की व्याख्या मय्य का है। पदवी वृत्ति पर यह है कि आनन्दवर्धन ने जो मद्राचारण किया है उसपर ध्वनिप्रकार की मय्य संख्या नहीं बड़ी गई है। मय्य संख्या

(लोचनम्)

उक्त । कादृशस्य मधुरिवा ? स्वच्छया कसरिण । स्वच्छया मधुरियो न तु कमपारतन्वय, भाष्यम्यदायच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननाचिततया विधच्छापतिप्रहोचिचादेव स्वाकृतनृसिंहरूपस्यत्वयम् । कादृशा नखा ? प्रपन्नानामार्तिं ये उन्दन्ति, नखानां हि छेदकरत्वमुचितम्, आतं पुनश्छेद्यत्वम् नखान्प्रथमसम्भावनायमपि तदायानां नखानां स्वच्छानिर्माणोचियान् सम्भाव्यत एवति भाव । अथवा त्रिभगकण्ठका हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योक्त्वशकर इति म एव धन्वत प्रपन्नानां भगवदकसरणानां जनानामार्तिकारिवाङ्मूर्तैर्वातिस्त मधुरिषु का ? वा स्वच्छा से हा फसरा बने न कि कमपारतन्व से और नहां दूसरे का इच्छा से अर्पितु विणिष्ट दानव क मरने के योग्य उस प्रकार की इच्छा के ग्रहण करने में उचित होने के कारण नृसिंह रूप का बिहाने स्वयं स्वीकार किया, (यथा पर) यह अर्थ है ।)

[किम प्रकार के नख ? वा कि गरणागतो को दीनता को काट डालते हैं, निस्तदेह नखों का (दूसरी वस्तु का) काट डालना उचित है किन्तु नखों के प्रति दीनता का लक्षण (अर्थात् दीनता का नखों के द्वारा काटा जा सकता) असम्भव है तथापि भगवान् के नागमूर्ते क स्वच्छानिर्माण के आचिन्त्य के कारण सम्भावना वा ही जा सकती है । अथवा दोनों लोको का बन्धक हिरण्यकशिपु विश्व का उक्तेश (उन्नीहन) करनेवाला है अतः वही वस्तुतः गरणागतो अर्थात् एकमात्र भगवान् की शरण में आये दुष्टों के अन्दर भाति तारावती

कि भगवान् का ध्वनिरक्त काण्व की को अर्पणा नहीं । मत्तो के बंध काटने में उनके नख ही पर्याप्त हैं । 'मधुरिषु' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'भगवान्' समार के त्रास का ध्वनित करने में सन् प्रथम गीठ रहते हैं ।'

भगवान् ने नृसिंह रूप न ता कम की परतन्वता से ही धारण किया और न किन्तो दूसरे की इच्छा से । किन्तु देवताओं से भी अल्प महान् शक्तियों के सहर के छिर उपयुक्त नृसिंहरूप को अपनी इच्छा से ही स्वीकार किया । 'इच्छा' शब्द से भगवान् के कमपार तन्व का अभाव ध्वनित होता है और स्व' शब्द से दूसरे की इच्छा का अभाव ध्वनित होता है । ये सब वस्तुध्वनि हैं ।

काटने का कान नख का है ही किन्तु दुष्टों को काट सकना नखों के शिथिल असम्भव है । किन्तु भगवान् ने स्वच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है अतएव सर्वशक्तिमन्त्र होने के कारण नखों का आतिच्छेदन उपयुक्त हो जाता है अथवा नखों का आतिच्छेदन असम्भव है अतः अग्निप्रेषण का बाध हो जाता है और अग्नि शब्द की उगना हिरण्यकशिपु में ही जाती है । इससे यह स्पष्टता निकलती है कि हिरण्यकशिपु वैरीहराजक सभी शक्तियों का सबसे अधिक दुःसायक है । (हिरण्यकशिपु दुःख देने वाला नहीं, किन्तु साक्षात् दुःख

तारावती

जिसके किञ्चित् स्वभाव की बात बह है उसका अनुसन्धान किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से पहले आलोचनाग्रन्थ में तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे—काव्य के क्षेत्र में अलङ्कार तथा रीतिसम्प्रदाय और भाट्ट के क्षेत्र में रससम्प्रदाय।

अलङ्कारसम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ मामह का 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ के व्यवस्थित प्रतिपादन को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह किसी पूर्ववर्तिनी परम्परा पर आधारित है। मामह के मत से काव्यत्व के निमित्त अलङ्कार प्रयोग में एक प्रकार का उक्ति वैविध्य अपेक्षित होता है जिसका सम्पादन कविप्रतिभा से किया जाता है। मामह के मत में उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का माण है और उक्तिवैचित्र्य का माण है वक्रोक्ति। मामह ने कहा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाष्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

अर्थात् काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति को सत्ता पाई जाती है, इस वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ विभाजित किया जाता है। कवि को वक्रोक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के बिना नहीं हो सकता। परवर्ती आचार्यों ने रुद्र के अनुकरण पर पड़ती बुझोला वगैरे एक विशेष प्रकार के अलङ्कार को ही वक्रोक्ति माना और आज के साहित्यशास्त्र में रुद्र को वक्रोक्ति ही माना जाता है। किन्तु मामह का वक्रोक्ति शब्द भिन्न है। वक्रोक्ति को परिभाषा करते हुए मामह ने लिखा है—

वक्राभिर्ध्वजशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलदृष्टि ।

अर्थात् अर्थ और शब्द की विलम्बणता ही मामह के मत में वक्र है। किसी बात को पुनः फिरा कर कहने से विलम्बणता आ जाती है जिसका मामह काव्य का जीवन मानते हैं। रुद्र ही है कि यहाँ पर मामह ध्वनि की सीमा तक पहुँच गये हैं। मामह को यही वक्रोक्ति आगे चलकर बुन्वव व वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तन में कारण हुई और यही ध्वनिसम्प्रदाय की भी रीति बह का सकती है।

अलङ्कार का निरूपण करने वाले दूसरे आचार्य हैं दण्डी। उन्होंने अपने 'काव्यदर्पण' में अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना है। यह अतिशयोक्ति भी शब्दभेद से मामह की वक्रोक्ति ही है। आनन्दवर्धन ने शेषा सर्वत्र वक्रोक्ति' में शेषा का अर्थ किया है यह वह अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का अर्थ किया है 'सामान्य अलङ्कार'। अब मामह और दण्डी दोनों के देखने की रचना की जा सकती है। हम अलङ्कार मामह के समान ही दण्डी से भी ध्वनिभिन्नता का ही अनुसन्धान है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं रुद्र और रुद्रट। रुद्र ने मामह का ही अनुकरण किया है। रुद्र इस सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त आचार्य हैं।

लोचनम्

आयासने तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायात्वप्रतीतिर्ह्यद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते ।
 आयासकारित्वं च नरानां सुप्रसिद्धम् । नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण
 प्रतिपादितम् । किञ्च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चाबलोक्य बालचन्द्रः
 स्वामनि खेदमनुभवति तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽर्मा प्रपञ्चार्तिनिवारण-
 कुशलाः; न स्वहानति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः; किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधा-
 रणवैशद्यहृदाकारयोगान् समस्तजनाभिलषणीयतामाजनमभवम्, अद्य पुनरेव-
 विधा नखाः, दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदनपुशलाश्चेति तानेष लोको
 बालेन्दुयदुमानेन पश्यति, न तु मामिषाकजयन्बालेन्दुरविरतायासमनुभवती-
 वेत्युपेक्षापद्धतिष्वनिरपि, एवं वस्त्रजङ्घाररमभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मिन्-
 गुणमिष्यारव्याया ।'

की प्रतीति तथा अद्भुतवर्तानि ध्वनित होती हैं और नाखूनों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है, और वह आयासकारित्व नखों के नाखूनों का विशेष रूप में प्रतिपादित किया गया है; और भी उनकी स्वच्छता और कुटिलता को देखकर बालचन्द्र अपनी आना में खेद का अनुभव करता है। 'स्वच्छ तथा कुटिल आका' के योग के समान होने पर भी ये नख शरणाग्तों के दुःख निवारण में कुशल हैं, मैं तो नहीं हूँ' यह व्यतिरेकालङ्कार भी यहाँ पर ध्वनित किया गया है। और भी 'मैं पड़े अरेला ही असाधारण निर्मलता तथा हृदय को मिय प्रकार के योग से सभी लोगों की अभिलाषा की योग्यता का पात्र था, फिर आज ये इस प्रकार के बालचन्द्राकार तथा सन्तों के अतिविच्छेदन में कुशल दस नाखून हैं, हमलिये उन्हें ही लोक बालेन्दु से अधिक सम्मान के द्वारा देखेगा, मुझे नहीं' यह सन्तों के बालचन्द्र निरन्तर मानों आयास का अनुभव करता है यह वप्रेक्षा और अद्भुति ध्वनि भी होती है। इस प्रकार, बन्धु, अलङ्कार और रम के भेद से तान प्रकार की ध्वनि को ब्याख्या इस श्लोक में हमारे गुणवनों के द्वारा की गई है।]

नाराचती

प्रसिद्ध हैं। और वह भगवान् के मन में विशेष रूप से दिखलाया गया है। दूसरी बात यह है कि नखों की स्वच्छता तथा कुटिलता देखकर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है कि 'स्वच्छता तथा कुटिलता तो दोनों में समान हैं; परन्तु भगवान् के नख शरणाग्तों की अति के अन्त में समर्थ हैं, मुझे मैं यह शक्ति विद्यमान नहीं है।' इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रना समझता है कि 'अभी तक भरती असाधारण निर्मलता तथा हृदयमहो अद्भुति के योग से समस्त अल्लियों की अभिलाषा का पात्र मैं हो या अब तो इस प्रकार के बालचन्द्राकार १० नाखून विद्यमान हैं और ये सन्तों को नष्ट करने में भी कुशल हैं (अब कि मैं विदेगिदों को सन्तार देने वाला हूँ।) अतएव अब तो लोक इन्हीं को बालेन्दु के दोष महान् सम्मान के साथ देखेगा, मुझे कोई नहीं मानेगा मनो यह सन्तों के

ध्वन्यालोक

शुभै काव्यतत्त्वविद्धि, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सञ्ज्ञितः, परम्परया यः समाग्नान्तपूर्वं सम्यक् वा समन्तात् ग्नातः प्रकटित, तस्य सहृदयजनमनः-प्रकाशमानस्याप्यभात्रमन्यं जगदु । तदभाववादिनां धामी विवल्पा. सम्भवन्ति ।

[(अनु०) शुभ शब्द का अर्थ है काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् । (क्यों कि काव्य शास्त्र में उन्हीं की सम्मति महत्वपूर्ण हो सकती है ।) इन विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस सशकाली जो काव्य को आत्मा परम्परा से पहले ही समाग्नान्त की गई थी अर्थात् (सगु सम्यक्) भली प्रकार (वा समन्तात्) चारों ओर से सभी दिशाओं में विचार करके प्रकट की गई थी, यह ध्वनि यद्यपि सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान हो रही है फिर भी दूसरे लोगों ने (अतसहृदय व्यक्तियों ने) उसका अभाव बतलाया था । उसका अभाव बतलानेवालों के ये (अग्रिम प्रकरण में वर्णन विद्ये हुये) विवक्ष्य सम्भव हो सकते हैं ।]

लौचनम्

काव्यात्मशब्दमग्निधानाद् शुभशब्दोऽत्र काव्याभावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति काव्यतत्त्वविद्धिरिति । आत्मशब्दस्य तत्रशब्देनार्थं विवृण्वानः

काव्यशब्द शब्द के सञ्ज्ञित होने से शुभ शब्द यहाँ पर काव्याभावबोध निमित्तक है (अर्थात् शुभ शब्द से यहाँ पर काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् ही अभिप्रेत है) इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं (व्याख्या कर रहे हैं) शुभ अर्थात् काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों के द्वारा । आत्मशब्द के अर्थ

सारावली

प्रयोग किया था जिसका आशय यह है कि इस वाक्य नहीं होते किन्तु विभावादि विभिन्न उपकरणों के द्वारा उनकी निष्पत्ति होती है । इस प्रकार अन्वय, रीति तथा रस हीनों पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने ध्वनि सम्प्रदाय की सीमा वा स्पर्श अवश्य किया था यद्यपि सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारम्भ नहीं हुआ था ।

प्रस्तुत चारिका पर विचार करने से अवगत होता है कि ध्वनिवाद के समय में ध्वनि सिद्धान्त विद्वान्मण्डली में चर्चा का विषय बना हुआ था और जिस प्रकार विशिष्ट दिनों में छायावाद को नवीन सिद्धान्त मानकर माय उसका प्रतिवाद ही किया जाता था तथा उसकी हँसी उर्झाई जाती थी उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को भी विरोधियों के विरोध का पत्र प्राप्त करना पड़ा था । ध्वनि विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उस समय के लक्षण-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में इस सिद्धान्त को मानवृक्ष कर सञ्ज्ञित नहीं किया, मानो यह सिद्धान्त रस योग्य था ही नहीं कि उन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में स्थान पा सकता । ध्वनिकारने विरोधियों के समस्त प्रतिशदों की सीमांता कर ध्वनि विरोध को हीन भेषियों में रिमक किया — एक ही ने लोग हैं जो ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार करना नहीं चाहत । दूसरे ने लोग हैं जो ध्वनि की सत्ता के अन्दर सञ्ज्ञित करते हैं और तीसरे ने लोग हैं जो ध्वनि की सत्ता

ध्वन्यालोक

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति धुधैयं समाज्ञातपूर्वं—

स्तस्याभाव जगदुरपरे मात्तमाहुस्तमन्ये ।

केचिद्वाचा स्थितमविषये तद्वमचुस्तदीय

तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

[अनु०] [काव्यस्ववेत्ता विद्वान् पहले से ही यह व्याख्या करते आये हैं कि काव्य की आत्मा ध्वनि है । कविपय विद्वानों ने उस ध्वनि का सर्वथा अभाव बननाया है । दूसरे आचार्य कहते हैं कि वह ध्वनि लक्षणागम्य है । कुछ लोगों ने कहा है कि ध्वनि का उरव कभी वाणी का विषय ही ही नहीं सकता । इस प्रकार के वैमन्य होने के कारण सहृदय मनस्वी के उद्देश्य से हम उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं ।]

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधद्प्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन तरसम्बद्धं प्रयोजन च सामर्थ्यान् प्रकृत्यज्ञादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति ।

[अब प्रधानतया अभिधेय स्वरूप का अभिधान करते हुये अप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन और उसमें सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये आदि वाक्य को यह रहे है (व्याख्या कर रहे हैं)—काव्यस्यात्मा इत्यादि ।]

तारावती

ने केवल आभिरादि दिया है, उसमें भगवान् की मक्ति नहीं है । भगवान् से मक्तों को रक्षा करने की प्रार्थना स्वयं कविगण मक्ति की परिचायक हैं । अब यहाँ पर वीर रस अहमात्र है । अह्नीमात्र ध्वनि ही है ।

'निर्', 'स्व', 'आम' इत्यादि शब्दों का अन्य प्रधान क्रिया से ही होता है—यहाँ 'स्वेच्छा' शब्द प्रधान क्रिया से अविन न होकर 'वेमगी' इस मझा शब्द से अन्वित हुआ है । अतएव यहाँ पर अभिनन्तमन्ध च नामक दोष प्रतीत होने लगता है । किन्तु 'स्वेच्छा' शब्द के विशेष रूप से व्यञ्जक होने के कारण इस दोष का निराकरण हो जाता है । यद्यपि छाया शब्द का सत्यास होने पर उसमें नपुंसक लिङ्ग हो जाता है तथापि यह निदम वही पर छाया होता है जहाँ पर छाया शब्द का भयं आतन का अभाव हो । अन्यत्र 'विभाषासेनामुराच्छाया शालानिगहनम्' इस सूत्र से विकल्प होता है । यद्यपि यहाँ पर ह्रस्व होकर 'आव' रित' के 'आ' से दीर्घ होने पर भी काम चल सकता है तथापि यह सनाधान मानना ठीक नहीं । क्योंकि 'स्वेच्छाया' इस अभिनव गुण को व्याख्या से उसका सङ्गति नहीं बैठती । अभिनवगुण ने स्वच्छ शब्द को धर्मरक (स्वच्छताभावक) मानकर स्वच्छाया से उसका द्रव्य समान माना है । किन्तु दाधितिकार के अनुसार 'स्वच्छ' शब्द धर्मरक भी माना जा सकता है और इस

लौचनम्

एतद्विवृणोति—संज्ञित इति । वस्तुतस्तु न तत्संज्ञानाम्नेणोक्तम्, अपि त्वस्यैव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युक्तं सारभूतम् । ननुअप्यथा सुधास्तादृशमानेपुरित्वमिप्रायेण विवृणोति-सङ्घट्टयेत्यादिना । एव तु युक्ततरम् । इतिशब्दो मिश्रक्रमो वाक्यार्थ-परामर्शक, ध्वनिलक्षणोऽर्थः । काव्यस्यात्मेति यः समाग्नात इति । शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थः इति का सङ्घट्टितः । एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं

वक्ता का वोग नहीं हो सकता। [इसी का विवरण दे रहे हैं—'संज्ञित' यह शब्द। वास्तव में यह संज्ञानाम से ही नहीं कहा गया है; अपितु ध्वनिशब्दका वाच्य है ही प्रत्युक्त वह सबका सार-भूत है। अन्यथा सुध लोग वैसी वस्तु को आग्नात नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं—'ताव सङ्घट्टय' शब्दों के द्वारा। यह तो अधिक बखित है—'इति' शब्द मन्त्र रूप वाला (होकर) वाक्यार्थ का परामर्शक हो जाता है। ध्वनि छाननावाला अर्थ काव्य की आत्मा (होता है) 'यह' को कहा गया है यह (अर्थ इस वाक्य का हो जाता है।) निस्सन्देह यदि पदार्थ शब्द माना जावेगा (अर्थात् यदि 'ध्वनिरिति' का अर्थ ध्वनि शब्द किया जावेगा) तो ध्वनि छाननावाला अर्थ यह कहने पर (अन्य को) संज्ञित ही क्या होगी ? इस प्रकार निस्सन्देह ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा होता है यह कहा हुआ हो जावेगा जैसे

वारावती

वास्तविकता यह है कि यहाँ पर ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल सदा के लिए ही नहीं किया गया है किन्तु उसका वाक्यार्थ भी अभिप्रेत है। क्योंकि ध्वनि शब्द का वाक्यार्थ विधान है ही और एतना ही नहीं अपितु वही तत्त्व समस्त बाह्यत्व का सार है। नहीं तो विद्वान् लोग उक्त प्रकार के (सारहीन) वचन को प्रकाशित करते ही नहीं। इसी लिये मूढकार ने ध्वनि का विशेषण दिया 'सङ्घट्टय स्वच्छित्तो मे प्रकाशमान' ; [यहाँ पर छोचनकार ने वाच्य की व्याख्या में दो परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों की स्थापना की है—(१) 'ध्वनिरिति' में इति के कारण ध्वनि शब्द स्वरूपपरक है और ध्वनि शब्द विषय का विषय है, क्योंकि अनिश्चय के कारण अर्थपरता सम्भव नहीं ; (२) ध्वनि शब्द का वाक्यार्थ ही विचार का विषय है क्योंकि वह न केवल निश्चित है अपितु समस्त बाह्यत्व का सारभूत है। इस विरोध के निराकरण के लिये छोचनकार ने अन्य को संज्ञित इस प्रकार क्लृप्त है।] इति शब्द का क्रम बदल कर अन्वय इस प्रकार कर लिया जाना चाहिये कि वह शब्द वाक्यार्थ का बोधक हो जावे—'ध्वनिलक्षण अर्थ को कि काव्य की आत्मा के रूप में माना गया है।' इस प्रकार को वाक्यरचना से उसमें अर्थपरता या जावेगी और विरोध बतला रहेगा। यदि उसकी शब्दपरता स्वीकार की जावेगी तो अर्थ ही जावेगा 'ध्वनि सदा' इस अर्थ के मानने पर अन्य की संज्ञित ही क्या होगी ? इस प्रकार ही 'ध्वनि' शब्द काव्य की आत्मा है यह अर्थ हो जावेगा जैसे अनुच्छरण में 'गविन्दमाह' में 'गो शब्द

तारावर्षी

लाक्रम के पथ पर गली गइ है। दूसरी बात यह है कि अमिनवगुप्त मद्राजावरण लिखने वाले का शब्द ही ध्वनिकार कहव हैं और इस प्रकार कारिकाकार से उनके पृथक् ही ओर सङ्गन करते हैं सहज्याना मनसि आनन्दा उभया प्रतिष्ठान् इम सन्तमं को व्याख्या में अमिनवगुप्त ने आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन किया है। यदि ध्वनिकार तथा आलोककार का व्यक्तत्व एक ही होता ता आनन्द का श्लेष व्याख्यात्मक गय में नहीं किन्तु मूत्र पथ में लाया गया होता, क्योंकि ऐसी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ पथ क हा अनूठ हैं। इससे मा प्रकट होता ह कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन स मित्र कार्य इतर व्यक्ति हैं। सबसे बड़ा बात यह है कि कारिकाकार उक्त पथ में सङ्ग रूप स कहव है कि काय का आभा ध्वनि है' इस बात का एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया ह। यही पर ध्वनिकार ने आनन्दा शब्द का प्रयोग किया है वा कि अम्यासायक मौक्तिक धातु 'म्ना का निष्ठाप्रत्ययान्त रूप है और उसके पहले आ उासर्ग का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ होता है— विद्वानों न समा दिग्गजों में पर्याप्त विचार करने के बाद ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके बाद ध्वनि का एक परम्परा सी चतुर्थी विमर्शा अनुकरण अनेक परवर्तों आचार्यों ने किया और यह सिद्धान्त परत माया में परंपरागत रूप में अन्वय्य हो गया था।' केवल इतने से ही ध्वनिकार का सन्तान नहीं हुआ। उन्होंने इस शब्द पर और अधिक बल देने के लिये 'सन्' उपसर्ग और बाँट दिया जिसका अर्थ हा गया कि इस सिद्धान्त का मन्व्यन मा पर्याप्त माया में हुआ था। इससे सङ्ग प्रतीत हाता है कि ध्वनिकार का किसी ऐसा परम्परा का ज्ञान था जिसमें ध्वनि का ही शब्द की आभा माना जाता था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इसके पहले इस विषय में कई पुस्तक नहीं लिखी गई और ध्वनिकारापी सिद्धान्तों का सम्भावनामात्र से उल्लेख किया गया है; इससे प्रकट हाता है कि आनन्दवर्धन उक्त परम्परा से अपरिचित थे। 'सन्' शब्द 'पूर्व' में 'पूर्व' शब्द मी ध्यान देने योग्य है। 'पूर्व' शब्द से हात होता है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जाता रहा था, किन्तु ध्वनिकार के समय तक अने अवयव उस सिद्धान्त का भाग लय हा चुका था। इस प्रकार इस प्रकरण को पर्याप्तता करने पर प्रकट हाता है कि आनन्दवर्धन से मित्र ध्वनिकार का दूसरे व्यक्ति हैं इनकी कारिकायें आनन्दवर्धन को हस्तगत हुई थीं। उन्हीं का व्याख्या आलोक में की गई।

'सहज्यनन प्रीत्ये' में तथा अन्यत्र 'सहज्य' शब्द का प्रायिक प्रयोग देखकर कुछ लोगों ने कल्पना की है कि सम्भवत ध्वनिकार का नाम सहज्य था। किन्तु 'सहज्य' शब्द व्यक्ति शब्दक शिवा के रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं जान पड़ता, अपि तु काव्यरसिकों का यह विशेषण ही कहा जा सकता है।

त्रिष परम्परा द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय प्राचीनकाल में सम्भवत किया गया था उनका परिष्कार में अनी एक अनुसन्धान नहीं किया जा सहा। आनन्दवर्धन ने आचार्यों द्वारा

लोचनम्

पूर्वग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च — सम्प्रगातमन्त्राद्
ग्नात् प्रकटित इत्यनेन । तस्येति । यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रथतनीयं का
तत्रामावमग्मावना । अत किं कुर्म, अपार भाष्यसमावघादिनामितिभाव ।

यह बड़ा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यही पर नहीं की जाती । व्याख्या में
'सम्प्रक् आसमात्ताग्नात् प्रकटित' इन शब्दों के द्वारा की है । 'तस्य जग्दु'—जिम
की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वही अभाव की सम्भावना भी क्या हो
सकती है ? इसलिये हम क्या करें । आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है ।

तारावर्ती

इसमें किसी को विमतिवृत्ति नहीं है । विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यतिरिक्त
गम्यमान अर्थ का ध्वनि सदा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर
दिया जाना चाहिये । इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी
स्वरूपरता प्रतिपादित की गई है ।

सम्भवत लोचन का इस व्याख्या को देय का ही महिममह ने प्रत्युत वाच्यरचना पर
अक्षेप किया है, तथा लिखा है कि—यही पर मन्त्र मेद नामक दोष है । इनके मंत्र में 'इति'
शब्द का प्रयोग 'वाच्यार्थमेति' इन प्रकार होता चाहिये । क्योंकि दूसरे चरण में जो 'तस्य'
का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाष्यत्ववाद और अशक्यत्व-व्यववाद की
स्थापना का गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए । ध्वनि के ही अभाव इत्यादि
की स्थापना करनी है । किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिसे
उसके पदार्थत्व का विपर्यय हो जाना है, दूसरा ध्वनि शब्द यही पर है नहीं । इससे 'तस्य'
का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता । किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या में
पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है ।

कुछ शब्द में बहुवचन से श्लेष होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का
प्रतिपादन किया है । यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो
उसका प्रामादिक हो सकता भी सम्भव हो सकता था । किन्तु बहुनों का प्रामादिक
हो सकता सङ्गत नहीं कहा जा सकता । परन्तु शब्द से श्लेष होता है कि यद्यपि
किसी विद्वान् पुस्तक में इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान्
श्रेण निम्नतर इसका प्रतिपादन करते आये हैं और उनका प्रवाद अविच्छिन्न बना रहा ।
बहुत से विद्वान् अनादरार्णव वागु का आदर से उपदेस कभी नहीं करते इसका
तो आदर से उपदेस दिया गया है । यही बात 'समागतात्पूर्व' शब्द से श्लेष होती है ।
'पूर्व' शब्द के उपदेस का आशय यही है कि यह सिद्धान्त अभी समय पहली बार नहीं दिया
जा रहा है । इसीलिये आलोचकों में व्याख्या की गई है—ठीक रूप में पारा और से यह
सिद्धान्त प्रकट किया गया है । 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के

तारावती

इन्होंने विवेचन के साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन आचार्यों के विवेचन में कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट ही व्यञ्जनामूलक हैं। दूसरे अलङ्कारों के मूल में मामूली वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति विद्यमान रहती हैं। अतएव उनकी ध्वनिप्रवणता सिद्ध हो जाता है।

रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं वामन। इस सम्प्रदाय का प्रथम सद्गुण दण्डी के काव्यदर्शन में मिलता है। दण्डी ने काव्यत्व का प्रमुख साधन माना है मार्ग, जो कि रीति का ही दूसरा पर्याय है। परन्तु वामन की अपेक्षा दण्डी की मान्यता में यह अन्तर है कि वामन ने रीति का गुण पर आश्रित बनाया है और अलङ्कार को रीति का अनित्य सम्बन्धी माना है। इसके प्रतिरूप दण्डी ने गुण और अलङ्कार दोनों से रीति का समान समन्वय स्वीकार किया है। अलङ्कारों को वामन काव्यत्व के निमित्त अनिवार्य साधन नहीं स्वीकार करत, पर उनका काव्य का शोभा सम्बन्ध मात्र मानते हैं। वामन के मत में प्रत्येक अर्थालङ्कार में अपना गभित रहती है। इसलिये इन्होंने अर्थालङ्कार समूह को उपमाप्रपञ्च—इस सामान्य नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः रीतियों का व्यवस्थायन वर्षों विषय के अनुसार होता है और कोई विशिष्ट रीति वर्षों विषय को जितना अधिक प्रकट कर सकती है उतनी ही वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जब तक पदसङ्घटना के द्वारा रमणीय कार्य की अभिव्यक्ति न हो तब तक वह कभी काव्यत्व की प्रयोजिका नहीं हो सकता। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय भी ध्वनि सम्प्रदायका शरणांश भवत्य कर्ता है। वामन का प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा को सन्निहित मानना भा अलङ्कार व्यवहारा का परिचायक है।

रस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्यशास्त्र। इसकी प्रधानता नाट्य में ही मानी जाती है इसलिये कहा-कही नाट्य रस शब्द का भा प्रयोग किया जाता है। काव्य में रस की सत्ता प्रारम्भ से ही मानी जाता रहा था। किन्तु आनन्द वर्धन से पहले काव्य में रस सवदा गौण स्थान का अधिकारी रहा था। मामूली ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस मात्र इत्यादि का समावेश करने की चेष्टा की। दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने भी उन्हीं का पदानुसरण किया किन्तु उत्तरोत्तर रस को महत्त्व प्राप्त होता गया। दण्डी ने 'रसमावनिन्तरम्' कह कर काव्य में रस की अतिरिहायता की ओर कुछ-कुछ सद्गुण दिया था। वामन ने दण्डी की अपेक्षा इसको अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने इसका अन्तर्भाव कान्ति गुण में कर 'दीप्तस्य कान्ति' यह कान्ति गुण की परिभाषा की। इन प्रकार काव्य में इसकी अतिरिहायता और अधिक बढ़ गई। उद्भट ने रसका अधिक दृश्य विवेचन किया। रसको अलङ्कारों की दासता से मुक्त करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने अलङ्कार, रीति, रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सङ्गम स्थल पर सटे होकर विराधी सिद्धान्तों को मिटाने का स्तुत्य प्रयास किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो हमारे मूल में यह व्यञ्जना वृत्ति सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। भरत ने प्रारम्भ में ही रसनिर्पत्ति शब्द का

लोचनम्

नेयमसम्भवतो युक्तं अपितु सम्भवत् एव । अन्यथा सम्भावनामपर्यवसानं स्याद् दूषयानां च । अतः सम्भावनामभिधायिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह । सम्भाव्यन्त इति तुल्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात् । न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतैव स्पृष्टेति वर्तमानेनैव निर्देशः । ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद्दूषयितुमशक्यमित्याह—
विकल्पा इति । न तु घस्तु सम्भवति तादृक् इति इयं सम्भावना, अपितु विकल्पा एव । ते च तस्यावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि । अतएव आचक्षीरन् द्रव्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्प्रयोगा अर्थात्परमार्थे पर्यवस्यन्ति ।

करेंगे। असम्भव को यह सम्भावना भी उचित नहीं है। अपितु सम्भव की ही (सम्भावना उचित है)। अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का पर्यवसान कभी हो ही न सके। इसलिये जित्त सम्भावना को आगे चलकर कहेंगे उचित। समर्थन करने के लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' यह कहा है। यदि सम्भाव्यन्ते 'सम्भावना की जाति है' यह कहा गया होता तो पुनस्तार्थ्य ही हो जाता। सम्भव को भी सम्भावना ही समझते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसका वर्तमान जानना ही स्पष्ट है अतः वर्तमान के द्वारा ही निर्देश दिया गया है। सम्भव वस्तु मूलक सम्भावना के द्वारा जो वस्तु सम्भावित को गई हो उसको दूषित करना असाध्य है यह आसन्नता करके उलट दे रहे हैं—विकल्पा इति। वस्तु तो उस प्रकार की सम्भव ही नहीं है जिससे यह सम्भावना को गई है अपितु (ये) विकल्प ही हैं। और वे तत्त्वज्ञान में बन्ध (बुद्धि) होने के कारण स्फुरित भी हो सकें इसलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावना विषयक लिङ्प्रकार के प्रयोग अर्थात् के तात्पर्यार्थ में पर्यवसित होते हैं (आशय यह है कि जित्त सम्भावनाओं को कल्पना की गई है वे केवल सम्भावित पद ही हैं सम्भव नहीं हैं, जित्तको बुद्धि तत्त्वज्ञान में बुद्धि है वहाँ के अस्तित्व में वे स्फुरित हो सकते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आचक्षीरन् इत्यादि शब्दों में लिङ्प्रकार का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य होता है मूलक।) जैसे—

तारावर्ती

सकता था किन्तु अगले प्रकरण में 'आचक्षीरन्' इत्यादि शिवाओं में लिङ्प्रकार का प्रयोग किया जायेगा। उस लिङ्प्रकार से सम्भव शक्ति की पुनर्कति हो होगी। इसीलिये कर्तुं बान्य का प्रयोग किया गया है कर्मशब्ध का नहीं। 'सम्भवन्ति' में वर्तमान काल के प्रयोग का आशय यह है कि जो वस्तु सम्भव है वह केवल सम्भावना का ही विषय नहीं है अपितु वर्तमानता ही उसमें रहती ही है।

यही पर यह प्रश्न उद्विग्न होता है कि यदि सम्भावना के मूल में सम्भव वस्तु ही तो उसका अस्तित्व किस प्रकार दिया जा सकेगा। अभी प्रश्न का उलट देने के मन्त्र से आक्षेपकार न विकल्प शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अर्थभाव यह है कि जित

लोचनम्

सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्व च दर्शयति इति शब्द । स्वरूपपरत्व ध्वनिशब्दस्याच्चे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयामावेनार्थत्वायोगात् ।

को तत्र शब्द के द्वारा प्रकृत करते हुए सारवत्ता तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्य शब्दों से विलक्षण करिना दिखला रहे हैं । 'इति' शब्द ध्वनि शब्द की स्वरूपरता को बनना रहा है । क्योंकि उसका अर्थ विवादास्पद होने से निश्चय न हो मकने के कारण यहा पर (ध्वनि को) अर्थ सारावती

स्वीकार नों करते हैं किन्तु उसका लक्षण बना सकना असम्भव बतलाते हैं । ध्वनिकार ने अभाववाद और अणव्यवकल्पवाद के लिए परोक्ष मूल का प्रयोग किया है और लक्षण वाद के लिए वर्तमान काल का । इसका आशय यह है कि अभाववादी तथा अणव्यवकल्पवादी ध्वनिकार के समय में अनौत्त की क्या बन गये थे । ध्वनिकार ने उनके विषय में केवल सुना था, ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष नहीं किया था । लक्षण में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले लोग ध्वनिकार के समय में ही विद्यमान थे ।

प्रस्तुत छत्र में बुध शब्द के साथ वाक्यात्म शब्द का उदाहरण किया गया है । इस काव्यात्म शब्द का निरन्तरता के कारण बुध शब्द का प्रयोग भी काव्यात्मा को जानने वाले विद्वानों के लिये ही हुआ है । इसी अभिप्राय से मूल में 'बुध' का अर्थ किया गया है काव्य उत्सवेष्टा । यहाँ पर 'काव्यात्मा' शब्द के 'आत्मा' शब्द का अर्थ किया गया है 'उत्सव' । तत्र शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप कभी बाधित न हो । इस प्रकार ध्वनि की साररूपता तथा दूसरे शब्दों से उसकी विलक्षणता व्यक्त की गई है । [आशय यह है कि यहाँ पर ध्वनि का 'काव्यात्मा' कहा है । आत्मा का अर्थ है आत्मा के समान । यहाँ पर ध्वनि आर आत्मा में साधर्म्य यही है कि जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं हाउ, वही प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध नहीं हो सकता । अतएव जिस प्रकार माणिकगुरु में आत्मा सारमूल पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्द से व्यक्त नहीं की जा सकती उसी प्रकार काव्य में ध्वनि सारमूल पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्दोत्तर सवेप नहीं हो सकती ।]

अभिप्रेतों ने कहा है कि 'इतिनिर्देश्यपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत्' अर्थात् सामान्य तथा किसी वाक्य के अन्दर आने वाले शब्दों का अर्थ अभिप्रेत हाता है, किन्तु जिन शब्दों के बाद 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है उन शब्दों का अर्थ नहीं लिया जाना अपितु शब्दपरता ही उनमें अभिप्रेत होती है । यहाँ पर 'ध्वनिरिति' शब्द में ध्वनि शब्द के बाद 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है ता कि ध्वनि शब्द की स्वरूपरता को बतलाता है । आशय यह है कि ध्वनि का अर्थ विवादास्पद है अतएव निश्चय न होने के कारण अर्थ का उदाहरण नहीं हा सकता । अतएव स्वरूपरता को व्यक्त करने के लिये 'इति' शब्द लिखा गया है । इसी अभिप्राय से आठम में 'ध्वनिरिति सचित' यह अर्थ किया गया है । किन्तु

लौघनम्

प्रकृतन बहुता । तत्र समवायधनेन शब्दाऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्य
व्यतिरिक्त नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदापि वा तदभिधानुरूप्याक्षिप्त शब्दावगतार्थ
बलाकृष्टत्वाज्ञातम् तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीश्विव मर्तुमुप
मतद्विसु इति त्रय एवैते प्रधानप्रतिपत्तिप्रकाराः ।

(करते हुए) शब्द अर्थ का प्रतिपादक होना है यह मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं
होता अथवा हाते हुए भी अभिव्यक्ति के द्वारा आश्रित (होकर) शब्द के अलग अर्थ के
बल पर आश्रित किया हुआ भास प्रयग हा है । उसके द्वारा आश्रित न होकर के भी कहा
नहीं जा सकता जिस प्रकार उस बात को न जानने वाली कुमारीश्वरि में मिथनम का मुख
(नहीं कहा जा सकता) इस प्रकार विप्रतिपात्त के ये तीन प्रधान प्रकार हैं ।

सारावती

व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है— शब्दानुपादी वस्तुगुणा विचार्य अर्थात् जहाँ वस्तु
की सत्ता न हो किन्तु शब्दानुमान मात्र से जिसकी प्रतीति हो जाती हो उसे विवक्ष्य कहते
हैं । गृहहरि ने वाक्यवाच्य से लिखा है— अत्यन्तमल्पविषयं शब्दं ब्रूति हि' अर्थात्
जहाँ अर्थ (वस्तु) की सत्ता विलुप्त न हो किन्तु शब्द का प्रयोग कर दिया जाने लो
उसमें एक प्रकार का शान भुक्तिन अवश्य हो जायगा । व्याकरणों के मत में शीघ्र एतार्थ
ही शाब्दबोध का विषय होता है । इस समस्त प्रकरण का आशय यही है कि अग्रिम पृष्ठों में
जिन अर्थों विराधी पदों की उद्भावना की जायेगी वे वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं किन्तु अन्त
पदों को ही बुझाया गया है ।] संक्षेप में जिन ध्वनि विराधी पदों की उद्भावना
की जा सकती है न ये हैं— (१) वही शब्द अर्थ वा प्रतिपादन कर सकता है जिसका
सबूत प्रमाण हा गया हा । सद्बुक्तिन अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं, अथ वाच्यार्थ से भिन्न को
व्यङ्ग्यार्थ ही हो नहीं सकता । (२) यदि वाच्यार्थ से भिन्न कोई भी अर्थ सम्भव है तो वह
वाच्यार्थ के बल पर आश्रित किया हुआ उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है । उसका
समावेग लक्ष्याय में ही जायगा उसके लिये अन्त से व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता
नहीं । (३) यदि कोई ऐसा भी अर्थ सम्भव है जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से
नहीं है और वह वाच्यार्थ से आश्रित नहीं किया जा सकता हा जैसे पुष्पमहवास का आनन्द
न जानने वाली कुमारीश्वरि का उस मुख का परिचय नहीं दिया जा सकता उसी प्रकार
इस ध्वनितत्त्वका निवचन भी संभव असम्भव है । इस विराध के वही तीन प्रकार हैं ।
[प्रथम पद का अभाववाद की रूपा प्रदान की जा सकती है जो कि विप्रतिपत्तक है कदाचि
विराधी होने पर आधारित है । दूसरे पद को भाक्तवाद कहा जा सकता है जो कि सम्भव
मूलक है । तीसरा पद अत्यन्तमल्पविषय के नाम से अभिहित किया जा सकता है जो
कि अश्रुतमूलक है ।]

कविक के अलङ्कार सारवती की विमर्शनी टीका में जयस्य ने १२ ध्वनि विराधों का

लोचनम्

मवेत्, गवित्ययमाहोति यथा । न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्देजनेन । युधस्थैरुस्य तथामिधान स्यात्, नतु भूयसा तद्युक्तम् । तेन युधैरिति बहुवचनम् । तदेव भ्याचष्टे—परम्परयेति । अविच्छिद्येन प्रवाहेण सैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः । न च युधा भूयासोऽनादरणीय वस्त्वादरेणोपदिशेयुः । एतत्त्वादरेणोपदिष्टम् । तदाह—सम्यगाम्नात्पूर्वं इति ।

'गवित्ययमाह' में होता है । विप्रतिपत्ति का स्थान केवल असत्य ही नहीं होता बल्कि धर्मों के होने पर ही धर्म मात्र के लिये उत्पन्न हुई विप्रतिपत्ति ही होती है—इस प्रकार के सहृदयजनों को उद्दिष्ट करने वाले बहुत अधिक अमस्तुत (विस्तार) को आवश्यकता नहीं है । किसी एक गुण (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन मामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतों को वह बात (मामादिक मानना) ठीक नहीं है । इसीलिये गुणों में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । वही व्याख्या कर रहे हैं । परम्परा के द्वारा इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक में विनाही सन्निवेश किये हुए अविच्छिन्न प्रवाह के द्वारा यह बात कही है । बहुत से गुण अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते, इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया है । वही बात कह रहे हैं सामान्नात्पूर्वं यह । पूर्वशब्द के उदाहरण से

तारावती

का यह अर्थ हो जाता है । यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ध्वनि के वाच्यार्थ की सच्चा स्वीकार कर ली जाये तो विप्रतिपत्ति ही किन बात को होगी ? इसका उत्तर यह है कि विप्रतिपत्ति केवल उसी विषय में नहीं होती जिसकी सच्चा विद्यमान नहीं, अतः धर्मों के होने पर भी धर्म मात्र में मा विप्रतिपत्ति हो जाता है । इतना पर्याप्त है । अधिक अभासजिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्दिष्ट करना ठीक नहीं । [यहाँ पर लोचनकार ने निष्कर्ष यही निकाला है कि वही 'इति' शब्द का क्रम बदल कर ध्वनि शब्द को अर्थपरता ही अभिप्रेत होती है । ध्वनि तत्त्व विद्यमान है ही फिर उसमें विप्रतिपत्ति कैसी ? इस प्रश्न का उत्तर लोचनकार ने यह दिया है कि असत् वस्तु के विषय में ही विप्रतिपत्ति नहीं होती सत् वस्तु में भी धर्म मात्र में विप्रतिपत्ति हो सकती है । जैसे शब्द की सच्चा में ही उसके नित्यत्व अनित्यत्व के विषय में विप्रतिपत्ति होती है । अस्तुत्प्रकरण में भी ध्वनितत्त्व के विद्यमान होने पर ही विप्रतिपत्ति होती है कि उसको गुण अलक्षार इत्यादि में सन्निवेश किया जाये या उसको पृथक् सच्चा ही स्वीकार कर उसे काव्यरत्ना के रूप में स्वीकार किया जाये । यह है लोचन का सार ! किन्तु शाल्विकता यह है कि ध्वनि की शब्दपरता भी यहाँ पर अमंगल नहीं है । भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया, विवाद केवल नामकरण का रहा है । काव्य में वाच्यार्थ—अतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है

ध्वन्यालोक

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरारं भावस्त्वान्यम् । तत्र च शब्दगताश्चा-
स्त्वहेतवोऽनुभासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वणंसघटनाधर्माश्च

[(अ०) प्रथम एव—सम्भवतः यहाँ पर कुछ लोग यह नई कि 'इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं सकता कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं । इनमें शब्दगत चास्ता में हेतु अनुभास इत्यादि प्रसिद्ध ही हैं । अर्थगत चास्ता में हेतु उपमा इत्यादि भी प्रसिद्ध ही हैं । वण

शाखावती

प्रथम एव अभाववात् के तीन प्रकार हैं—(१) शब्द और भाष्य की सीमा का अति-
क्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य का स्वरूप हैं । शब्द और अर्थ में शोभा का भाषण
करने वाले धर्म शब्द गुण अर्थ गुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ही हैं । इनके अतिरिक्त
शोभाभावक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिसकी गणना हम न कर चुके हों । यह पहला प्रकार
है । (२) जिसका साहित्य शास्त्र में अब तक विचार नहीं किया गया वह धर्म शोभाभावक
ही ही नहीं सकता । यह दूसरा प्रकार है । (३) यदि शोभाभावक धर्मान्तर प्राप्त भी हो
जावे तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे हुए गुणों और अलङ्कारों में ही हो जावेगा । यह दूसरा
नाम रख देने में ही आवका कीलना पराधिक्य है । यदि कहो कि उक्त गुणों और अलङ्कारों में
ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता तो भी विगणना के किसी अा को लेकर दूसरा नाम
रखना वा सकता है । उपमा में विच्छिन्न के इतने प्रकार हैं कि उनकी संख्या ही नियत नहीं
की जा सकती । ऐसी दशा में भी (अर्थात् उपमा इत्यादि किसी अलङ्कार के प्रकार के अन्दर
ही उस ध्वनि को सञ्चित कर देने पर भी) ध्वनि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न सिद्ध नहीं
होती । दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जावेगा ? ध्वनि ही नहीं और भो-अनेक विचित्र
ठाकों की बन्धना की जा सकती है । भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में
धमक और अर्थालङ्कार के रूप में उपमा को ही अमोठ बतलाया था । अन्य अलङ्कारकारों ने
उन्हीं दो अलङ्कारों की गिना में उन्हीं के प्रपञ्च के रूप में अलङ्कारों की इतनी अधिक संख्या
बढ़ा दी । [जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार धमक और अर्थालङ्कार
द्वय में ही कर लिया उसी प्रकार ध्वनि इत्यादि किसी भी नवीन बन्धना वा समारोह भी
उन्हीं में हो सकता है । नया नाम बन्धन करने की क्या आवश्यकता ? यदि मरिच्य में भी
कोई नया नाम प्रकट होता है तो उसका भी समारोह इन्हीं दो में ही करेगा ।] यह देने ही
सम्प्रज्ञा चाहिये जैसे व्याकरण की सामान्य विधियों के अनेक विगण रूप होते हैं और सबका
समाहार उही सामान्य विधि में ही जना है । जैसे 'कर्मभ्यञ्ज' एव से पुम्प्रकार बनता है ।
उसीमें नगरवार भी बन सकता है । उसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाती ।

इस प्रकार अभाववाद के तीन एव तथा लज्जयावात् एव और अशब्दव्यङ्ग्य एव के
पांच एव ध्वनि विराधियों के सम्भव हैं । ऊर्ध्व प्रकार में इदीपर अमण विचार विगण
वा रहा है

लोचनम्

न चास्माभिरभावादिनां विरुद्धाः श्रुताः किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते; अतः परांक्षत्वम् । न च भविष्यद्भस्तु दूषयितु युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव । तदपि बुद्धपारोपित दूष्यत इति चेत्, बुद्धपारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः । अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विदित्यद्यतन्त्वप्रतिमानामावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः जगदुरिति । तद्व्याख्यानायैव संभाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति । सम्भावनापि

हन्योगों के द्वारा अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जायेंगे । इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है ।) भविष्य की वस्तु में दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उपपन्न ही नहीं हुई । यदि कहो कि वह बुद्धि में आगेपिन कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही उसमें भविष्यत्व की हानि हो जाती है । इसलिये मूलकालके उन्मेष से, परोक्ष होने से, और विशिष्ट रूप से अद्यतनत्व का प्रतिभाम न होने से लिट् (लकार) के द्वारा प्रयोग किया गया है — 'जगदु' यह । उस (लिट् लकार) की व्याख्या करने के लिये ही सम्भावना करके दोषों को प्रकट

तारावती

लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं । उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है । तस्य, शब्द जिस प्रकार की वण्ण्वनि से उचरित हुआ है उससे व्यक्त होता है कि ऐवक (ध्वनिकार) का महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते हैं । 'उमना' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करें; अभाववादियों की बहुत बड़ी मूर्खता है ।'

'जगदु' क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है । इस क्रिया में परोक्ष भूत का अर्थ यह है कि अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके ही उनका खण्डन किया जावेगा । मूलकाल के प्रयोग का आशय यह है कि भविष्य वस्तु का खण्डन किया ही नहीं जा सकता । पहले वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाता है फिर उस पर विचार किया जाता है । हृदय में स्थापित कर लेने से मूलकाल भा गया और अद्यतन का प्रतिभाम होता नहीं है । इसीलिये मूलानद्यतन परोक्ष का प्रयोग किया गया है । आशय यह है कि उस ध्वनि की व्याख्या करने के लिये ही पक्षों की सम्भावना कर उनका खण्डन किया जावेगा । [वस्तुतः परोक्ष भूत का प्रयोग केवल सम्भावना का ही ध्येय नहीं किन्तु किसी पुरानी परम्परा की ओर भी इशारा करता है जिसका ज्ञान ध्वनिकार की वा, आनन्द-वर्षेण तथा अधिनर गुप्त को नहीं था ।] 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि अदम्भ्य की सम्भावना नहीं की जा सकती; अन्यथा न तो सम्भावनाओं का ही अन्त आ सकता है और न दोषों की परिसमाप्ति ही हो सकती है । इसीलिये जिन सम्भावित वस्तु का अधिन वृत्तों में निरूपण किया जायेगा उनके लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का निर्देश किया गया है । यद्यपि यहाँ पर 'सम्भाव्यन्ते' इस कर्तृवाच्य क्रिया का भी प्रयोग किया जा

तारावती

मूल में 'आवत्' शब्द का प्रयोग किया गया है—'शब्दार्थशरीर' 'तावत्' 'कव्यम्' तावत् शब्द का अर्थ है निश्चय ही (देखें शब्द कव्यद्वय बोध) तावत् शब्द के प्रयोग से यह प्रकृत किया गया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीररति हैं इस विषय में विभी की भी विचार नहीं है । (अधिकतर विद्वानों ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है—'शब्दार्थी सहितौ काव्यम्' (भामह) 'शब्दार्थी सहितौ । वक्त्रविन्यासात्सालिनि' इत्यादि (तुलक) 'उददोषी शब्दार्थी' (मम्मट) इत्यादि । जिन आचार्यों ने केवल शब्दगत काव्य माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है जैसे—शरार तावदिदार्थव्यवच्छिन्न पदावली' (दण्डी) 'रमणीयार्थमतिपादक शब्द काव्यम्' (पण्डितराय) इत्यादि) [अब प्रश्न यह है कि आप शब्द और अर्थ को ध्वनि कहते हैं या उनको विभी विशेषता को] आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते । क्योंकि शब्द और अर्थ को एक नया नाम दे देने से क्या लाभ ? अतएव शब्द और अर्थ का विशेषता (सुन्दरता) को ही ध्वनि कहना पड़ेगा । सुन्दरता दो प्रकार की होती है (१) स्वरूप में रहने वाली सुन्दरता और सङ्गुण में रहने वाली सुन्दरता । इनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से होने वाली सुन्दरता शब्दाङ्गुणों से और सङ्गुणार्थित रमणीयता शब्द गुणों से गठायें हो जाती है । इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र गन रमणीयता लयमा इत्यादिकों से और सङ्गुणार्थितरमणीयता अर्थ गुणों से गठायें हो जाती है । गुण और अङ्गुणों के भेदक तत्त्व का प्रश्न भी साहित्य शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने गुणों और अङ्गुणों का पूयक पूयक उल्लेख किया था । किन्तु इस बात पर प्रश्न नहीं बना था कि इनका परस्पर भेदक तत्त्व क्या है ? सर्वप्रथम कामन ने अङ्गुणों से गुणों के भेदक तत्त्व को व्याख्या की । उन्होंने लिखा है कि काव्यगोभाषा कठोरिभर्मा गुणः 'कठोरित्तय-द्वैतव्यङ्गुणः' उन्होंने दूष्ण भेदकतत्त्व बतलाया नित्यता और अनित्यता का । गुण नित्य धर्म होते हैं और अङ्गुण अनित्य । भट्टोजक को यह मन ठीक नहीं आया । उन्होंने लिखा है कि लोक में तो शीघ्र इत्यादि गुण समवायवृत्ति (नित्य सम्बन्ध) से रहते हैं और अङ्गुण द्वार इत्यादि सभाग वृत्ति (अनित्य सम्बन्ध) से रहते हैं, यह कहा जा सकता है किन्तु काव्य में गुणों और अङ्गुणों का भेद केवल मेधावाल है । ठाक रूप में ध्वनिवादियों ने ही गुणों और अङ्गुणों के भेद की व्याख्या की । ध्वनिवादियों का कहना है कि इस काव्य का जीवन है । जिस प्रकार शीघ्र इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म होते हैं उसी प्रकार काव्य के ओर इत्यादि भी रम के ही मन्थन धर्म होते हैं । कोमल सङ्गुणता कोमल रसों के लिए अनिवार्य होती है और कठोर सङ्गुणता कठोर रसों के लिये । इसके प्रतिष्ठित अङ्गुण अत्र मूल शब्द और अर्थ का उपहार करते हुए उस अङ्गुण आत्मात्तु इस का उपहार करते हैं । (दे० काव्य प्रकृत ७० ८) इन गुणों और अङ्गुणों से निम्न ध्वनि नाम की कोई बात ही नहीं संबन्धी । मूल में जो सङ्गुणता धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय है शब्द

लोचनम्

यदिनामास्य कायस्य यदन्तस्त्वद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुभः काकांश्च चारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोकयेतेति मृतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववत्समवतनस्य सम्भावनेत्यलम-

‘शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर होवे तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्तों की ओर से रसको बचाता किरै ।’

यहाँ पर । ‘यदि शरीर का इस प्रकार देखा जना होवे तो इस प्रकार का रिक्तार्थ पद्य’ इस वाक्य के अर्थ का माय मृतकाल ही है । ‘यदि न ही तो क्या ही’ यहाँ पर भी । (इसका अर्थ यहाँ है कि) क्या हुआ यदि पहले के समान होने को सम्भावना नहीं हुई’ इस प्रकार के अमरसन्निक बहुत कहने को आवश्यकता नहीं । उसमें सङ्केत को अज्ञा से

धारावती

बलु को सम्भावना को गर्ह है वह सर्वथा सम्भव नहीं है । क्योंकि है तो वह सम्भावना ही । फिर इसके छिपे ‘सम्भवन्ति’ इस क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि उत्तर धान को दिशा में जिनकी कुछ कुण्ठित रहती है उनके मस्तिष्क में ये पक्ष स्फुरित हो सकते हैं । इसी छिपे ‘आवशीरन्’ इत्यादि क्रियाओं में लिङ् का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सम्भावना होता है और जिसका पर्यवसान ‘अतीत’ रूप तात्पर्य में होता है । [जिस प्रकार ‘अगुः’ में बुद्धयुक्त होने के कारण मृतकाल का प्रयोग किया गया है वही प्रकार लिङ् का पर्यवसान भी मृतकाल में ही होता है ।] जैसे ‘इस शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर भी होता तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्तों की ओर को ही मगाया करता ।’ यहाँ पर ‘यदि इस प्रकार का शरीर दृष्टिगत हुआ करता तो इस प्रकार की बटना रिक्तार्थ पद्यों’ इस वाक्य का पर्यवसान मृतकाल में ही होता है । [केवल विधि वाक्यों में ही नहीं विशेष वाक्यों में भी सम्भावनार्थक लिङ् का तात्पर्य अतीत में ही हुआ करता है । जैसे] ‘यदि ऐसा नहीं होता तो क्या होता’ यहाँ पर भी अर्थ का पर्यवसान अतीत में ही होता है । यदि पहले कही बात समान होने को सम्भावना नहीं हुई या बरा हुआ ? [अर्थात् यदि शरीर का अन्दर जैसा बाहर नहीं हुआ तो वह बात नहीं हुई कुत्तों की ओर से शरीर को रखा नहीं करनी पड़ी । इस प्रकार विशेष वाक्य में भी सम्भावनार्थक लिङ् का प्रयोग मृतके अर्थ में ही पर्यवसित होता है] अब और अधिक अमरसन्निक वर्णन की आवश्यकता नहीं । [यहाँ पर विद्वत्पद के प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जिन पक्षों की सम्भावना की जा रही है वे पक्ष परमार्थतः सम्भव नहीं हैं ; केवल उत्तर धान से विमुक्त स्थिति ही उनकी सम्भव मान सकते हैं । सत्य अंशे प्रतीत होने वाले किन्तु बलुः अवयव प्रत्यय’ और पुठिर्वा के वृत्त पर विद्वत् कल्पना कर लेना विद्वत् कहलाता है । पञ्चम दशम में विद्वत् पद को

लोचनम्

अनुप्रासानामेव दासमसृणमभ्यमवर्णनीयोपयोगितया परपत्न्यललितत्वमभ्यमत्स
स्वरूपविवेचनाय वगंत्रयसम्पादनाय त्रिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्त्वा ।
वर्तन्तेऽनुप्रासमेदा आस्विति, यदाहु —

सरूपभ्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासिभुशान्ति कवय सदा ॥

पृथक्पृथगिति । परपदानुप्रासा नागरिका । ममृणानुप्रासा उपनागरिका,
ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मभ्यमकोमलपरपमित्यर्थः ।
अतएव वैदग्ध्यविहानस्वभावा सुकुमारपरप्राभ्यवनितामाहस्यादिय वृत्तिप्राम्येति ।
तत्र तृतीय कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । नचेह वैरागिकय
वृत्तिविवक्षिता यन जातौ जातिमयो वर्तमानस्व स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र
वर्तमानत्वम् ।

इस प्रकार—दोम कोमल और मध्यम वर्णनीय (वर्ण्य विषय) के उपयोगी होने के कारण
परपत्न्य ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप विवेचन के लिये तीन वर्ग बनाने के लिये तीन
अनुप्रास जातियों को वृत्ति कहा है—वर्तमान रहते हैं अनुप्रास मेद भिन्नें, यह (वृत्ति शब्द
की व्युत्पत्ति है ।) जैसा कि कहते हैं—

‘इन तीनों वृत्तियों में समान रूप वाले व्यञ्जनों के न्यास को यदि लोग सदा पृथक्-पृथक्
अनुप्रास (कहने को) इच्छा करते हैं ।’

पृथक्-पृथक् (का अर्थ यह है)—परप अनुप्रास वाली वृत्ति को नागरिका कहते हैं ।
कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति को उपनागरिका या ललिता कहते हैं । नागरिका विदग्धा से
इसको उपमा दी गई है इस आधार पर । मध्य (वह होता है जो) न कोमल हो न परप
यह अर्थ है । अतएव वैदग्ध्य विहान स्वभाव वाली अकामल और अरूप प्राभ्य वनिता के
सादृश्य से यह वृत्ति प्राम्या इत (नामवाली होती है) । उनमें तृतीय (प्राम्या वृत्ति)
कोमलानुप्रास (कहलाती है) इस प्रकार वृत्तियों वैरागिक के समान नहीं जाना अर्थात्
नहीं है जिससे भावि में जाति का वर्तमानत्व न हो उन पर अनुग्रह करना हो वर्तमानत्व है ।
सारावता

पर आभयसिद्ध और स्वरूपसिद्ध हेतुनामस भी निरूपिते जा सकत हैं । आभयसिद्ध वही
पर होगा है जहाँ पद्य का निरूपण अकार हो । ध्वनि विराधी के मध्य में ध्वनिका सर्वदा
अकार होता ही है । स्वरूपसिद्ध हेतुनामस वही पर होगा है जहाँ पद्य में हेतु का
अकार हा । ध्वनि विराधी के मध्य में ध्वनि में आका होती ही नहीं अतएव यह स्वरूपसिद्ध
हेतुनामस है । किन्तु प्रमाण तर्क ध्वनिवरो को ओर से धरमिय किया गया है ।
अतएव अनेकान्तिक हेतुनामस ही वही पर समझा जाना चाहिये । आशय यह है कि ध्वनि
प्रकार वृत्तियों और शैतियों गुणाकार ध्वनिरिक होते हुये भी आका हेतु हो सकती हैं

लोचनम्

तत्रामात्रविकल्पस्य त्रय प्रकारा — शब्दार्थगुणालङ्काराणामव शब्दार्थशोभा कारित्वात्प्रोक्तास्मात्किञ्चित्स्मृत्तुं शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभाहनु कश्चिद्- न्याऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येक प्रकार । यो वा न गणित स शोभाकारो न भवतीति द्वितीय । अथ शोभाकारो भवति तद्व्यस्मदुक्त एव गुणे बालङ्कार वान्तर्भवति, नामान्तरकरण तु कियदिदं पाण्डित्यम् अयाप्युक्तेषु गुण- लङ्कारेषु वा नान्तर्भाव, तथापि किञ्चिद्विशेषलक्षणाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमा विच्छित्तिप्रकाराणामस्यैवात् । तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वामात्र एव । तावन्मात्रेण च किं कृतम् ? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्ष्यत्वात् । चिन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्धर्मकापम एव शब्दाधालङ्कारत्वेनष्ट । तत्रप्रज्ञ- दिवप्रदर्शनं तन्परलङ्कारकारं कृतम् । तथापि 'कर्मण्यग्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदा- हरणं ध्रुवा म्बय नगरकारादिशब्दा उपेक्ष्यन्ते । तावना क आत्तनि बहुमान । एव प्रकृतर्प्यति तृतीय प्रकार । एवमकस्त्रिधा विकल्प, अन्यौ च द्वौविति पञ्च विकल्पा इति तापर्यायं ।

उनमें अभाव विकल्प के तीन प्रकार हैं शब्द, अथ गुण और अलङ्कारों के दो शब्द और अथ क शोभाकारक (धर्म) होने के कारण लोक और शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्दार्थ से बने हुए काव्य का शोभा हनु को अन्य (धर्म) है ही नहीं जा हम लोगों के द्वारा न गिना गया हो—यह एक प्रकार है; अथवा जो न गिना गया हा वह शोभाकारो ही नहीं होता यह दूसरा है, यदि शोभाकारो होगा है तो हमारे कद हुये गुण अथवा अलङ्कार से अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरा नाम रखने में तो यह किन्ना पाण्डित्य है । और भी यदि कहे हुए गुणों और अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं होता तथापि कुछ विशेषता वा अंग लेकर दूसरा नाम रखा जाता है क्योंकि उनमा विच्छित्ति के अनेक प्रकार होते हैं । तथापि गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्तत्व का अभाव ही है । केवल उनसे ही क्या किया गया ? और भा वैचित्र्य की वरणा को जा सकता है । निम्नन्देष्ट चिन्तन भरतमुनि शब्दादिकों ने यन्त्र धर उनमा हा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में इष्ट (बतनाये हैं) । उनके प्रथम की दिशा का प्रदर्शन अन्य अलङ्कारकारों न कर दिया । यह इस प्रकार— 'कर्मण्यग्' यहाँ पर 'कुम्भकार' इत्यादि उदाहरणों का सुनकर स्वयं नगरकार इत्यादि शब्दों का रचना का जा सकती है । उनसे अरने विषय में बहुत अधिक सम्मान देने का क्या अवसर ? इसी प्रकार मूल विषय में भी यह तीसरा प्रकार है । इस प्रकार एक तो तीन प्रकार का विकल्प है, अन्य दो प्रकार, एक प्रकार पाँच विकल्प होते हैं, यही तापर्याय है ।

तारावती

उक्त विधा है । किन्तु उनका यही तीन प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है । अत्र धर्म के मुख्य विशेषी एव य तीन ही हैं ।

उोचनम्

यथाह कश्चित्—'लोकोत्तर हि गाम्भीर्यं वतन्तं पृथिवीभुज । इति ।'

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तया नाम्यधिकव्यापारा । अतएव व्यापारभेदाभावात् पृथगनुमयस्वरूपा अपाति वृत्तिनाच्छस्य व्यापारवाचिनाऽभिप्रायः । अनतिरिक्तवादात् वृत्तिव्यवहारो मामहादिमिर्न कृत । उद्धृष्टादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नायं कश्चिदधिको हृदयपथमवनाणं ह्यभिप्रायणाह—गता श्रवणगोचरमिति । रातयश्चेति । उद्धनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गता श्रवणगोचरमिति-

जैसा कि विमो न कहा है—पृथ्वी का माग करने वाले (रात्रा टाग) उोकोत्तर गम्भीर्य में वतमान रहत है ।'

अतएव वृत्तियों अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तियाँ ही हैं । अर्थात् उनका कार्य अधिक नहीं है । अतएव व्यापार भेद के न होने से उनका स्वरूप पृथक् अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाचा का अभिप्राय है । अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार मामह इत्यादि में नहीं किया है । उद्धृष्ट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी उसमें व द अतिरिक्त अर्थ हुआ पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ इस अभिप्राय में कहा है—श्रवण गोचरता का प्राप्त हुआ है यह रीतवथ इति । (गतिर्गो भा) उनमें अभिन्न वृत्तियाँ ही

तारावती

जैसा कि विमोने कहा—'रात्रा टाग उोत्तर गाम्भीर्य में वतमान रहते हैं । पर वर्तमान होने का यह अर्थ है कि रात्रा टाग पर गाम्भीर्य का अनुप्रास होता है जिसे उनमें सभी कथों के निर्वाह का गति आ जाती है । इसी प्रकार अनुप्रासानुप्रासक मात्र से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व होता है । अनुप्रासानुप्रासक मात्र का अर्थ है—रसभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान करना । अर्थात् यह है कि वृत्तियों का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नहीं होता । [अनुप्रास का कार्य भी रसभिव्यञ्जन करना और उसमें सहायक होना है और वृत्तियों का व्यापार भा यही है ।] अतएव अनुप्रास के बिना वृत्तियों के स्वरूप का अनुमान ही नहीं हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिधान ही किया जा सकता है । यही कारण है कि मामह इत्यादि में वृत्ति का व्यवहार किया ही नहीं । उद्धृष्ट इत्यादि में वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं लिखता पाय । इसलिये आलोचकार ने 'एतने में आ' है यह कर अपनी अर्थ प्रकट की है ।

यही टाग वैदमा इत्यादि वृत्तियों की भी है । व भी टाग और अणुकार से भिन्न नहीं कहा जा सकता किन्तु एतने में अर्थ है । उन्में अतिरिक्त नहीं जाती में 'एतने' शब्द का वृत्तियों के प्रसङ्ग में अर्थ है अणुकार से और वृत्तियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'एतने से' । वृत्तियों मापुर्ण इत्यादि टाग से पृथक् नहीं होती । [२ गार्थक विवादिभाष्य 'री' से टाग

ध्वन्यालोकः

ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः ध्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्मीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामिति ।

संपटना धर्म जो माधुर्य इत्यादि हैं उनकी भी प्रतीति होती है । कुछ छोगा के द्वारा प्रकाशित की हुई उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ भी धुनने में आई हैं किन्तु वे उपर्युक्त अलङ्कारादिकों से पूषक नहीं कही जा सकती । उनका भी समावेश अलङ्कारादिकों में हो जाता है । वैदर्मी इत्यादि रीतियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है । अर्थात् वे भी अलङ्कारादिकों से पूषक नहीं कही जा सकती । फिर उन सबसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी नहीं बला है ।

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना । तावद्ग्रहणेन न कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति । तत्र शब्दार्थो न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोश्चारत्वं स ध्वनिः । तथापि द्विविधं चारत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं सङ्घटनाधिनं च । तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः सङ्घटनाधितं तु शब्दगुणेभ्यः । एवमर्थानां चारत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः । सङ्घटनापर्यवसितं त्वर्यगुणेभ्य इति न गुणाव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित् । सङ्घटनाधर्मा इति । शब्दार्थयोरितिसौष । यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्छारत्वाकारि न भवति नित्यानित्यदोषा भसाधुदुःश्रवादय इव चारत्वाहेतुश्च ध्वनिः, तत्र तद्व्यतिरिक्त इदं व्यतिरेकी हेतुः ।

उन्ही को क्रमना कहते हैं—शब्दार्थशरीरं तावत् इत्यादि के द्वारा । 'तावत्' शब्द के उपादान से यह दिखलाते हैं कि इस विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है । उसमें—शब्द और अर्थ तो ध्वनि नहीं है क्योंकि केवल सङ्घटन में ही क्या गुण है ? (अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम (ध्वनि) रख देना व्यर्थ है । यदि शब्द और अर्थ की (जो) चारता है, वह ध्वनि है, तथापि दो प्रकार की चारता होती है—स्वरूप मात्र में रहने वाली और संपटना में रहने वाली । उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से उत्पन्न होने वाली चारता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाधित शब्दगुणों से, इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपमात्र में रहने वाली चारता उपमा इत्यादि से और सङ्घटना पर्यवसित तो अर्थगुणों से (गतायं हो जाती है) इस प्रकार गुणों और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि कोई होती नहीं । 'सङ्घटना धर्मा इति' शब्द और अर्थ के, यह स्पष्ट है । (अर्थात् शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म भी प्रतीत होते हैं ।) जो गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होता है वह नित्यानित्य दोष 'असाधु' 'दुःश्रव' इत्यादि के समान चारता को उत्पन्न करने वाला नहीं होता । और ध्वनि चारता हेतु होती है अतः उससे व्यतिरिक्त नहीं होती, वह व्यतिरेकी हेतु है ।

लोचनम्

ननु माभूदसौ शब्दार्थस्वभाव, मा च भूच्चारत्वे हेतु तेन गुणालङ्कारस्य
तिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—अन्य इति । मन्त्रत्वेवम् ।
तथापि नास्यैव ध्वनिर्यादृशस्तवलिरक्षयिषित काव्यस्य दासौ कश्चिदुक्तम् ।
न चासौ नृत्तगीतवाद्यस्थानीय काव्यस्य कश्चिन् । कवनाय काव्य, तस्य
मावश्च काव्यत्वम् । न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते ।

(पणान्तर) निम्नन्देह यह शब्द और अर्थ के स्वभाव वाला न हो और यह चरित्रा
में भी हलु न हो इससे यह गुणालङ्कारव्यतिरिक्त हो जावे यह भाषाका करके द्वितीय
अभाववाद के प्रकार को कह रहे हैं—अन्य इति । ऐसा हो जावे तथापि नहीं होता है ध्वनि
जैसी कि तुम उचित करना चाहते हो । काव्य की यह कोई (अन्वयित) कही जानी चाहिये ।
काव्य की यह कोई नृत्य गीत वाद्य स्थानीय तो है नहीं । कवनीय को काव्य कहें हैं । उसकी
भाववाचक सदा है काव्यत्व नृत्य गीत इत्यादि कवनीय होते हैं यह नहीं कहा जाता ।

सारावती

योग्यता हाने के कारण सभी वस्तुओं का सद्भाव रूप में एकीकरण हो जाता है यही प्रकार
जब माधुर्य इत्यादि गुणों का समुचित वृत्ति में मिलन होता है और उनका एक सद्भाव रूप
बन जाता है तब उन्हें रीति कहने लगते हैं । इस प्रकार दीर्घ कोमल और मध्यम वणनीय
विषय के अनुसार गौरी विदर्भ और पद्मान देव क कवियों के स्वभाव की प्रचुरता के आधार
पर रीति तीन प्रकार की बनलाई गई है । [वामन ने लिखा है—“रीति काव्य की आत्मा
होती है । विविध पररचना को रीति कहते हैं । विविध का अर्थ है जिस पर रचना की
आत्मा गुण हो । रीति तीन प्रकार की होती है गौरी वैष्णवी और पाद्मालो । गौरी रीति में
आनन्द, कान्ति गुण होते हैं । पाद्मालो रीति में माधुर्य और सौकुमार्य होता है, वैदर्भी में
दानों का सम्भव होता है । भानुवर्धन से पहले यही तीन रीतियाँ काव्य शास्त्र में
प्रतिष्ठित थी विष्णुनाथ ने हाथी रीति का सम्भोग कर इनकी संख्या चार कर दी और
भास्कर ने मण्डा और अश्विनी इन दो और रीतियों को मिलाकर कुल संख्या ६ कर दी ।
इन सब रीतियों का गुणों में ही सम्भोग हो जाता है ।] वाग्मिन् से अति प्रथक नहीं
है गौरी और अवयव से अवयवी भिन्न नहीं होता । इस प्रकार वृत्तियों और रीतियों गुण और
अलङ्कार से भिन्न नहीं होती । अवयव एक स्वरोंकी हेतु में कोई दोष नहीं आता । इसलिये
अलङ्कार ने लिखा है कि उनसे भिन्न ध्वनि यह क्या बात है ? यहाँ पर ‘ध्वनिर्नाम’ इस
वाक्य से नाम गण का अर्थ यह है कि ध्वनि न तो वाक्ता का स्वान है क्योंकि वह
वाक्ता और अर्थ से भिन्न है और न वाक्ता में हेतु है क्योंकि गुण और अलङ्कार से भिन्न है ।
अवयव यद्यपि वाक्य का भावार्थ अत्यन्त दुर्लभ के द्वारा ही दिया जाता है । तथापि यदि
अन्वय के उपकरणों को प्रथक दिखाना चाहते हैं ध्वनि शब्द काव्य कोई व्यतिरिक्त लक्ष
प्रदान ही नहीं होता । यही नाम शब्द का अर्थ है ।’

लोचनम्

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरेकाश्चारत्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरेकश्च चारत्नहेतुश्च मविष्यतीत्यसिद्धौ व्यतिरेक इत्यनेनाभि-
प्रायेणाह-तदनतिरेकवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरेकत्वं सिद्धम् । तथा

(मदन) रीतियाँ और वृत्तियाँ भी जैसे गुणालङ्कार व्यतिरेक होनी हैं और चारत्व हेतु भी होती हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी उनसे व्यतिरेक (होते हुए) चारत्व हेतु हो जावेगी इस प्रकार व्यतिरेक (व्यतिरेकी हेतु) असिद्ध है । इस अभिप्राय से कह रहे हैं—तदनतिरेक वृत्तय इति । वृत्तियाँ और रीतियों का तद्व्यतिरेकत्व (शब्द, अर्थ, शब्द सौन्दर्य, अर्थ सौन्दर्य, शब्द सङ्घटना सौन्दर्य, अर्थ सङ्घटना सौन्दर्य इनसे भिन्न) सिद्ध नहीं हो है । वह

तारावती

और अर्थ के सङ्घटना धर्म [यहाँ पर अनुमान प्रमाण से साध्यसिद्धि की गई है । ध्वनि पद है; गुण और अलङ्कार से भिन्न न होना साध्य है; चारता में कारण होना हेतु है । अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—ध्वनि गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होनी, क्योंकि चारता में हेतु होती है । जो जो चारता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते ।] यहाँ पर व्यतिरेकी हेतु के द्वारा साध्यसिद्धि होगी । [अन्वय व्याप्ति इस प्रकार की बनती है—‘जो पदार्थ चारता में हेतु होने हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते, इसका कोई उदाहरण मिल ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई चारता हेतु होता ही नहीं जो गुण और अलङ्कारों से भिन्न हो अतएव व्यतिरेकी हेतु से साध्य सिद्धि करनी पड़ेगी ।] व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—‘जो पदार्थ गुण अलङ्कारों से भिन्न होते हैं वे चारता हेतु नहीं हो सकते ।’ जैसे निच्य दोष ‘असाधु’ इत्यादि अनिच्य दोष ‘दुःप्र’ इत्यादि गुण और अलङ्कारों से भिन्न होने के कारण चारता हेतु नहीं होते ध्वनि भी चारता हेतु है अतएव वह गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती । इसी को व्यतिरेकी हेतु कहते हैं ।

[यहाँ पर ध्वनि विरोधी ने व्यतिरेकी हेतु के द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव गुण और अलङ्कारों में सिद्ध किया था । पूर्व पक्षी उसमें हेतु दोष दिखला रहा है ।] वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कारों से भिन्न भी होनी हैं और चारता हेतु भी होती हैं । इसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार व्यतिरेक भी हो सकती है और चारता हेतु भी हो सकती है । इस प्रकार ऊपर दिखान्या दूजा व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है । [तर्क शास्त्रमें हेतु दोषों का हेतुभास करने हैं । हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों में पाया जावे तो वहाँ पर अनैकान्तिक हेतुभास होता है । ऊपर के अनुमान में हेतु है—रमणीयता में कारण होता, वह हेतु साध्य गुण और अलङ्कारों से भिन्न वृत्तियों और रीतियों में भी मिल जाता है । अतएव यहाँ पर अनैकान्तिक हेतुभास होने से साध्य असिद्ध हो जाता है । वरतुनः यहाँ

छोपनम्

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान शब्दार्थौ तद्गुणालङ्कारश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तद्व्यस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तु स मार्गोऽभिप्रेत, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात् । ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति । मार्गस्येति नृत्तगीताभिनिर्कोचतादिप्रायस्यत्यर्थं । तदिति । सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थः ।

ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः । तदनिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति ।

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार । प्रस्थान करते हैं अर्थात् जिस मार्ग से परम्परा से व्यवहार करते हैं उसे प्रस्थान करते हैं । काव्य प्रकाशयेति । वह मार्ग काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि 'काव्य की आत्मा' यह कहा गया है । वह काव्य क्यों नहीं होता इसका उत्तर दे रहे हैं—सहृदयेति । मार्गस्येति । अर्थात् नृत्त गीत, अभिनिर्कोचन इत्यादि के तुल्य । तदिति । सहृदयसदृशालङ्कार शब्द और अर्थ से युक्त होना काव्य का लक्षण है ।

(मन्त्र) जो उस प्रकार के अपूर्व (ध्वनि लक्ष) को काव्य के रूप में जानते हैं वे ही सहृदय हैं—उनका अभिमत होना ही काव्यलक्षण (में प्रवेशक) है (और वह लक्ष प्रस्थान से भिन्न के लिये ही होगा) यह शङ्का कर के कह रहे हैं—नचेति । निस्तन्देह जैसे

तादावती

प्रस्थान शब्द प्र उपसर्ग 'स्था' भाव से तदा अर्थमें लुप्त प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ होता है—देसा मार्ग ओ परम्परा से प्रसिद्ध हो चुका हो अर्थात् जिस मार्ग से परम्परा गत रूप में व्यवहार होता चला आ रहा हो । यह प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके सम्बन्धित गुण और अलङ्कार । आशय यह है कि तुम ध्वनि की काव्य की आत्मा कहते हो अतएव काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें वही मार्ग अमोह है और वह ही नहीं सकता, क्योंकि सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कारों को ही काव्य कहते हैं, परम्परागत रूप में वही ही काव्य के मार्ग के रूप में स्वीकार किया जागा रहा है । इनसे भिन्न दृष्टि ध्वनि नान का कई मार्ग काव्यस्यात्मा के आधान में सहायक होता है तो वह नृत्त, गीत, अभिनिर्कोचन इत्यादि अभिमत के समान काव्य सम्पन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना रूप लक्षण उनमें नहीं बरता ।

वही पर वह मन्त्र दिया जा सकता है कि सहृदयों के अभिमत होना ही काव्य का लक्षण है और सहृदय वे ही होते हैं जो पहले आख्यान की हुई ध्वनि को ही काव्य का स्वरूप मानते हैं । इस प्रकार का काव्यलक्षण जल प्रस्थान से प्रसिद्ध मार्ग में ही लागू

सारावर्ती

उसी प्रकार धनि भी गुणलक्ष्मण व्यतिरिक्त होते हुये मा चारुत हेतु हो सकता है । अग्नि प्रकरण में शमी हेतुमत्त पर विचार किया जा रहा है ।] वृत्तियों और गीतियों का गुण और अलक्ष्मारी से मित्र हाना सिद्ध नहीं है । दोष कोमल और मध्यम विषयों में लागेगी होने के कारण अनुमास के हो कठोर, कोमल और मध्यम इन तीन स्वरूपों की विवेचना करने के मन्व्य से तीन वर्ग कर लिये गये हैं । यही तीन वृत्तियाँ हैं जो कि अनुमास की ही आकृति अतिथी हैं । वृत्ति शब्द श्रुतु वर्तने' धातु से क्लिप्त मयय हाकर बनता है, जिसका अर्थ है वर्तमान होना अर्थात् जिसमें अनुमास के भेद वर्तमान हों उन्हें वृत्ति कहते हैं । जैसे कि उद्भट ने लिखा है—वकि लाग सर्वदा इन तीनों वृत्तियों में धृक् धृक् ऐसे अनुमास की श्रुद्धा करते हैं जिसमें समान रूपवले व्यञ्जनों का प्रयोग किया जाता है ।'

धृक् धृक् का अर्थ है—अनुमास का प्रयोग दोन प्रकार का होगा है—(१) जहाँ पर अनुमास में पश्च वयों का प्रयोग होता है उसे पश्चा या नागरिका वृत्ति कहते हैं । (२) जहाँ पर कोमल वयों का प्रयोग होता है उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं । उपनागरिका शब्द का अर्थ है नगर निवासिनी ठठना के समान वैश्व्य पूर्ण । जिस प्रकार नागरिक ठठना अपने हाव-भाव के द्वारा आकर्षण करती है उसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति अपनी मधुरता अथवा कोमलता से जन समूह के मन को आकर्षित करती है । (३) जहाँ पर न अधिक कठोर वयों का प्रयोग हो और न अधिक कोमल वयों का ही प्रयोग हो उसे मध्यमा अथवा प्रान्या वृत्ति कहते हैं । जिस प्रकार प्रान वनिता में किमी प्रकार का वैश्व्य नहीं होता, न उसमें सौकुमार्य ही होता है और न पारुष्य ही । इसी साम्य के अन्धार पर इस वृत्ति को प्रान्या वृत्ति कहते हैं । उदाहरण वृत्ति प्रान्या को एक कृदिसदा कामलानुमास भी है जिसका कि मट्टेद्भट शब्द आचार्यों ने प्रयोग किया है । वस्तुतः इसमें कोमल अनुमास होने का निश्चय नहीं है । यह केवल नाम पड़ गया है । इस प्रकार वृत्तियाँ अनुमास की अतिवर्ती हो जाती हैं उनके मित्र नहीं (ममह ने अनुमास के दो भेद किये थे—प्रान्या अनुमास और अनुमास । सम्भवतः अनुमास से उनका अभिप्राय उपनागरिकानुमास से था । उद्भट ने वृत्तियों की संख्या तीन कर दी—प्रान्या, उपनागरिका और पश्चा । इनका विचार परिवर्तन उद्भट ने कान्याशूर सार समग्र में दिया है) यहाँ पर यह प्रश्न उठता जा सकता है कि वृत्तियाँ भी अतिवर्ती होती हैं और अनुमास को भी अति कही जाता है । वैश्वियों का मत है कि अति में अति नहीं रहती कि वृत्तियों में अनुमास अति कैसे रह सकती है ? इसका उत्तर—यहाँ पर वृत्तियों में अनुमास का वर्तमान अनुमास अनुमास मात्र से ही माना जाता है ।

लोचनम्

यस्त्रयत्रयिप्राय व्याचष्टे—जीवितभूतो हि ध्वनिस्तावत्तवामिमलः, जीवित च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तवाच्यं न काव्यमिति लोके प्रसिद्धमिति । तस्येदं सर्वं खवन्धनविरटम् । यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तर्नैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणाहंमेव भवति । तस्मान् प्राक्तन एवात्रामिप्राय ।

जिम्ने यही पर अभिप्राय की व्याख्या की है—जीवन के रूप में ध्वनि तुम्हें अभीष्ट है और जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त ही होता है क्योंकि उसको अलङ्कारकारों ने कहा नहीं है और वह काव्य नहीं हो सकता यह । उसका यह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है । यदि निस्त-देह उस पूर्वपक्षवादी ने उसे (ध्वनि को) काव्य का उपाण मान लिया तो उसको प्राचीनों ने नहीं कहा है अतः प्रयुज (अपने तर्कों के विरुद्ध) यह उपाण के योग्य ही (सिद्ध) होता है । अतएव पहले कथलापा हुआ ही यही पर अभिप्राय है ।

तारावती

विद्वान् उसे स्वीकार नहीं कर सकते । यही अलोचकार के सकल वाच्य का ज्ञान है । ऐसी दशा में कुछ लोगों की मान्यता से कोई लाभ नहीं होगा अर्थात् ऐसे लोगों की उन्मत्ता ही प्रकट होगी । [यही पर अनुमान से साव्य सिद्धि की प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य नहीं हो सकती, (प्रतिपा) क्योंकि यह शब्द और अर्थ से अतिरिक्त है (हेतु), जो कुछ वाच्य और अर्थ से अतिरिक्त होता है वह काव्य नहीं हो सकता जैसे नृप गीत इत्यादि काव्य नहीं होते (उदाहरण) ध्वनि भी उसी प्रकार की होती है (उपनय) अतएव वह भी उसी प्रकार काव्य नहीं हो सकती (निगमन) । अनुमान की दूसरी प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्यसम्बन्ध नहीं होती (प्रतिपा), क्योंकि गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त होती है (हेतु), जो वस्तुओं गुण और अलङ्कार से भिन्न होती है ये काव्य नहीं हो सकती जैसे नृप गीत इत्यादि (उदाहरण), यह ध्वनि भी उसी प्रकार की (गुणलङ्कार अतिरिक्त) है (उपनय), अतः यह भी वैसी ही (काव्य के क्षेत्र से बाहर) है । (निगमन)

जिसी व्याख्या ने यही पर कहा है—ध्वनि काव्य-जीवन के रूप में तुम्हें अभीष्ट है, किन्तु जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त होगा है—यदि अलङ्कारकारों ने उसका अभिप्राय नहीं किया है अतः वह ध्वन्यात्मक जीवन काव्य से भिन्न है यह बात उक्त से प्रसिद्ध है । किन्तु उनका यह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है । यदि काव्य में प्राण प्रकृति कानेवली एवं अलङ्कार कर ही ही पर अलङ्कार वाच्य के आचार्यों ने उक्त उपाण किया भी नहीं तो उसका उपाण करना ही चाहिये । इस प्रकार यह पूर्वपक्ष नहीं हो सकता । अतएव पहले कहा हुआ अभिप्राय ही ठीक है । [अतः और दिशावर्तों में यचना ही भेद है कि अतः परम में कहा गया वाच्य अर्थ गुण और अलङ्कार से भिन्न

सोचनम्

सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाम्ब समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्य-
मेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमन दीप्तललितम-
ध्यमवर्णनीयविषय गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्रानुप्यंशशा तदेव त्रिविध रीति-
रिस्थुक्तम् । जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति
वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः । तदाह—
तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारत्वस्थान शब्दार्थरूपत्वामावात् । नापि
चारत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिमत्त्वाद्यपि काव्य-
मरोदारबुद्ध्या यदि विमन्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिद्व्यतिरिक्तोऽर्थो
सम्यक्त इति नाम शब्देनाह ।

मत्र गोचर हुई हैं यह सम्बन्ध (योजना) है । तत् शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण
(लिये जाते हैं ।) और उनके समुचित वृत्ति में अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की
समता के कारण गुड मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप में आना है (तथा
जो) दीप्त ललित और मध्यम वर्ण विषय वाला है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल
के स्वभाव की मज्जता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं यह कहा
गया है । जाति जातिमान् से भिन्न नहीं होती और समुदाय समुदायो से भिन्न नहीं
होता । इस प्रकार रीतियाँ और वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होतीं ।
इस प्रकार वह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है । वही कह रहे हैं—उन्से व्यतिरिक्त यह कौन
सी ध्वनि है ? यह पारता का स्थान नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं है ।
नहीं ही यह चारत्व में हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है । अतएव अखण्ड बुद्धि
से आस्वादन करने योग्य भी काव्य यदि अरोदार (विमानन) की बुद्धि से विमल किया
जाता है तथापि यहाँ पर ध्वनि शब्दवाच्य कोई व्यतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द
के द्वारा कहा है ।

सारावली

ये त्रिन् प्रथम होकर 'रीति' शब्द निम्नत्र पुत्रा है, त्रिसका अर्थ होना है प्रवाह । काव्य
के त्रिस तत्र में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं । प्रारम्भ में दण्डी ने
काव्य के दो मार्ग बतलाये थे वैदर्भमार्ग और गौड मार्ग । दोनों प्रदेशों में काव्य के पृथक्
पृथक् आधारों से त्रिसका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है । आगे चलकर वामन ने रीति
को काव्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भ तथा गौड रीतियों में पाञ्चालो का समावेश और
कर दिया । इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं । त्रिस प्रकार वृत्तियों का समावेश
अनुमास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों में हो जाता है]
त्रिस प्रकार गुड निर्यं इत्यादि मिलकर पानक रस तैयार किया जाता है और मिलने की

लौचनम्

अनु विच्छिन्नानामसंख्यात्वात् काचित्पादुशी विच्छित्तिरन्वामिदृशं वा नातु
 ग्रामादीनां वा वायुर्पादात्तुल्यश्रेयन्तमेवेदिव्यानाङ्घ्र्यान्नुपगमपूर्वकं परिहरति—
 वाग्विच्छिन्नामिति । वक्षति वाक् शब्दः । दृश्यते इति वागर्थः । दृश्यतेऽन-
 येति वागनिघाञ्चानात् । तत्र शब्दाद्यर्थैश्चिन्त्यप्रकारोऽनन्तः । अभिवाचैश्चिन्त्य-

(अन्त) निम्नलेह विच्छिन्तियों के अन्वय होने के कारण कोई ऐसी विच्छित हृद
 लोको के द्वारा देखी गई, जो न अनुनास शब्द में नहीं मनुष्य शब्द में उक्त लक्षण में
 अन्तर्भूत हो सके, यह अन्तर्भूत का स्वीकृति के साथ उसका उच्चारण दे रहे हैं—वग्विच्छिन्ना-
 मिति । वाक् शब्द का (श्रुतिलक्षण) अर्थ है जो कहे अर्थान् शब्द, जो कहा जाने वह
 वाक् अर्थान् अर्थ, जिसके द्वारा कहा जाने वह वाक् अर्थान् अभिवाच अन्तर । उनमें शब्द

धारावती

वाक्यलोलावदक कों वायु है ही नहीं । इस पक्ष में कहा गया है कि 'यदि इनमें मित्र
 ध्वनि नाम की कों वायु नाम की ही जाने तो तो वाक्य से उसका कों सम्बन्ध मिट ही
 नहीं हो सकता । वह ध्वनि वाक्यवदक नहीं हो सकता ।

यहाँ पर ध्वनिशब्दों का वह अर्थवत् बतलाया जा सकता है कि 'ध्वनि रमणीयता
 में कारण हो सकती है और वह शब्द, अर्थ तथा गुण और अक्षरों में अन्तर्भूत भी की जा
 सकती है यदि किसी ने भी ध्वनि शब्द का उच्चारण कर उन्हें वाक्य का जीवन नहीं
 बतलाया है, अन्तर उसका प्रकटन करना ही चाहिये । शरीर ध्वनि का उच्चारण गुणों पर
 की कारणता की है । [इस पक्ष का उद्देश्य यह है कि यदि ध्वनि का वाक्य हेतु नाम
 की ही और वह शब्द अर्थ गुण और अक्षरों के अन्तर्भूत भी मिट हो जावे तो भी ध्वनि
 नाम की कों अर्थान् वायु मिट नहीं हो सकता । ध्वनि भी वाक्यहेतुओं में एक है,
 अन्वय लक्षण वाक्यहेतुओं में ही उसका अन्वयवत् बतला दिया जाता वचित अन्तर्भूत होता
 है । वाक्यहेतुओं में ही है किन्तु अन्तर्भूत बतलाया जा सकता है । यह भाग विवाद
 नहीं में से एक का नाम इस दृष्टि के कारण बतला दिया जा रहा है ।] यहाँ पर वाक्यवदक
 शब्द का अर्थवत् बतलाया है । 'कनकेश शब्द में शुद्ध शब्दवत् हेतु यह शब्द बनना है
 यदि वह शब्दवत् यहाँ पर मात्र अर्थ में अन्तर्भूत तो इसका अर्थ ही अर्थान् 'रमणीयता' ।
 अन्तर्भूत यहाँ पर वह शब्दवत् 'ध्वनि' अर्थ में अन्तर्भूत अन्तर्भूत वाक्यवत् अर्थान्
 अर्थ ही वाक्य रमणीय का अर्थ अर्थान् रमणीयता की दृष्टि अन्तर्भूत करने में कारण गुण और
 अक्षर ।

(अन्त) विच्छिन्तियों के प्रकारों की सम्ख्या अन्तर्भूत नहीं की जा सकती । अन्तर्भूत होने
 विच्छिन्तियों का कों ऐसा प्रकार दिखाने पर किन्तु अन्तर्भूत न तो उक्त लक्षण वाले
 अनुनास शब्दों में ही हो सकता है और न मनुष्य शब्दों में ही । अन्तर्भूत ध्वनि नाम का

ध्वन्यालोक

अन्ये व्यु — नाम्नेव ध्वनि । प्रपिद्धप्रम्यानव्यतिरेकिण्य काव्यप्रकारस्य कायवहाने, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दाद्यैर्भवत्तत्र काव्यलक्षणम् । न चास्ते प्रम्यानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तसम्मवति । न च तसमयान्तपातिन सहृदयान् काश्चिपदिक्लप्य तप्रमिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेश प्रवतिताऽपि सकलविद्वन्मनो-प्राहितामवलम्बते ।

दूसरा पण— सम्भवत दूसरे लोग कहें कि ध्वनि है ही नहीं क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार काव्य का सीमा में सत्रिविध नहीं हो सकता या कि प्रसद म्यान (गुण, अलंकार, रीति वृत्ति) से भिन्न है। सहृदयों का आनन्द देनेवाले शब्द और अर्थ स वृत्त होना ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रम्यान से भिन्न और कदा मार्ग है ही नहीं जिनमें वह लक्षण घट जाता है। ध्वनि सिद्धांत के अन्दर आने वाले (उसे स्वीकार करने वाले) कतिपय सहृदयों को कल्पना करके ध्वनि में यदि काव्य व्यवहार प्रवृत्त भी किया जाय तो भी वह सभी विद्वानों के मन का ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् समा सिद्धान्त सभी का मान्य नहीं हो सकता।

तारावती

प्रथम पण में यह निश्चय किया गया है कि ध्वनि न तो शब्द और अर्थ के स्वभाव वली (उनका ही स्वरूप) होती है और न उनकी चरणा में हेतु होती है। इसमें केवल इना ही सिद्ध होता है कि ध्वनि गुण और अलंकारों में सत्रिविध नहीं की जा सकती, उनमें भिन्न होती है। उनमें भिन्न होते हुए भी ध्वनि काव्य में समागतता का अधन कर सकती है। इसी अर्थ को लेकर द्वितीय अमन्ववाद की अवतरणा की गई है। इस पणालों का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति ध्वनि का शब्द अर्थ और उनके चरणा हेतुओं से वृत्तमान भी हो पर जैसी ध्वनि को आप लक्षित करना चाहते हैं वैसी सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि सिद्धान्तवादियों का कथन है कि ध्वनि काव्य को आना है। यदि ध्वनि को काव्य को आना सिद्ध करना है तो काव्य से शब्द कोई न कोई सम्बन्ध बतलाना ही पड़ेगा। जिस प्रकार मटरक में नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रसवृष्टि में सहृदयता ली जाती है किन्तु काव्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता वही प्रकार यदि ध्वनि नाम का कोई ऐसा पदार्थ है जो नृत्य गीत इत्यादि के समान ही काव्य का चरकारी होगा है तो उनका काव्य से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। काव्य उमें ही कहते हैं जो कविता का विषय हो सके। काव्य शब्द 'कवि वयो' शब्द से बना है जिसका अर्थ है शब्दों के द्वारा सौन्दर्य के साथ किसी विषय को निरूप करना। नृत्य गीत इत्यादि काव्य का विषय हो ही नहीं सकते, जो इहे काव्य में सत्रिविध करना उचित नहीं। इसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकता, जो उसे जो काव्य से सरस नहीं किया जा सकता।

ध्वन्यालोक

तस्मात्प्रवादमात्र ध्वनि । न त्वस्य क्षोदक्षम ताव किञ्चिदपि प्रकाशयितुं
शक्यम् । तथा चाप्यन कृत एवात्र श्लोक —

यस्मिन्नस्ति न चस्तु किञ्चन मन प्रह्लादि साछटकृति
भ्युपन्यैरचित न चैव घचनैवक्रोतिशून्य च यद् ।
काव्य तद् ध्वनिना समवितमिति प्रीत्या प्रशसन्नदो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुहृदिना पृष्ट स्वरूप ध्वने ॥

अतएव ध्वनि सवया प्रवाग्मात्र है । उसमें अधिक पीसने योग्य कोई भी वस्तु प्रवागित
नहीं किया जा सकता । यही बात परु दूसरे कवि ने इस प्रकार कही है—

जिसमें न ठा अलङ्कार से युक्त मन को प्रसन्न करनेवाली कोई बात है जो न विविध
बचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें बक्रोक्ति है जब छान घसी काव्य को प्रथम से ध्वनि
युक्त कह कर प्रशंसा करते हैं । नहीं पता यदि कोई पुष्पात्मा उनसे उसका स्वरूप पूछ दे
तो वे क्या बहेंगे ।

सारावली

प्रकारलेग गम् का आग्य यह है कि शब्द और अर्थ को विविधतायें अनन्त हैं—इस प्रकार
यदि यह मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध
लक्षणकार आचार्यों ने नहीं लिखलाया है तो भी उसका समग्र सामान्य लक्षण के द्वारा ही
ही जाता है । सामान्यतया ये हैं—काव्य गोभाकारक शब्दों को गुण कहते हैं और उसमें
विश्वता का आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं । शब्दता पूर्ण (चमत्कार
करण) गम् और अर्थ को अलङ्कार कहते हैं । ध्वनि ध्वनि कह कर नाचते फिरते
हैं इस वाक्य में दो बार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है इसमें सम्प्रथम श्वक
होता है शून्यते शब्द से ध्वनिवाचियों का ध्वनि सिद्धान्तविषयक आन्तर श्वक होता है ।
ये नाचने वाले हैं छानकार आचार्य ध्वनि सिद्धान्त को मान कर काव्य रचना करने वाले
कवि और उसको सुनकर चमत्कृत होने वाले सङ्ग । आग्य यह है कि ध्वनिसिद्धान्त को
आन्तर देने का कोई कारण नहीं । अन्य अलङ्कारों की यह रणा नहीं सुनी जाती इस
वाक्य में यह रणा का अर्थ है कि अन्य अलङ्कारों के प्रवृत्त न ता स्वयं दर्श करते हैं और
न दूसरे छग ही उनकी प्रशंसा काठ है वाचिकत्व शब्द का एक अर्थ यह भी हो सकता
है—प्रथम के स्थान पर अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें वाणी प्रवृत्त हुआ जाती है ।
(राजराज ने काव्य मीमांसा में यह पद्य उद्धृत किया है—

आसमारमुनारै क्विसि प्रतिदिनगृहानमाराऽपि ।

अद्याभ्यभिन्नमुद्रा विमाति वाचां परिस्पन्द ॥

अर्थात् यद्यपि सवार के प्रारम्भ से छेड़ उतर क्वि प्रतिदिन सार प्रवृत्त करने वाले

लोचनम्

यथाहि खड्गलक्षण करोमीत्युक्त्वा आठानविठानात्मा प्रात्रियमाण सकलदेहा
 प्लादक सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचित सवतंनविवतंनसहिष्गुरच्छेदक सुच्छेद्य
 उरकृष्ट खड्ग इति ध्रुवाण परै पट खल्वेवविधो भवति न खड्ग इत्युक्त्या पर्य-
 नुयुज्यमान एव ध्रुवात् ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति सादगेवैतन् । प्रसिद्ध
 हि लक्षण भवति न कल्पितमितिभाव तद्राह सकलविद्वदिति । विद्वांसोऽपि हि
 तन्ममयज्ञा एव भवियन्तीति शङ्का सकलशब्देन निराकराति । एव हि कृतेऽपि
 न किञ्चिंकृत स्यादुन्मत्तता पर प्रकटितेति भाव ।

‘खड्गलक्षण करूंगा’ यह कह कर ‘आठान विठान योग्य स्वरूप वाला, तह किश जानेवाला,
 सनस्य देह को ढकने वाला, सुकुमार, विचित्र तन्तुओं से बनाया हुआ, समेटने और फैलाने
 को सहन करने वाला, न काटनेवाला किन्तु मली मात्रि कट जानेवाला वांछ्य खड्ग होगा है’
 यह कहते हुए दूसरे के यह कह कर आश्रय किये जाने पर कि ‘इस प्रकार का वख होगा
 है खड्ग नहीं यह कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है । यह वैसा ही है ।
 आश्रय यह है कि प्रसिद्ध ही लक्षण होता है कल्पित नहीं । यही कह रहे हैं—सकल
 विद्वदिति । विद्वान् भी निम्सदेह उस (ध्वनि) के सञ्चैत को जानने वाले होंगे इस मझा
 का निराकरण सकल शब्द से किया है । (अर्थात् कुछ ऐसे भी विद्वान् निरु आवेंगे जो कि
 ध्वनि को मानते हों । किन्तु सबके न मानने से ध्वनि सिद्ध नहीं हो सकती ।) देमा किये
 जाने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा किन्तु तुम्हारी वामत्तता ही प्रकटित होगी, यह
 भाव है ।

तारावती

होता है । इसका उत्तर यह है कि यदि कोई विद्वान् ‘खड्ग का लक्षण करूंगा’ यह प्रतिज्ञा
 करके कहने लगे कि ‘जो लम्बा चौड़ा हो, तह किया हा, देह को ढकने वाला हो, सुकुमार
 हो, रंग विरगे तन्तुओं वाला हो, फैलाना समेटा जा सके उसे खड्ग कहते हैं ।’ दूसरे व्यक्ति
 के यह कहने पर कि ‘देखा खड्ग नहीं ऐसा तो वख होगा है’ वह आग्रह नवा ही चला
 जावे कि मैं तो उसे खड्ग ही करूंगा’ तो उस समय उसकी बात मानने को कोई न्यत न
 होगा । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आग्रह करता हो चला जावे कि ‘मैं तो काम्य की
 आत्मा को ध्वनि ही करूंगा’ तो दूसरे लोग उसकी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी
 उत्प न होंगे । लक्षण कभी कल्पित नहीं होगा न्द सर्वदा प्रसिद्ध ही होगा है । जो लोग
 प्रसिद्ध लक्षण की ठीक रूप में व्याख्या कर सकें वे ही उस शिष्य के पूर्व विद्वान् बडे जा
 सकते हैं, वे ऐसी व्याख्या को कभी स्वीकार नहीं कर सकते । यहाँ पर यह कहा जा सकता
 है कि कुछ विद्वान् ऐसे भी निरुल आवेंगे जो ध्वनि को ही काम्य की आत्मा मानेंगे । इसका
 उत्तर यह है कि कुछ लोगों के मन देने से ही ध्वनि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती । सनी

तारावली

ही नहीं, चाहे द्वितीय पद्य के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से लिख है तो वह शोभा हेतु नहीं हो सकती, चाहे तृतीय पद्य के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि को शोभाहेतु मान भी लें तो भी (अन्य नवीन अलङ्कारों के समान) उसके अधिक आर का कोई कारण नहीं, इन तीनों ही पद्यों में ध्वनि प्रवाद मात्र लिख होती है। यद्यपि अभाव वादों की सम्भावना मात्र की गई है तथापि यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल नहीं।

इसोक्ति ये यहाँ पर एक पद्य का उद्धरण दिया गया है, जो कि आलोचकार के इन सामयिक मनोरथ नामक कवि का बनाया हुआ है। 'जिसमें कोई अलङ्कार युक्त, मन को प्रसन्न करने वाली वस्तु नहीं है' इस वाक्य में 'अलङ्कार युक्त' हेतु है—क्योंकि उनमें, अलङ्कार नहीं होने अतः वे मन को आनन्द देने वाले भी नहीं होते। इससे उस प्रकार के काव्य में अर्थालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। 'विविध शब्दों से रचना नहीं की गई' से अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है अत्युत्तम सुन्दरता, वक्रोक्तिगुण्य शब्द का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से रहित। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ पर 'वक्रोक्ति गुण्य' शब्द से सभी प्रकार के अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योंकि वक्रोक्ति अलङ्कारों का सम्भाव्य लक्षण है। और उस सामान्य लक्षण से रहित होने का आशय है सभी प्रकार के अलङ्कारों से रहित होना। इस विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि अलङ्कारों के अभाव की बात तो पहले ही 'सालङ्कार' इत्यादि शब्दों के द्वारा ही कह दी गई, वक्रोक्तिगुण्य शब्द का भी वही अर्थ करने पर केवल पुनरुक्ति ही होगी इसका कोई समाधान नहीं किया गया। 'ध्वनि की प्रेम पूर्वक प्रशंसा करते हैं' इस वाक्य में प्रेम पूर्वक शब्द का अर्थ है एक दूसरे की देखा देखो ! क्योंकि शोक को भेड़वाला होता है और जो सिद्धान्त शोक में प्रचलित हो जाता है उसके प्रति लोगों में प्रेम प्रेम उत्पन्न हो जाता है। 'जिसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे उसका स्वरूप तथा बतलावेंगे' इस वाक्य में 'विद्वान्' शब्द का अर्थ यह है कि गुरुओं के पूछने पर तो बाद जो कुछ बतलाया जा सकता है, उन्हें प्रभुत्व और बतलावें इत्यादि के द्वारा उत्तर देकर ही जान लिया जा सकता है और उसका अनमता स्वरूप बतलाया जा सकता है।

यह पद्य मनोरथ कवि का बतलाया गया है, मनोरथ कवि का उल्लेख राष्ट्ररङ्गिणी में जयापीठ के राष्ट्रवृत्त के प्रसङ्ग में किया गया है। यदि ये वही जयापीठ है तो यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पहले ही ध्वनिकारिकार्ये लिखी जा चुकी थी। सम्भव है कि अतिरिक्त गुण का प्रचकार से अभिप्राय ध्वनिकार से ही हो सकता है यहाँ अन्य मनोरथ कवि हो।

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यया कथयेयुः—न मम्मत्रस्यैव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चिद् । कामनीयकमनत्रिवर्तमानस्य तस्योक्तिश्चैव चारुत्वहेतुध्वन्तर्मावात् । तेषामन्यत्रमस्यैव वा अर्धममाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् मम्मवत्यपि वा कस्मिंश्चिद् काव्यलक्षण-विधाविमि प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेने ध्वनिध्वनिरिति यदेतदलीकमहृदयस्व-भावनामुकलितलोचनैर्नृस्यते तत्र हेतुं न विद्मः । महृदयो हि महाभमिरन्यैर-लङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेया दशा श्रूयते ।

दोसरा पद्य—फिर सम्भवत दूसरे ठेग उसके अभाव को दूसरे ही रूप में कहे । (यह कह सकत है कि) ध्वनि नाम का कोई अर्थ वस्तु सम्भव नहीं है । यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रम नहीं करती । अतएव उसका उक्त रमणीयता हेतुओं में ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये । अथवा उसी में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जावे तो अर्थ नाम रख देने से ही उक्त पर बहुत कम कहना शेष रह जावेगा ।

दूसरी बात यह है कि वाणी के अन्तर् विकल्प हो सकते हैं । अतएव ऐसा कोई मूलन में सम्भव भी हो सकता है । जिसका परिमाण प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार आचार्यों ने न किया हो, किन्तु फिर भी असी सदृश्यत्व की भावना को लेकर वास्तविकता की ओर से अपनी आँखें मूढ़कर जो ये ठेग ध्वनि ध्वनि विच्छाते हुये मानते किन्तु हैं उसमें मुझे बोट अचिन्त्य दिखाने नहीं पड़ता । महाना आचार्यों ने सदृशों की सत्या में अलङ्कारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं । तथा सर्वथा में भी प्रकाशित किये जावेंगे । इनकी यह दशा सुनई नहीं पड़ती ।

लोचनम्

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतु , शब्दापंगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च तथापि ध्वनिरिय-मुया भाषया ज्योतिर्मित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयामाव-षाद्भुवन्यस्यति—पुनरपरे इति । कामनीयकमेति । कामनीयस्य कर्म । चारुत्वहेतु-मेति यावत् ।

(ध्वनि) निम्नन्दे यह चरित्र हेतु होने और शब्द अर्थ रुप और अलङ्कारों के अन्तर्भूत भी (होने) तथापि 'ध्वनि' समझने का उक्त भाषा के द्वारा 'जीवन है' यह हिम. के अंग नही कहा गया इन अभिप्राय का आशङ्का कर्के (उतर के रूप में) सुनिष बनाइएत के उद्वेग्य कर रहे हैं—पुनरपरे इति । कामनीयकमेति । कामनीय के कर्म को कामनीयक करते हैं । अतएव यह है कि चरित्र को मुँह उलान्न करने में करण्य ।

छायावली

उपविष्ट होता है। फिर अन्य अथवा तात्पर्य अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि मन्दाह में वर बनाया ही नहीं जा सकता। अन्यदानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण जब वाक्य अप्रमाणित हो जाता है और वक्ता का तात्पर्य किसी अन्य अर्थ (उत्) में प्रतीत होता है तब उस उत् अर्थ में लक्षणा कही जाती है। वास्तव में अन्यदानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है। क्योंकि यदि अन्यदानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज मानी जाये तो 'वर' शब्द में 'मगर' की लक्षणा कर देने से भी वाक्य की अनुपपत्ति जाती रहती है। अब तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये। तत्त्वार्थभाष के पहले शब्दाद्योपस्थिति भावद्वयक तथा अनिवाहं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपस्थिति के अभाव में तात्पर्यानुपपत्ति हा ही नहीं सकती। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) अत्रहत्त्वार्था या उपादान लक्षणा—जिस लक्षणा में लक्ष्यार्थ की मनीषा के साथ तात्पर्य की मनीषा भी होती रहती है, जैसे 'छाते जा रहे हैं' 'माले आ रहे हैं' 'बौआ से दही बचाओ' इन वाक्यों में छाता और माली का आना जाना असम्भव है। अतएव छाता का अर्थ छाता लिये दूये पुरुष और माली का अर्थ माला लिये दूये पुरुष हो जाता है। पुरुषों के साथ छाता और माला का आना जाना भी सम्भव ही है। इसलिये इस प्रकार की लक्षणा को अत्रहत्त्वार्था कहते हैं। इसी प्रकार बौआ से दही बचाओ इस वाक्य में 'बौआ' शब्द का लक्ष्यार्थ है—'दही को नष्ट कर देने वाला कोई पशु'। इन पशुओं के साथ बौआ का भी परित्याग नहीं होता। अतएव यह अत्रहत्त्वार्था लक्षणा है। (२) दूसरे प्रकार की लक्षणा होती है अत्रहत्त्वार्था या लक्षणाश्लेषा। इसमें लक्ष्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे 'गद्दा में वर' 'बुसियों और मचा रही हैं' इत्यादि वाक्यों में गद्दा और बुसियों इन वाक्यों के अर्थों का सर्वथा परित्याग हो जाता है और वनते 'उत्' तथा 'बुसियों पर बैठे आदमी' यह लक्ष्यार्थ निवृत्त आता है। यही लक्षणा को श्लेष मन्विया है। इसका अर्थ इस प्रकार है—एव एवम शब्दाद्योपस्थिति, फिर तात्पर्यानुपपत्ति और बाद में लक्ष्यार्थसम्बद्ध लक्ष्यार्थ की उपस्थिति। यहाँ पर वह ध्यान रखना चाहिये कि लक्ष्यार्थ सर्वथा लक्ष्यार्थ सम्बद्ध होता है।

लक्षणा के विषय में दो बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—(१) किन सम्बन्धों से लक्ष्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है? और (२) मुख्य शब्द का परित्याग कर लक्ष्य शब्द के प्रयोग में क्या कारण है? लक्ष्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में महर्षि गौतम ने लिखा है—

'सहस्रलक्षानतादर्थ्यं कृत्मानभारणसामीप्येणोत्पत्तौ भाषणस्य लक्षणात्कृतं चन्दनं प्रासक्तान् पुत्रैश्चैव द्वावेति तुष्यवात् ।'

लोपनम्

प्रकारोऽप्यमल्येय । प्रकारलेश इति । स हि चारुवहेतुगुणो वाऽलङ्कारो वा । स च सामान्यलक्षणेन सङ्गृहीत एव । यदाहु — 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति । तथा— वक्रामिधयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कारि' इति । ध्वनिर्ध्वनिरिति । धोप्यया सम्भ्रम सूचयन्ननादर दर्शयति— नृप्यत इति । तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तत्पुत्रयोर्दभू- तचमत्कारैश्च प्रतिपत्तभिरिति शेष । ध्वनिशब्द कोऽप्यादर इति भाव । एषा दर्शयति । स्वयं दर्पं परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थ । वाग्बिहत्या वाक्प्रवृत्तिहेतु प्रतिभाव्यापारा इति वा ।

और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार भी संख्यातीत है । प्रकार लेश इति । निम्नन्देइ वह चारुत्व में हेतु गुण या अलङ्कार (हो सकता है) और वह सामान्य लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत ही हो गया । जैसा कि कहा है— 'काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण होते हैं, उसको प्रतिपत्तना में हेतु तो अलङ्कार होते हैं, यह तथा 'वक्र अमिधेय और गम्ध की उक्ति वाणी के अलङ्कार (को सजा) के रूप में अमोठ है यह । ध्वनिध्वनिरिति । धोप्या (दो बार बचन) के द्वारा सम्भ्रम को सूचित करते हुये अनार दिखना रहे हैं— नृप्यत इति ।

उसका लक्षण करनेवाले, उससे युक्त काव्य की रचना करने वाले तथा उसमें उद्भूत चमत्कार वाले सङ्गृहणों के द्वारा यह शब्द (वाक्य में) शेष रह गया । भाग्य यह है कि ध्वनि शब्द में कौन बहुत अधिक भार है ? एषा दर्शयति । अर्थ यह है कि स्वयं दर्प और दूसरों के द्वारा मशुभा किया जाना । वाग्बिहत्या इति । भववा वाणी की प्रवृत्ति में हेतु प्रतिभा व्यापार के प्रकार ।

सारायती

पृथक् पदार्थ मानना ही चाहिये । इस मान का उत्तर पूर्व पत्र की बात मानते हुये मूल में 'वाग्बिहत्यानाम् एषा दर्शा भूयते' इन शब्दों में दिया गया है । यहाँ पर 'वाक् गम्ध' का प्रयोग किया गया है । वह शब्द 'वाक्' धातु से त्रिवृत् प्रत्यय हा कर बनता है । इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है— (१) कर्ता अर्थ में कर्त्तानि वाक् अर्थात् वा अर्थ को कहें उस 'गम्ध' को वाक् कहते हैं । (२) कर्म अर्थ में— 'उच्यते इति वाक्' अर्थात् वा कहा जावे उसे 'वाक्' कहते हैं । इस व्युत्पत्ति से अर्थ का बोध हो जाता है और (३) कर्म के अर्थ में 'उच्यते अनया इति वाक्' अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा अर्थ कहा जाये वह अर्थात् व्यापार' । इस प्रकार यहाँ पर वह भाग्य निकलता है कि शब्द की विविधता भी अनन्त प्रकार की जाती है, अर्थ की विविधता भी अनन्त प्रकार की होगी है और अर्थात् व्यापार की विविधताओं का भी परितस्मान नहीं किया जा सकता । मूल के

शोचनम्

मज्जते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोऽप्येवमेव इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादि । तत आगतो भाषो लाक्षणिकोऽर्थः । पदाहुः—

अभिधेयेन सामीप्यास्सारूप्यासमवायतः ।

वैपरीत्याक्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

भाक्त का अर्थ यह है—मज्ज किया जाता है वा पदार्थ के द्वारा सेवन किया जाता है अर्थात् प्रसिद्ध के रूप में उपदेशित किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं अर्थात् अभिधेय से सामीप्य इत्यादि धर्म उनमें (भक्ति से) आया हुआ भाक्त होता है अर्थात् लाक्षणिक अर्थ । जैसा कि कहते हैं—

‘अभिधेय के साथ सामीप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से और क्रियायोग से लक्षणा ५ प्रकार की मानी गई है ।’

तारावती

कथाभरण के अर्थ में तथा ‘कुण्ड’ (कुण्डों को बौनने कटा) का प्रयोग दध के अर्थ में । इन शब्दों के प्रयोग में न तो इनके मूल अर्थ की प्रतीति होती है और न प्रयोग के कारण का ही पता चलता है । इन शब्दों का शक्यार्थ के समान प्रयोग होता है । इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते हैं ।

दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती कहलाती है, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग विशेष प्रयोजन को लेकर हुआ करता है । जैसे यदि एक गाँव के अनेक व्यक्ति किसी स्थान पर चले जायें और उनको देख कर जो व्यक्ति यह कहने लगे ‘आज अमुक गाँव वहीं बसित है ।’ वही पर गाँव के व्यक्तियों के लिये ‘गाँव’ शब्द का प्रयोग सत्या की अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के मन्त्रम्य में किया गया है । ‘गाँव के बहुत से लोग’ इन शब्दों से सत्या की अभिव्यक्ति करने विनाद रूप में प्रतीति नहीं होती किन्तु व्यक्तियों के लिये ग्राम शब्द के प्रयोग से होती है । अतएव सत्या की अभिव्यक्ति की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है । इसी प्रकार ‘धी बौवन है’ इत्यादि उदाहरणों में समझना चाहिये ।]

लक्षणा के लिये भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है । इसी भक्ति शब्द से भाक्त शब्द बना है । भक्ति की व्युत्पत्ति कई प्रकार की हो सकती है । (१) ‘मन सेवाम्’ वागु से धर्म अर्थ में स्निग्ध शब्द होकर ‘जिसका मन्त्र या सेवन किया जाने’ यह व्युत्पत्ति होगी अर्थात् भक्ति सामीप्य इत्यादि धर्म धर्मों को कहते हैं जो कि लक्षणा की प्रतीति के निमित्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और शक्यार्थ करने कोष के लिये जिनका सहारा लेना है । अर्थात् बना वा बोझ लक्षणा की प्रतीति के लिये जिन सामीप्य इत्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की परालोचना किया करता है इन प्रसिद्ध सामीप्य इत्यादि धर्मों को भक्ति कहते हैं तथा इनसे प्राप्त होने वाला अर्थ भाक्त अर्थात् लाक्षणिक अर्थ कहलाता है । अभियुक्तों का

लोचनम्

मङ्गला विमर्ति नैकरव रूपभेदादय ध्वनिः ।

भक्तिव्याप्तैरधास्याप्तेन चासौ लक्ष्यते तया ॥ इति ॥

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ॥ इति ५ ॥

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तेऽङ्ग्यादयश्च । तैरपायैर्नृत्तिरर्थान्तरं यस्य,
तैरपायैर्नृत्तवा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्ति शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा घर्षणं
गुणवृत्तिरमुख्याऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति
वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दाधेन्यापारातिरिक्तो भासौ
कश्चित् । सुप्याधेऽभिधैवेति पारितोष्यादमुख्य एव ध्वनिः तृतीयराश्यभावात् ।

रूप भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकरूपता को धारण नहीं करती । अतिव्याप्ति
तथा अव्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षण भी नहीं होती । किन्ती एक ध्वनिभेद का यह
उपलक्षण (मले ही) हो जाये ।' यह भी ।

(गुणवृत्ति शब्द के अर्थ बढाये जा रहे हैं) गुण का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्म
तथा तैदृश्य इत्यादि उपायो से त्रित (शब्द) ही अर्थान्तर में वृत्ति हो अथवा उन उपायो से
शब्द ही त्रिमये (अर्थ में) वृत्ति हो उसे गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् शब्द अथवा अर्थ ।
अथवा गुणों के द्वारा वर्तमान होना गुण वृत्ति कहलाता है अर्थात् असुख्य अभिधा व्यापारः ।
यह बात कहो गई है—चाहे ध्वनिन करने वाले शब्द को ध्वनि बने चाहे ध्वनिन होने वाले
अर्थ को ध्वनि बने, चाहे ध्वनन व्यापार को ध्वनि बने, उपचरित (गुणवृत्ति) शब्द के
अर्थ व्यापार से भिन्न यह कोई शङ्क नहीं है । मुख्य अर्थ में अभिधा ही होती है, अतः
परिशील रहने से असुरय में ही ध्वनि होती है क्योंकि कोई तृतीय राशि होती ही नहीं ।

तारावती

है उसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार गीण और लाक्षणिक दोनों अर्थ भाक्त कहलाते हैं । (४)
भक्ति, मङ्गलानु से चित् प्रपय होकर भी बनता है श्रमवा अर्थ होता है मङ्गल करना वा
तोड़ना । श्रमणा में श्रम अर्थ को मङ्गल किया जाता है इसलिये इसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार
श्रमणा के तीनों तत्त्व मुख्य अर्थ का मङ्गल, निर्मल और प्रयोजन इस भाक्त शब्द से प्रयानि
गोबर हो जाते हैं । यही तीन श्रमणा के दोष हैं त्रिमये उपचरित प्रयोग हुआ है ।

'त भाक्तम्' 'ध्वन्यामानं गुणवृत्तिरिति' इन शब्दों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किन्ती
विशेष महत्त्व से हुआ है । दो पदों का सामानाधिकरण्य सदा एक धर्म का बोधक होता
है । यत्र वा आशय यह है कि ध्वनि गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से अभिन्न हुआ करते
हैं । ध्वनिवादी का कहना है कि ध्वनि और गुणवृत्ति पर भी व्यापारित होती है तथापि
गुणवृत्ति ही ध्वनि नहीं होती । यद्यपि अतिवृत्तिवशात् नम ध्वनि भेद में 'निश्चयान्ध

ध्वन्यालोक

भाष्यमाहुस्तन्मन्य । अन्य त ध्वनिसंश्लिष्ट कान्यामान गुणवृत्तिरित्याहुः ।

(अनु०) अन्य शाय वसे भाक्त कहते हैं अर्थात् अन्य लोग ध्वनिसंज्ञावाणी उस काव्य की आवाज को गुणवृत्ति कहा करते हैं ।

लोचनम्

एवमतःभावविकल्प्या शृङ्खलाक्रमयागता नवन्योन्यामभ्यह्ता एव । तथाहि तृतायामावप्रकारनिरूपणोपक्रम पुन शब्दस्यायमवामिप्राय । उपमहा रैक्य च सङ्गच्छत ।

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणवेन भूतत्वमुच्छम् । भाष्यवादस्त्वविरुद्धं पुन्यकवित्पमिप्रायण भाष्यमाहुरिति नित्यप्रवर्तमानापक्षयामिधानम् ।

इस प्रकार ये अभाव विकल्प शृङ्खलाक्रम से आये हैं एक दूसरे से असम्बन्ध ही नहीं हैं । यह इस प्रकार कि तृतीय अभाव प्रकार के निरूपण के उपक्रम में पुन शब्द का यही अभिप्राय है, असाधारण की प्रकृता मी (शृङ्खलाक्रम को मानने से) असङ्गत हो जाती है ।

अभाववाद का भाव है सम्भवता । अतः उसमें मूलकल कहा गया है । भाष्यवाद वा पुन्यको में विच्छेदन रहित (रूप में आया) है इस अभिप्राय से 'भाष्यमाहुः' इस नियमवृत्त वर्तमान की अपेक्षा करते हुये अभिप्राय किया गया है ।

तारावती

इस प्रकार ये अभाववाद के तीन रूप हैं । ये तीनों रूप शृङ्खलाक्रम से आये हैं, एक दूसरे से असम्बन्ध नहीं हैं । इसलिये तृतीय अभाववाद के उपक्रम में 'पुन' शब्द का प्रयोग किया गया है और तीनों रूपों का एक ही असाधारण किया गया है ।

अब छापवादा की टीकिये । पहले बतलाया जा चुका है कि कारिका में अभाववाद और अस्वरकल्पवाद के लिये 'अणु' और 'क्यु' इन शब्दों में प्रयोग मूल का प्रयोग किया गया है तथा छापवादा रूप के लिये 'आणु' इस वर्तमान काल का प्रयोग किया है । अभाववाद और अस्वरकल्पवाद का उल्लेख किसी विराट् पुस्तक में नहीं मिलता । अतएव सम्भवता मात्र से ही उन रूपों का उल्लेख कर लिया गया है । यही उन रूपों के साथ प्रयोग मूल के प्रयोग का रहस्य है । किन्तु छापवादा रूप अविच्छिन्न रूप में विभिन्न पुस्तकों में मिलता है । इसलिये उसके साथ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है । अभाववाद में मूलकल के साथ सम्भवता व्यक्त होती है । छापवादा रूप के साथ वर्तमान काल का प्रयोग उसके अविच्छिन्न प्रवृत्त को कहना है ।

[यहाँ पर सङ्घर्ष में छापवादा की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है । अब हम यहाँ में किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तब सर्व प्रथम उसके सङ्घर्ष अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य के प्रयोग करने पर यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ 'प्रवाह'

छोषनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिगुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति । अन्यो वेति । गुणालङ्कारप्रकार इति यावत् । दर्शयतेति—मद्भोज्यवामनादिना । मामहेनोक्तम्—शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इति । अभिधानस्य शब्दाभेदं व्याख्येयं मद्भोज्यो वामने—शब्दानामभिधानमभिधान्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति । वामनोऽपि सादृश्यारक्षणं चक्रोक्ति इति । मनाक् स्पष्ट इति । तैस्तावद्-ध्वनिदिगु-मीलिता यथाल्लिखितपाठ्यैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुंमनावनुबन्दितास्वरूपविवेको न घृत, प्रत्युतोपालम्ब्यत, अभग्ननारिकेजवत् यथाश्रुततद्गन्धोद्ग्रहणमात्रेणेति । अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति । यद्येव न याज्यत तदा ध्वनिमार्गं स्पष्ट इति पूर्वपक्षमभिधानं विरुध्यत ।

यह किसने कहा कि ध्वनि गुणवृत्ति होती है ? यह दावा करके कह रहे हैं—‘यद्यपि च’ इत्यादि । अन्यो वा इति । अर्थात् गुण और अलङ्कार वा प्रकार । दशम्यथा इति । अर्थात् मद्भोज्य वामन इत्यादि के द्वारा । मामह के द्वारा कहा गया—शब्द छन्द अभिधानार्थ - (काव्य हेतु है)’ ऐसा यहाँ पर शब्द से अभिधानभेद की व्याख्या करने के लिये मद्भोज्य ने कहा—शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा स्थापार मुख्य तथा गुणवृत्ति । वामन ने भी कहा—सादृश्य से लक्षणा बकोक्ति होती है ।’ मनाक् स्पष्ट इति । उन्होंने तो ध्वनि की दिशा का ब-मीलन किया था । जैसा लिखा बैसा पढ़ने वालों ने तो स्वरूप विवेक करने में असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक नहीं किया प्रत्युत् (बे छोग) बिना दूटे नारियल के फल के समान दशाश्रुत श्रवण को ग्रहण करने के ही द्वारा वनाभ्यं दे रहे हैं । इसीलिये कहते हैं—परिकल्पित करके इस प्रकार कहा है यह । यदि हम प्रकारकी योजना न की जाये तो ध्वनिमार्ग का स्पर्ण किया गया है यह पूर्णता का कदना विरुद्ध हो जाता है ।

सारावली

व्यापार के लिये अभिधा वृत्ति का नाम दिया जाता है और अमुख्य व्यापार अथवा उपचरित शब्दार्थ का गुणवृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है । तीसरी राँग हाती ही नहीं । अतएव अमुख्य व्यापार पर आधारित ध्वनि को भी गुणवृत्ति में ही सन्निहित किया जा सकता है । ध्वनि गुणवृत्ति से एकक् नहीं बहो जा सकती । यही भक्ति अथवा लक्षणा एव है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ने ध्वनिका गुणवृत्ति का नाम दिया है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ध्वनि शब्द का उन्मूलन कर किसी भी आचार्य ने गुणवृत्ति या गुण और अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रकाशित नहीं किया है तथापि काव्य में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार करते हुये मद्भोज्य वामन इत्यादि आचार्यों ने ध्वनि मार्ग का स्पर्ण

चारावती

इसका आशय यह है कि सहचरण इत्यादि १० सम्बन्धों से जो पद त्रिस अर्थ में शक्त नहीं होता है उस पद का उस अर्थ में भी प्रयोग कर दिया जाता है। ये १० सम्बन्ध निम्नलिखित हैं—

(१) सहचरण—जैसे 'छविवाँ जा रही है' 'छाते आ रहे हैं।' यहाँ पर पुरुषों के साथ छाते और छद्म भी जाते आते हैं। इसी सम्बन्ध से पुरुषों पर छवियों और छातों का आरोप कर दिया गया है। (२) स्थान (बैठना)—जैसे 'कुर्सियों शोर मचा रही हैं' यहाँ पुरुषों पर कुर्सियों का आरोप किया गया है क्योंकि पुरुषों का कुर्सियों पर बैठने का सम्बन्ध है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी निमित्त किसी वस्तु का होना—जैसे चट्टाई बनाने के लिये रखे हुये खन के लिये कोई चट्टाई शब्द का प्रयोग करे। (४) वृत्त या स्वरहार—जैसे 'यह राजा यम है' यहाँ पर व्यवहार को समानता के कारण राजा में यम का आरोप किया गया है। (५) मान या तौल का सम्बन्ध—जैसे 'एक सेर चावल' यहाँ पर सेर पर चावलों का आरोप इसलिये किया गया है क्योंकि चावल सेर से तौले गये हैं। (६) धारण करने का सम्बन्ध जैसे 'पर्वत जल रहा है' यहाँ पर पर्वत पर पर्वत का आरोप किया गया है क्योंकि पर्वत पर्वतों को धारण करते हैं। (७) साम्य सम्बन्ध—जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर तटके लिये गङ्गा शब्द का प्रयोग इसी लिये हुआ है क्योंकि तट गङ्गा के समीप है। (८) योग का सम्मिलनका सम्बन्ध—जैसे कृष्ण एक गुण है। किन्तु योग के कारण कृष्ण गुण का आरोप 'साटक' में कर लिया जाता है और लोग 'काली साठो' कहने लगते हैं। यहाँ पर साठी पर कृष्ण गुण का आरोप योग के कारण हुआ है। (९) साधन का सम्बन्ध—जैसे 'अन्न प्राण है' अन्न प्राण का साधन है, इसी लिये अन्न पर प्राणों का आरोप कर लिया जाता है। (१०) आधिपत्य सम्बन्ध—जैसे राजा के किसी नौकर के अधिमानी होने पर लोग कहते हैं 'हटो राजा साहब आ रहे हैं।'

उक्त समस्त सम्बन्धों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—सादृश्य सम्बन्ध और लक्ष्मि सम्बन्ध। किसी मूर्त मनुष्य को बैठ कहना सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि बड़ता मन्दता इत्यादि गुणों के सादृश्य के आधार पर ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुणों पर आधारित होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को गौणी लक्षणा कहते हैं। भिन्न सम्बन्धों में होनेवाली लक्षणा शुद्धा कहलाती है। इस प्रकार सम्बन्ध का दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

अब विचार करना है कि मुख्य शब्द के स्थान पर अनुस्य का प्रयोग होता क्यों है ? आचार्यों ने इसके दो कारण बतलाये हैं (१) परम्परा और (२) कोई प्रयोजन। कुछ शब्दों का प्रयोग अनुस्य अर्थ में स्वभावतः होने लगता है। जैसे 'मन्दर' (मँड पीने वाला) का प्रयोग विज्ञान के अर्थ में, 'दुष्कल' (दुष्ट को प्रहस्य करने वाला) का प्रयोग

ध्वन्यालोक

तेनैवविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमन प्रीतये तस्वरूपं मूम ।

(अनु०) अतएव इस प्रकार के मतमें के हाते हुये सहृदयों के आभा की जानने देने के उपाय से हम उसके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं ।

लोचनम्

सादेहेनापह्वयते । अदासवनपह्वयाना अपि रक्षयितु न जानत इति क्रमेण विषयासत्सद्हाज्ञानप्राधायमेतेषाम् । तेनेति । एकैकोऽप्यय विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हतुत्व प्रतिपद्यत हायकवचनम् । एवविधासु विमतिष्विति निधारणे सप्तमी । आसु मध्ये एकोऽपि यो विमत्तिप्रकारस्तनैव हतुना तस्वरूपं मूम इति । ध्वनिस्वरूपमभिधेयम् । अभिधानामिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयो व्युत्पात्तयुत्पादकमाव सम्बन्ध । विमतिनिवृत्त्या तस्वरूपज्ञान प्रयोजनम् । शास्त्रप्रयोजनयो साध्यसाधकमाव सम्बन्ध इत्युक्तम् ।

लिपाते हैं । अंतिम ल ग न लिपाते हुये भी लिखित करना नहीं जानते इस क्रम से इसके विपर्यास सादेह और अज्ञान की प्रधानता है । तेनेति । यह एक भी विप्रतिपत्तिरूप वाक्यार्थ निरूपण में हेतुता की प्राप्त हो जाता है इसलिये एक वचन का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार की विमतियों में इसमें निर्धारण में सप्तमी है इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उसका स्वरूप कह रहे हैं । ध्वनिरूप अभिधेय (विषय) है ध्वनि और शास्त्र का अभिधानामिधेय नामक (तथा) वचा श्रोता का व्युत्पात्त व्युत्पात्तक माव सम्बन्ध है विमतिनिवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है शास्त्र और प्रयोजन का साध्य साधनभाव सम्बन्ध है यह कहा गया है ।

तारावती

बनेरमिप्रायमगधगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु केतलम् ।

वर्णरङ्गै र्स्फुरोमविनिधैवजगत्सु तूष्णीं मवनोपमज्जति ॥

अर्थात् कवि का अभिप्राय शब्द से ग चर नहीं होता केवल आर्द्र पानी में ही स्फुरित होता है । जो शब्द उस अनिवचनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं और उनके रोममूत्र ही उस आनन्द को कहा करते हैं हम उन्हें हाथ लाय कर नमस्कार करते हैं)

ध्वनि विराधी यही लय, क ५ पग है । अचरोत्तर पग वालों की बुद्धि अधिक अच्छी है इनसे अभावशाली सबसे अधिक निरुष्ट कवि के हैं । क्योंकि अभावशाली को ध्वनि सिद्धांत का ज्ञान ही नहीं है । अभावशाली में सबसे अधिक निरुष्ट कवि के बल ग है जो ध्वन को सबसे अधिक शक्ति करते हैं । इनसे अच्छे बल ग है जो ध्वन का जानते ता है किन्तु उसको वाक्य से अभावशाली है । इनसे भी अच्छे बल ग है जो ध्वनि को वाक्य से सम्बद्धता जानते हैं किन्तु उसका अठमार्थ अन्वय करना चाहते हैं । किन्तु ये समस्त अभावशाली निरुष्टकवि में आते हैं यह पग विपर्ययमुक्त है । यद्विधाया मयम मधी

लोचनम्

गुणसमुदायवृत्ते शब्दस्यार्थभागस्तैश्च इत्यादिभिर्निमित्तैः, तत आगतो गौणोऽर्थः । मक्ति प्रतिपाद्ये सामीप्यतैश्च इत्यादिभिः अत्रातिशयं तो प्रयोजनस्वेनोद्दिश्यं तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च । मुख्यस्य अप्स्य भङ्गा भक्ति रित्यत्र मुख्यार्थवाधानिमित्तप्रयोजनमित्तिव्यसन्नाव उपचारस्योत्तमियुक्तं भवेति ।

काव्यात्मान गुणवृत्तिरिति । सामानाधिकरण्यास्यार्थं भाव—यस्य- निवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'नि श्वासान्ध इवादर्श' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदागमैव ध्वनि, तद्व्यतिरेकेणापि भावात् । विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्याम तथा च वक्ष्यति —

गुण समुदाय में रहनेवाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैश्च इत्यादि वा अर्थ भाग होता है उसे मक्ति कहते हैं, उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त करते हैं । प्रतिपादनाय सामीप्य तैश्च इत्यादि में अर्थात् अधिकता का भक्ति कहते हैं । उसको प्रयोजन के रूप में मानकर उससे प्राप्त होने वाला (अर्थ) भाक्त (होता है) इस प्रकार गौण और लाक्षणिक (दोनों भाक्त कहलाते हैं) और मुख्य अर्थ का भङ्ग (भी) भक्ति कहलाता है । इस प्रकार मुख्यार्थवाध, निमित्त और भवान्न इन तीन का हाना उरवार बोध है यह कदा हुआ हो जाता है ।

102252

काव्यात्मान गुणवृत्तिरिति । ('त भाक्तम् तथा 'त ध्वनिसक्ति' में) सामानाधिकरण्यात् वा यह भाव है—यस्य अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि भेद 'नि श्वासान्ध इवादर्श' इत्यादि में उपचार है तथापि तथाभा ही ध्वनि नहीं होती क्योंकि उनके अभाव में भी हा जाती है । विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद इत्यादि अविवक्षित वाच्य में भी उरवार ही होता है । ध्वनि नहीं यह हम भागे बलकर कहेंगे । उभी प्रकार (ध्वनिसार भी) कहेंगे—

तारावती

कहना है—(१) अभिप्रेत से सामीप्य सारूप्य समवाय वैरोल्य और क्रियायोग इन ५ सम्बन्धों में किसी एक से सम्बन्धित होने के कारण लगना ५ प्रकार की जाती है । (२) शब्द का व्यवहार गुणों के समुदाय में होता है अर्थात् शब्द स्वतन्त्र गुणों का प्रतिपादन किया जाता है । अतः शब्द का तैश्च इत्यादि वा अर्थभाग है उसे मक्ति कहते हैं क्योंकि उस अर्थभाग का सेवन किया जाता है । इस प्रकार गुणों के प्रतिपादन के कारण का 'स्य' अर्थ निकलना है उसे भाक्त करते हैं (३) मक्ति शब्द का अर्थ अर्थात् अधिकता भी है, अर्थात् बधनीय अर्थ सारूप्य तैश्च इत्यादि के प्रति अर्थात् अधिकता । [जैसे 'बधा अर्थ है' में बध्ने की उत्तरिणता का कथन करने से बला की विशेष अर्थात्] यहाँ पर सन्धीय शब्द का प्रयोग प्रमादवशा हो गया है; क्योंकि सामीप्य इत्यादि तो निमित्त है, बधनीय प्रयोजन नहीं हो सकते । ३ इस मक्ति को प्रयोजन के रूप में ठेकर भी अर्थ होता

छोपनम्

अथ धोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमन प्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह—तस्य हीति । विमतिपदपतितस्यैत्यर्थः । ध्वने. स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनमि आनन्दो निवृत्त्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्य पहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमान लमतामिति प्रयोजन सम्पादयितुं तस्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गति ।

अब श्रोता के अन्दर रहने वाले प्रयोजन, प्रयोजन के प्रतिपादक 'सहृदयमन प्रीतये' इस भाग की व्याख्या के लिये कह रहे हैं—'तस्य हि इति' अर्थात् विमति के पद में पढ़े हुये (ध्वनिस्वरूप) का ध्वनि के स्वरूप को लक्षित करने वाला के सम्बन्धी मन में आनन्द (प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाने) आनन्द ऐसा, जिसकी आत्मा है दु खों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है । प्रतिष्ठा का अर्थ है विपर्यास इत्यादि से उपहत (व्यक्तियों) के द्वारा उन्मूलन न हो सकने के कारण गिरता । (आनन्द प्रतिष्ठा को) प्राप्त हो जाने इस प्रयोजन के सम्पादन के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है, यह सङ्गति है ।

तारावती

अस्तु प्रबन्ध का श्रोताश्रो के दृष्टिकोण से प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को समझ देना । उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयमन प्रीति । इसी भाग की व्याख्या करने के लिये आलोचकारने 'तस्य हि ... आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' यह भाग लिखा है । इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'ध्वने स्वरूप लयापरां मनसि आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' । आनन्द का अर्थ है निवृत्तिमदक तब जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार भी हो सकता है । 'प्रतिष्ठा को प्राप्त हो' का आशय यह है—ऐसी गिरता को प्राप्त हो जाने जिसका उन्मूलन विपर्यास इत्यादि के द्वारा उपहत बुद्धि वाले (अभाववादी इत्यादि) न कर सकें । 'प्राप्त हो' का आशय यह है कि प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है ।

'तेन तस्वरूपं ज्ञम्' इस वाक्य से यह अर्थ भी जाता है कि विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप का निर्वचन करना अस्तु रचना का प्रयोजन है । किन्तु यह प्रयोजन मुख्य नहीं है अर्थात् मुख्य प्रयोजन प्रीति ही है । स्वरूपज्ञान रूप प्रयोजन प्रीति का अङ्ग मात्र है । इन दोनों प्रयोजनों को वहाँ पर एकतावता हो जाती है । प्रयुक्त शब्द धातु से स्पष्ट होकर प्रयोजन शब्द निष्पन्न हुआ है । 'प्रयुक्ते प्रयोजनीति वा प्रयोजनम् ।' अर्थान् जो प्रयुक्त करे वा प्रयोजित करे उसे प्रयोजन कहते हैं । आशय यह है कि प्रयोजन का प्राप्त हो यह है कि विवेचनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करे वा प्रीति करे । जिससे कारण परिशीलक किसी विवेचनीय वस्तु के परिशीलन की ओर उन्मुख होगा है उसे ही

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चिद्व्यकार प्रकाशितः तथापि अमुर्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाह् स्मृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्त-
मन्ये' इति ।

(अनु०) यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न और ही कोई प्रकार बतलाया है । तथापि अमुर्य वृत्ति से काव्यों में व्यवहार दिखाने लिये उसका—ध्वनि वचन का कुछ दृष्टे अवश्य किया या जिसको प्रवचनों आचार्यों ने नहीं लक्षित कर पाया तथा उन्होंने भी लक्षण नहीं बनाया था । यहाँ कल्पित कर बड़ा गया है 'उसे कुछ लोग ध्वनि बतलाते हैं ।'

तारावती

स्वारसं' इत्यादि स्थानों पर लक्षणा का सहारा लिया जाता है तथापि लक्षणा ही ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि विविधितान्वरत्वाव्य इत्यादि ध्वनिमेंदों में बिना ही लक्षण के ध्वनि हो जाते हैं । अविशितवाच्य में लक्षणा होती है किन्तु केवल ध्वनि ही नहीं होती यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी । (दे० प० उद्योत की १४ वीं तथा १९ वीं कारिका 'मन्वालक्ष्यते तया' और 'कन्य चिन्उपलक्षणम्') ।

[आलङ्कारिक लोग दो प्रकार की लक्षणा मानते हैं शुद्धा और गौणी । किन्तु मोमाचरक लोग गौणी वृत्ति को लक्षणा से पूर्वक मानते हैं । ऊपर दिखलाया जा चुका है कि मक्ति शब्द से जहाँ लक्षणा के तीनों बात गतार्थ हो जाते हैं वहाँ गुणवृत्ति का समावेश भी मक्ति शब्द में हो जाता है । जो लोग ध्वनि का लक्षणा में सन्निवेश करते हैं उनका मन्वय यह है कि जहाँ कहीं शब्दवाच्यार्थव्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ का प्रतीति होता है उस सबका समावेश मक्ति लक्षणा या गुणवृत्ति में ही हो जाता है । दूसरी बात यह है कि ध्वनि की समस्त विशेषतायें गुणवृत्ति शब्द में भी विद्यमान हैं ।] गुणवृत्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) गुण शब्द का अर्थ है सामान्य इत्यादि तीक्ष्णता इत्यादि धर्म । इन उदाहरणों से जिस शब्द को दूसरे अर्थ में वृत्ति या व्यवहार हो उस शब्द को गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् लक्षण शब्द । (२) उन उदाहरणों से जिस अर्थान्तर में शब्द का व्यवहार हो वह लक्ष्यार्थ अथवा । (३) गुण के द्वारा वर्तन करना या व्यवहार करना अर्थात् अनुसृत्य अभिधा (लक्षणा) व्यापार । इसी प्रकार ध्वनि शब्द के भी तीन अर्थ हो सकते हैं— (१) जो ध्वनित ही अर्थात् शब्द; (२) जो ध्वनित किया जाये अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ और (३) जिस प्रक्रिया के द्वारा ध्वनित किया जाये अर्थात् व्यङ्ग्यना व्यापार । इस प्रकार ध्वनि और गुणवृत्ति इन दोनों शब्दों में एक से अर्थ हो निकलते हैं और ध्वनि शब्द के तीनों अर्थ गुणवृत्ति शब्द से भी गतार्थ हो जाते हैं । आतंश यह है कि शब्द के दो ही व्यापार होते हैं मुख्य और अनुसृत्य । मुख्य

तारावती

प्रयोजन कहते हैं। पाठक ध्वनिस्वरूपान के लिये प्रस्तुत रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा और श्रोता के लिये स्वरूपान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एक-वाक्यता है।

यहाँ पर आठोक्तकार ने स्वरूप शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुये ध्वनि विरोधी पौर्षो सिद्धान्तों का निराकरण करने पर एक सूत्र दृष्टिगत किया है। वह ध्वनि समस्त सत्त्ववियों के काव्य में उपनिर्द्भूतप्रधान तत्त्व है—अतः वह कोई नहीं कह सकता कि वह थोड़े से विचारकों द्वारा मंचलित अलङ्कारों का ही नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है। 'वह तत्र ध्वन्यत्र रमणीयं है' इससे लक्षणा पत्र का स्पष्टछेद हो जाता है। 'गङ्गा में घर' भाटक मिह' इत्यादि लक्षणा मूलक वाक्यों में कोई रमणीयता नहीं होती जबकि ध्वनिकाव्य व्यञ्जन रमणीय हुआ करता है। 'एक नया नाम रख देने से क्या लाभ? इस कथन का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'वह तत्र भगवन्तत्काव्यो का उपनिर्द्भूत है। कुछ लोग कहते थे कि 'उस ध्वनि काव्य का अन्तर्भाव गुण अथवा अलङ्कार में कर दिया जाना चाहिये।' इन्हीं लोगों का प्रतिवाद करने के लिये आचार्य ने लिखा है—कि उसका निराकरण सूत्र से सूत्र कवि बुद्धि ने भी कभी नहीं कर पाया।

कतिपय आचार्यों ने यह वह कर उसे सामयिक बलप्रति या कि 'कतिपय सद्गुरुओं के मान लेने मात्र से ध्वनि का स्वरूप गिरता को प्राप्त नहीं हो सकता। इन लोगों का निराकरण करने के लिये कहा गया है—रामायण महामग्नत प्रभृति समस्त सप्तकाव्यों में एकका आदर किया गया है। और आदि कवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है। अतएव ध्वनि केवल कतिपय सद्गुरुओं की मान्यता का विषय नहीं है।' पौर्षो पत्र यह था कि 'वह ध्वनि वाणी का विषय नहीं हो सकता।' इस पत्र का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'कतिपय आचार्यों उसका निरूपण लक्षण के द्वारा करना चाहते हैं' 'लक्ष' धातु में धञ् प्रत्यय हो कर लक्ष बनता है। 'लक्ष्येऽनेनेति लक्षो लक्षणम्।' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते हैं अर्थात् लक्षण। इस लक्ष की गिञ् प्रत्यय द्वारा क्लृप्ता बनाई गई है। लक्ष या लक्षण के द्वारा किमी तत्त्व का निरूपण करना 'लक्षप्रियाका अर्थ है। उसका धातुप्रत्ययान्त रूप बना है 'लक्षयन्' अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले।

['लक्षयन्' का उक्त व्याख्या पर श्री महादेव शास्त्री ने दिव्याञ्जन टिप्पणों में लिखा है—'यहाँ पर कारण में धञ् दुर्लभ है क्योंकि लुट् प्रत्यय के द्वारा उस का वाच हो जाता है। किन्तु महामाध्यकार ने 'उपदेशोऽनुनासिक' इस सूत्र के उपदेश शब्द की श्रुति में कारण में धञ् माना है। उन्हीं आधार पर लक्ष धातु से बाहुल्य का आशय लेकर कारण में धञ् किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा भासता है कि 'लक्षयन्' का सौधा अर्थ

ध्वन्यालोकः

केचिपुनलक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सद्ददयद्ददय-
संवेद्यमेव समाख्यातघन्तः ।

(अनु०) कुछ लोगों की बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे ध्वनि के तत्त्व को बाणी की शक्ति से परे सद्ददयद्ददयसंवेद्यमान ही बतलाते हैं ।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति अग्रगल्भमतय इत्यर्थः । पृते च त्रय उत्तरोत्तरं मन्य-
बुद्धयः । प्राप्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा । मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि
शालीन बुद्धय इति । अर्थात् अग्रगल्भ मतिवाले । ये तीनों उत्तरोत्तर मन्य बुद्धि वाले हैं ।
पहले के लोग (अमात्रवादी) सर्वथा विपर्यस्त हो गये अर्थात् विपर्यय घान से युक्त हैं और
वास्तविक तत्त्व से अनभिद्य हैं । बीच के लोग उसके रूप को जानते हुये भी सन्देह से उसे

तारावती

अवश्य किया था । मानह ने काव्य हेतुओं का परिगणन कराते हुये लिखा था 'शब्द, छन्द
अभिधान, इतिहासाभिव कथा, लोकोक्ति और कला ये काव्य के हेतु होते हैं । (१-९)
इस कारिका में शब्द आर अभिधान दोनों शब्दों का पृथक् पृथक् उपादन हुआ है । अतएव
इन दोनों शब्दों के भेद की व्याख्या करते हुये यदोद्भट ने लिखा—'अभिरान शब्द का
अर्थ है शब्दों का अभिधा व्यापार । वह दो प्रकार का होता है—मुख्य तथा गुणयुक्ति ।'
मानह ने भी लिखा था—'सादृश्य में होनेवाली लक्षणा को बकोक्ति कहते हैं । इस प्रकार
मानह ने अभिधान शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का कुछ स्वर्ण भरपूर किया था । उन्होंने
केवल ध्वनि को दिशा का उन्नोहन किया था । किन्तु व्याख्याता लोगों ने बीता पढ़ा था
उसका बीते का बीता ही अर्थ कर दिया । वे उसके स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ थे;
अतएव उन्होंने उसका स्वरूप नहीं समझ पाया । अब वे ही लोग उसे व्याख्यम दे रहे हैं ।
जिस प्रकार कोई व्यक्ति नारियल की बाहरी कठोरता को ही नारियल की वास्तविकता समझ
जावे उसे सोझर उसके आन्तरिक-वास्तविक स्वाद को जानने की चेष्टा न करे । यही दशा
उन व्याख्याताओं की हुई जिन्होंने बीता सुना था बीता ही ग्रहण कर लिया उसके रहस्य को
जानने की चेष्टा नहीं की । आशय यह है कि पुराने व्याचार्यों ने इस बात की ओर सङ्केत
किया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्त्व हैं । व्याख्याताओं की अज्ञानधानता के कारण
उसकी ठीक व्याख्या नहीं हो सकी । इस सन्दर्भ की देती ही योजना करनी चाहिये;
नहीं तो पूर्व पद्य के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्वर्ण की बात कहना ठीक नहीं होगा ।

पाचर्षी पद्य असास्वरलक्ष्यध्वन्यादियों का है जिनकी बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार
है कि वे कहते हैं उस ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता । सुकुमार का आशय है—'उनकी
बुद्धि प्रगल्भ नहीं ।'

(असास्वरलक्ष्यध्वन्यादियों का मत निम्नलिखित पद्य से भी स्पष्ट होगा है—

लोचनम्

ध्वनिनांमापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनाश्रयः ।

तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येऽश्रयं न रूपता ॥ इति ॥

तदपहस्तित भवति । तथा अमिधाभावनारसचवर्णांमकेऽपि श्र्यंशे काव्ये रसचवर्णा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं स्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगमाक् । इति ।

तद्वत्स्वस्वरूपध्वन्यमिप्रायेणारमाश्रयमिति सिद्धसाधनम् । रसध्वन्यमिप्रायेण तु स्वाम्युपगमप्रसिद्धसवेदनविशुद्धमिति । तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या । यदाह—'कीर्ति स्वर्गफलाभाहु' इत्यादि । ध्योतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्त, यथोक्तम्—

'और जो ध्वनि नाम का भी व्यञ्जनात्मक व्यापार (बतनाया गया है) उसके (अमिधा और भावना दो) भेद सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में अंशरव ही होगा (काव्य) रूपता नहीं होगी ।'

वह निराश्रुत हो जाता है । वह इस प्रकार कि अमिधा भावना और रस आत्मावाले तीन अश्रो से युक्त काव्य में रसचवर्णा जीवरूप में स्थित है, इस विषय में आरक्षो भी विवाद नहीं है । जैसा कि आपने ही कहा है—

'काव्य में सभी रस लेनेवाले होते हैं न शानाजनं करनेवाले और न (उचित कार्यों में) निशुक्त होनेवाले ।'

इतोलिये वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि के अभिप्राय रहे (यदि) अश्रयमात्र (मानो) तो सिद्ध बात पर ही सिद्ध करना है । रसध्वनि के अभिप्राय से शा अपने सिद्धान्त, प्रसिद्ध और सवेदन के विशुद्ध है । उसमें कवि की प्रीति से भी प्रीति ही सम्पादन करने योग्य होती है । जैसाकि कहा है—'कीर्ति श्वे स्वर्ग फलराती करते हैं' जैसा कि कहा गया है—

सारावती

अश्र ही होगा काव्य का स्वरूप कभी नहीं हो सकता ।' इसका निराकरण स्वतः ही जाता है । वह इस प्रकार—रस, अलङ्कार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की बतलाई गई है, उनमें रस चवर्णा ही काव्य का अंशरव होता है इस विषय में तो मूढ नायक को भी विवाद नहीं है । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'काव्य में न तो शान ही प्रधान है और न उपदेश ही । उसमें एकमात्र रस ही प्रधानता है । यदि ध्वनि को अश्र मानने से मूढ नायक का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनिवां अश्र होती हैं तो भी कुछ हमने कहा है वगैरे को वे भी सिद्ध कर रहे हैं । यदि उनका अभिप्राय रस ध्वनि को अश्र मानने से है तो वे स्वयं अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विशुद्ध जा रहे हैं, प्रसिद्धि के भी विशुद्ध है और अश्रदो के स्वसवेदनसिद्धि रस के भी विशुद्ध है ।

आनन्द शब्द से काव्य के प्रबोधन पर भी महत्ता पड़ता है । यद्यपि आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रबोधन माने हैं तथापि उनमें आनन्द की ही प्रधानता है । कवि के दृष्टिकोण से

ध्वन्यालोक

तस्य हि ध्वने. स्वरूपं सकलकविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसी-
मिरपि चिन्तनकाव्यलक्षणविधाधिनां बुद्धिमिरनुन्मोलितपूर्वम्, अथच रामायण-
महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्ष्यतां महद्दयानामानन्दो
मनसि लभतां प्रतिष्ठापिति प्रकाशयते ॥ १ ॥

(अनु०) उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व
है तथा यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है। दर्पण आचार्य लोग प्राचीन काल से ही काव्य
लक्षण करते चले आये हैं। किन्तु उन ध्वनि का उन्मूलन कभी भी सूत्र से सूत्र बुद्धि में
भी नहीं कर पाया। रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध व्यवहार वाली उस
ध्वनि का लक्षण बनाकर जो लोग निरूपण करना चाहते हैं। उन सद्दश्यों के हृदयों में
आनन्द पूर्ण प्रविष्टा तथा स्थिरता को प्राप्त होवे।

वारावली

के हैं। क्या कि वे ध्वनिको समझते तो हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे ग्यान पर कर देने हैं
जहाँ उमका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। यह पद्य सन्देहमूलक है। अज्ञानवक्तव्यवादी
उसका अन्तर्भाव नहीं करनी चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना नहीं आता। अतः
वे पूर्वोक्त दोनों पदों से अच्छे हैं। यह पद्य अज्ञान प्रधान है। यहाँ पर 'तेन' इस शब्द में
'तत्' शब्द का तृतीया का एक वचन है। 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त दोनों वादों का सद्गुण
हो जाता है। तृतीया से हेतुवा सिद्ध होती है और एक वचन से सिद्ध होता है कि विरोधियों
का प्रत्येक वास्तव्य प्रत्येक ध्वनि निरूपण में हेतु है। अतएव यह है कि 'ध्वनि का
स्वरूप बनाना है' इस वाक्य का तीनों वाक्यों के साथ सम्बन्ध होता है। 'बुद्धि लोभ ध्वनि
का अभाव बनाने है' इसलिये हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं 'बुद्धि लोभ उसे
लक्षण कृति के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं' इस लिये हम उसका स्वरूप बनाने हैं।' इस
प्रकार हम वाक्यांश का तीनों के साथ सम्बन्ध होगा।

'इस प्रकार की विभक्तियों में' इसमें निर्धारण (बहुतो में एक इस अर्थ में) में सक्तनी
है। इन विभक्तियों में आ एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की
जा रही है। यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप विषय है। सद्दशय अधिकारी है। वैग्य के निराकरण
के साथ ध्वनिस्वरूप अज्ञ प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साधक साध्यभाव सम्बन्ध
है। शास्त्र साधक है प्रयोजन साध्य अथवा ध्वनि और शास्त्र का अभिभावकभिनेत्र मात्र
सम्बन्ध है। ध्वनि अभिनेत्र है और शास्त्र अभिभावक है। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता का
श्रुत्यादक-श्रुत्याद्य भाव सम्बन्ध है। वक्ता श्रुत्यादक है और श्रोता श्रुत्याद्य, वही श्रोता
कर का अनुवचन अनुष्ठय है।

लोचनम्

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम । तेन स आनन्दवर्धनाचार्यं पृथक्छास्त्र
द्वारेण सहस्रहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायत्ननादिवदनद्वरीं स्थितिं गच्छस्त्विति भावः ।
यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिव सन्निबन्धविधायिनाम् ।

आस्त एव निरातङ्ग कान्त काव्यमयं वषु ॥ इति ॥

यथा मनसि प्रतिष्ठा पूर्वविधमस्य मन सहस्रदयच्छत्रवर्ती खल्वय ग्रन्थ-
कृदिति यावत् यथा 'युद्धे प्रतिष्ठा परमाजुंनस्य' इति स्वनामप्रकटीकरण
श्रोतृणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुख्येति ग्रन्थान्ते घट्ट्याम ।
एव ग्रन्थकृत कवे श्रोतुदच मुख्य प्रयोजनमुक्तम् ॥ १ ॥

आनन्द इति । आनन्द सह ग्रन्थकार का नाम है । इससे वे आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र
के द्वारा सहस्रदयो के हृदयों में प्रतिष्ठा अर्थात् देवमन्दिर के समान न नष्ट होनेवाली स्थिति
का प्राप्त हों, यह भाव है । जैसा कहा गया है—

'स्वर्ग को गये हुये भी अन्ध निरप के बनानेवालों का कसनीय काव्यमय शरीर
आतङ्गरहित विद्यमान ही रहता है ।'

जिस प्रकार (सहस्रदयो के) मन में प्रतिष्ठा हो इसप्रकार का इनका मन है, आशय यह
है कि यह ग्रन्थकार निरस्य देह सहस्रदयच्छत्रवर्ती है । जैसा 'युद्ध में अजुंन को बड़ी प्रतिष्ठा है ।'
यह अपने नाम का प्रकट करना (बहुत बड़ी) सम्भावना का विश्वास व्यक्त करने के द्वारा
प्रवृत्ति का अङ्ग है । यह ग्रन्थ के अन्त में हम करेंगे । इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता
का मुख्य प्रयोजन कहा गया है ॥ १ ॥

पारावती

चतुर्वर्षफलात्पादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्मकारो विदन्वते ॥

यही आनन्द शब्द का अर्थ है । 'आनन्द' आनन्दवर्धनाचार्य ग्रन्थकार का भी नाम
है । इसप्रकार हमका आशय यह है कि आनन्दवर्धनाचार्य सहस्रदयो के हृदयों में वही
प्रकार प्रतिष्ठा को प्राप्त हों जिस प्रकार देवताओं के मन्दिरों में देवताओं को अशुभ प्रतिष्ठा
होती है । कहा भी है—

आशय यह है कि ग्रन्थकार का मन तथा यह शास्त्र इस प्रकार का है इसकी प्रतिष्ठा
सहस्रदयो के मन में हो सके । अर्थात् ग्रन्थकार निरस्य देह सहस्रदयच्छत्रवर्ती है । प्रतिष्ठा का
अर्थ है अशुभिक सम्मोहपूर्ण स्थिति । जैसे— अजुंन को युद्ध में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है ।'
यह हम प्रायः के अन्त में करेंगे कि यहाँ पर ग्रन्थकार ने अपना नाम इतलिय लिया है कि
सहस्रदयो के हृदयों में ग्रन्थकार के प्रति सम्मान की भावना तथा आशय युद्ध उन्मत्त हो जाये

लोचनम्

प्रयोजन च नाम तत्त्वम्पादकवस्तुप्रयोनृताप्राणतयैव तथाभवतीत्याशयेन प्रीतये तत्स्वरूपं त्रम इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाण सङ्क्षेपेण तावत्पूर्वादिरिति विकल्पपद्मकोद्वरणं सूचयति—सकलेश्यादिना । सकलेश्यान्देन सत्त्वविशब्देन च प्रकारलेशे कस्मिंश्चिदिति निराकरोति । अति रमणीयमिति भाष्याद्वचतिरेकमाह । 'नहिं सिंहो वदु' 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र रम्यता काचित् । उपनियद्गतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम् । अणोपसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारान्तभूतत्वं सूचयति । अथ चेत्यादिना 'तत्समयान्त पाठिन' इत्यादिना यत् भामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशी-करोति । रामायणमहामारतशब्देनादिकवे प्रभृति सर्वैरेव सूरिमिरस्यादरं कृतं हृति दर्शयति 'लक्षयता' नित्यनेन 'वाचा' स्थितमविषये इति परास्यति । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् । लक्षणे निरूपयन्ति लक्षणन्ति । तेषां लक्षण-द्वारेण निरूपयतामित्यर्थः । सहृदयानामिति । येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशा-द्विशादीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता तै स्वहृदयसवाद्भावा सहृदया । ययोक्तम्—

प्रयोजन हो उसके द्वारा सम्पादनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करना ही प्राण होने से बैसा (ठोक रूप में प्रयोजन) होता है इस आशय से 'प्रीति के लिये उसका स्वरूप दर्शा रहे है' इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये । उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुये सङ्क्षेप में पहले बतलाये हुये पाचों विकल्पों का उद्धार सूचित कर रहे हैं— सकलेश्यादि । 'सकल शब्द सत्त्ववि शब्द के द्वारा—कोई प्रकार ऐसा सम्भव भी हो' इसका निराकरण कर रहे हैं । 'अत्यन्त रमणीय' इससे 'मातृ' (लाक्षणिक) से प्रयुक्त करते हैं । 'बहु सिंह है' 'गङ्गा में घर' इन में कोई रमणीयता नहीं हो है । 'अपुन्यभूत' इस शब्द के द्वारा 'अपुन्यनामनाथ का रखना' इसका निराकरण कर दिया । 'अत्यन्त अणु भी ..' इत्यादि के द्वारा गुण और अङ्कुर में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सूचित करते हैं । 'अथवा रामायण प्रभृति...' इत्यादि के द्वारा जो इसके होने की शङ्का को गईं गो उसका निराकरण करते हैं । 'रामायण महामारत' इत्यादि शब्दों के द्वारा 'अदि कवि से लेकर सभी कवियों ने इसका आदर किया है' यह दिखाने हैं । 'लक्षित करने वाले' इसके द्वारा 'वाचा' के विषय में स्थित नहीं है' इसको परास करते हैं । जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उसे लक्ष्य कहते हैं अर्थात् लक्षण । लक्ष से निरूपित करते हैं (उसका कहेंगे) लक्षित करते हैं । उन सरका अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करनेवालों का । सहृदयानामिति । काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विशद हुये मनोमुकुर में वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है वे अपने हृदय से सनाद (वर्णनीय वस्तु से प्रकृतिरूप) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते हैं । जैसा कि कहा है—

लोचनम्

'शब्दार्थशरीरं काव्यमिति' यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्रागङ्गन भाव्यमव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरमात्रं एव सखिविशते सर्वजनसवेध-धर्मत्वात्स्युद्धृशादिवत् । अर्थं पुन सकञ्चजनसवेधो न भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपद्रव, लौकिकवैदिकवाक्येषु तद्भावात् । तदाह—सहृदयश्चाप्य इति । न एक एवार्थो द्विशारतया विवक्तिमिर्विभागबुद्ध्या विभाज्यते । तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदया श्लाघन्ते ? तन्नवितस्य तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशय, स प्रतीयमानमागो विवेकिमिर्विशेषहेतुत्वादात्मैति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसबलनाविमोहितहृदयैस्तु तन्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चावाकैरिवामपृथग्भावे । अत एव अर्थं हृत्प्रेकतयोपक्रम्य सहृदयद्वयाप्य इति समानता क्विदा गण या' इमका पुत्र का रहे है । 'कान्य शब्द और अर्थ शरीरवाला होता है' यह वा कदा ग्या वा, 'ममे शरीर ग्रहण से ही उसकी अनुप्रापक को ब्र आया होनी ही चाहिये । उसमें शरीर वा शब्दमात्र में ही सखिविज्ञ हो जाता है क्योंकि शूल और हृत् के समान सर्वजनसवेध धर्मवाला (तो वही) है । इसके प्रतिबुद्ध अर्थ सर्वजनसवेध नहीं होता । निम्नन्देह अर्थ मात्र से ही काव्य का नाम नहीं पड़ जाना क्योंकि लौकिक वैदिक वाक्यों में वह शत नहीं होती । वही कह रहे हैं—सहृदयत्वाप्य इति । वह एक ही अर्थ वा शब्दवाच्यो के रूप में विवेकियों के द्वारा विभाग बुद्धि से विभक्त किया गया है ।

वह इम प्रकार—अर्थरूपता के समान होने दूये भी क्या कारण है कि किमी को ही सहृदय लोग श्लाघा करते हैं । तो उसमें कुछ विशेष होना चाहिये । जो विशेष है वह प्रतीवमान भाग विशेष होने के कारण श्रुतियों के द्वारा आया के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है । वाच्यार्थ मम्मिष्टन से विमोहित हृदयवालों के द्वारा ही उसके पृथक् होने में विनियमित उद्यम जाती है जैसे वाच्यको के द्वारा आया के पृथक् होने में (अर्थात् उद्यम

वारावली

प्रवचन के दात हुए । मूढका शब्द का अर्थ है मूढ के समान । अर्थात् एक प्रकार है, त्रिम प्रकार नहीं मानना का निर्माण करने के लिए पहले मूढ तैयार की जाती है, वही प्रकार ध्वनिकी माया के लिए मूढका के रूप में निर्दिष्ट सिद्ध वाच्यार्थ का अभिधान किया गया है । अर्थात् अर्थ का अर्थ मात्र प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के आधार पर ही प्रतीयमान होता है । वाच्यार्थ के समकम प्रतीयमान अर्थ को गिनाने का आशय यह है कि त्रिम प्रकार वाच्यार्थ का अर्थ मात्र नहीं होगा वा सकल वही प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी अर्थ मात्र नहीं हो सकता । अर्थात् मी मूढी शब्द आया है—इमका अर्थ यह है कि मनु शब्द धर्मवाच्यकारी न त्रिम प्रकार श्रुती लिंगी है वही प्रकार सहृदयत्वाप्य अर्थ के दो मेटो का प्रवचन पुगने आचार्यों ने किया है । इमसे यह बात स्पष्ट हो गई कि 'अर्थात् पहले समानता की वा बुद्धी है ।'

लोचनम्

योऽर्धो हृदयसंवादी तस्य भावी रसोद्भवः ।

शरीरं ध्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति । रसचर्वणात्मनः प्राधान्य दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्य-
भूतमात्मत्वमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

‘जो भयं हृदय से सजाद रखने वाला होता है उसकी भावनाएँ (निरन्तरचर्वणा)
रस चर्वणा-रसोद्भव में हेतु होती हैं । अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ के समान उसके द्वारा
शरीर व्याप्त कर लिया जाता है ।’

‘आनन्द इति’ । रसचर्वणात्मक (आनन्द) की प्रधानता दिखाना ही इये रसध्वनि का ही
सर्वत्र मुख्यभूत आत्मत्व दिखाना रहे है । इससे जो यह कहा या—

तारावती

‘निरूपयता’ कर दिया जाना चाहिये निरूपण का अर्थ ही है लक्षण के द्वारा लक्ष्य का
बोध । इस प्रकार भास्वर्य के द्वारा ही लक्षण शयादि से निरूपण सगृहीत हो जाता है फिर
अगतिक गति और बाहुलक वा आश्रय लेकर करण पञ्च के द्वारा व्युत्पादन का प्रयत्न
क्यों करना चाहिये वह बुद्धिमानों के विचार का विषय है । ‘किन्तु यहाँ पर भगतिक गति
का आश्रय व्यर्थ नहीं है । सामान्य भयं के द्वारा लक्षण का सम्यक् भगतिक गति है । यहाँ
पर अन्यकार विशेष रूप से इस बात पर बल देना चाहता है कि ध्वनि सिद्धान्त का अब
तक लक्षण नहीं बनाया गया । किन्तु उसका लक्षण बनाने की कामना लोगों की है ।
अन्यकार का यह अभिप्राय सामान्य भयं के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता । इसीलिये बाहुलक
तथा अगतिक गति का आश्रय लिया गया है ।]

इस प्रबन्ध के सदृश्य अधिकारी हैं । काव्यानुशीलन से जिनके मनोमुक्त विनाद हो
गये हैं उनका वर्णनीय विषय से तन्मयता प्राप्त कर लेना ही सदृश्यता का एक मात्र लक्षण
है, जैसा कि कहा गया है—‘त्रिभयं मे हृदयं तन्मयं कर देने की शक्ति होती है
उसकी भावना भयना निरन्तर चर्वणा ही चर्वणाप्राण रस की अभिव्यक्ति में हेतु होती
है । त्रिभयं करे काष्ठ में अग्नि ध्यात हो जाती है उसी प्रकार हृदय एककार रूप में
परिष्कृत कर वह भयं सारे शरीर पर प्रभाव डाला करता है । इसी कारण रसचर्वणा के
अन्तर् पर रोमाशा’द शारीरिक विकारों का अनुभव होता है ।

यहाँ पर आनन्द शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है । रस की चर्वणा ही आनन्द
की अन्तर् अथवा स्वरूप है । आनन्द शब्द के प्रयोग के द्वारा यही दिखलाया गया है कि
प्रधानता रसध्वनि की ही होती है और सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्य आत्मा मानो जा सकती
है । अन्तर् यह न एक ने जो कहा या कि ‘ध्वनि नाम वा जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार
है यदि वह अभिवा और व्यञ्जना से भिन्न एक नया प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वह

लोचनम्

विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारत्वा तस्य द्वौ भेदावशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काम्यस्येति ।

जातो है ।) इसी किये उपक्रम में 'अर्थ' यह एक वचन के रूप में बहकर 'सहृदयत्वात्' इस विशेषण के द्वारा हेतु कह कर अपादात् (विभाग) की वृद्धि से उसके दो भेद अर्थात् असा हावे हैं यह बहा, यह नहीं बहा कि वाच्य की दोनों आत्मा होती हैं ।

वारावती

है । अभिनव गुप्त ने इस सम्भावित आशय का उल्लेख यह किया है कि 'यह ध्वनि विवेचन की मूलिकाया है ।' इसका आशय यह है कि केवल अर्थ की सत्ता ही काव्यसंज्ञा मूलिका नहीं होती । लौकिक वैदिक वाक्यों में अर्थ होते हुए भी उन्हें काव्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । किसी भी वाक्य को काव्य संज्ञा तभी प्राप्त हो सकती है जब उसमें किसी प्रकार की रमणीयता हो । अर्थ का यही रमणीयता प्रयोजक अंग प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है । इस अर्थ में वाच्यार्थ का भी मिश्रण रहता है । अतएव मूलिका के रूप में वाच्यार्थ का उल्लेख मात्र किया गया है, पूरे सन्दर्भ का आशय यही है कि रमणीयता के लक्ष प्रतीयमान अर्थ में हानी है ।

वदपि महान् आवाशो पर कटाक्षनिर्देश उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस व्याख्या से न तो पूरापर अर्थ की सङ्गति वैधायी है और न विरहनाय के आशय का उल्लेख ही हो पाता है । यही पर सहृदयत्वावलीय अर्थ की वाच्य की आत्मा कहा गया है और उसी आत्मा के दो भेद किये गये हैं वाच्य और प्रतीयमान । अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि रमणीयता वाच्यार्थ में नहीं होती । भेदी समझ में इस अर्थ की सङ्गति इस प्रकार कहाना अधिक युक्तियुक्त होगा—'सहृदयत्वावलीय अप ही वाच्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यों ने इस आत्मा की जिस रूप में व्याख्या की है उसका विवेचन करने से प्राप्त होता है कि यह आत्मा दानार्थ रूप में मानी जाती रही है वाच्य की और प्रतीयमान भी ।' यही पर 'सूदो' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार भाविक व्याख्या देनेवाले आचार्य किसी विषय में वैकल्पिक शब्दों की व्यवस्था देते हैं उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी व्यवस्था दी है उससे सिद्ध होता है कि पुराने आचार्य वाच्य की आत्मा के रूप में स्थित अर्थ का दानार्थ रूप में मानते थे । 'उभा' शब्द का द्विवचन और 'वाच्यवर्तीवचनार्थ' का द्वन्द्व भी इसी आशय की ओर इतिहास करते हैं । अभिनव काव्यिका में भी यही बात बही गई है । 'उभा' इत्यादि प्रकार किमो के मत में वाच्य की आत्मा ही ही । यही पर उनका उल्लेख ध्वनि की मूलिका के रूप में ही किया गया है । हमने पुरानी परम्परा से प्रस्तुत रचना का सम्बन्ध स्थापित ही जाया है ।

लोचनम्

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च भाषुकाभ्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रमुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्र-सम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्ति-हेतोर्जायासम्मित-वक्ष्यणी विशेष इति प्राध्याम्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्ग-भ्युत्पत्ते-रपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ।

'साधु काव्य का सेवन करना धर्म अर्थ काम और मोक्ष में तथा कलाओं में विचक्षणता कीर्ति और प्रीति को करता है ।'

तथापि उसमें प्रीति ही प्रधान है ! नहीं तो व्युत्पत्ति में हेतु प्रमुसम्मित वेद इत्यादि से तथा मित्रसम्मित इतिहास इत्यादि से व्युत्पत्ति में हेतु काव्य रूप की जायासम्मित लक्षणवाली विशेषता ही क्या रहे । इस प्रकार प्रधानतया आनन्द ही यहाँ पर कहा गया है । चतुर्वर्ग व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक (अन्तिम) मुख्य फल है ।

धारावती

काव्य के प्रयोजन कीर्ति और प्रीति हैं । कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पदन होता है, जैसा कि कहा गया है—'कीर्ति का फल स्वर्ग है ।' स्वर्ग आनन्द का ही दूसरा नाम है । अंग्रेजों के दृष्टिकोण से व्युत्पत्ति और प्रीति ये दो फल काव्य के प्रयोजन कहे जाते हैं । जैसा कि कहा गया है—'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं में नियुक्ता कीर्ति और प्रीति ये फल सत्कव्य के आस्वादन से उत्पन्न होते हैं ।' तथापि इनमें प्रीति ही प्रधान है क्योंकि विचक्षणता काव्य का मुख्य नहीं किन्तु गौण प्रयोजन है । उपदेश तीन प्रकार के होते हैं (१) प्रमुसम्मित उपदेश—जैसे वेदशास्त्रों का उपदेश रामायण के समान अनिवार्य होता है । उसके न मानने पर प्रायश्चित्त रूप दण्ड सहन करना पड़ता है (२) मित्रसम्मित उपदेश—जैसे दर्शन वा इतिहास पुराण इत्यादि का उपदेश जिसका मित्र की सम्मति के समान किसी समय छद्मन किया जा सकता है (३) कालासम्मित उपदेश—यही काव्य का उपदेश होता है । जिसमें मर्यादा के प्रत्येक की मति सर्वदा आनन्द की ही प्रधानता होती है । उससे सनेत्रला प्रभाव यद्यपि गौण होता है फिर भी स्वायी तथा अनिवार्य होता है । रामायण के प्रतिफल अन्दोलन किया जा सकता है, मित्रों की सम्मति टुकराई जा सकता है किन्तु आनन्दानुभूति के साथ मर्यादा को प्रभाव जमा देती है उसके पालन में वह प्रकार की शक्यता ही आ जाती है । इसी प्रकार वेद-शास्त्रादि के उपदेश टुकराये जा सकते हैं किन्तु आनन्दानुभूति से बड़े दुर प्रभाव का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता । पारो बर्गों को व्युत्पत्ति का भी अन्तिम उत्पन्न आनन्द ही है । आचार्य कुन्तक ने ठो ठो कालासम्मित से भी उपदेश बड़का है—

ध्वन्यालोक

तत्र वाच्य प्रसिद्धो य प्रकारैरप्यमादिभिः ।

बहुधा व्याकृत सोऽप्यै, काव्यलक्ष्मविधादिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यत ॥३॥

केवलमनूयते पुनर्यथायोगम्

(अनु०) उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है। दूसरे (उद्धृत इत्यादि) आचार्यों ने उपमा इत्यादि भंगों के द्वारा बहुत प्रकार से उसकी व्याख्या कर दी है। [दूसरे आचार्यों से अभिप्राय वाच्यत्ववेत्ता विद्वानों से है] अतएव यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है। केवल आवश्यकानुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है।

सारावर्ती

पारिका भाग में आये हुए वाच्य शब्दों की व्याख्या करने के लिये कहा गया है कि वाच्य का सन्निवेश लटिन और उचित जाना है। अतएव वाच्य में रमणादया आ जाती है। लटिन शब्द का आगम है—वाच्य में गुण और अलङ्कार को सहायता से चारुता आती है। उचित शब्द का आगम है रसविषयक औचित्य। इसमें सिद्ध होता है कि वाच्य का जीवन रसध्वनि ही है। यदि रसध्वनि को वाच्य का जीवन नहीं माना जावेगा तो सर्वत्र औचित्य को जो वह प्राप्ति की जाती है उसका क्या मन्तव्य होगा? (दोमट्ट की 'औचित्य विचार चर्चा' औचित्यमध्यस्थ का एकमात्र ग्रन्थ है। किन्तु सूचीय उपोत्त में आनन्दवर्धन ने औचित्य का बड़े ही विस्तार से समयन किया है। उनका कहना है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार रस ही है। शब्द और अर्थ का औचित्य भी रसपर्यवसायी ही है। वस्तुतः इमेन्द्र भी औचित्य की आत्मरूपता का प्रतिपादन करते-करते रसमयण औचित्य पर ही आ गये हैं।

तुर्वन् सदांगये व्याप्तिमौचिकरचिते रस ।

मधुमास इवाशोक करान्यदुरित मन ॥)

'जो वाच्य अर्थ है' इस वाच्य में 'जो' शब्द का अर्थ है कि वाच्यार्थ को विराधी भी मानते हैं। 'उनके ही भद्र होते हैं' इस वाच्य में 'उस' शब्द का अभिप्राय यह है कि जो अंगों के होने पर ही उसकी सहायता सिद्ध होती है। अब सुन्दर अर्थ को वाच्यार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया तब चाकस्व हेतु होने के कारण चर्चित गुणानुसार व्यतिरिक्त नहीं होती' इस अर्थ में स्वरूपासिद्ध एवमात्र ही जाना है। क्योंकि आत्मा कभी भी शरीर को प्राप्त नहीं करती। यदि दुःखप्रशान्त्याय मे आत्मा को चाकस्वहेतु मान भी लिया जावे तो भी हेतु में व्यतिरिक्त ही आ ही जावेगा। कारण यह है कि जो स्वयं अलङ्कार्य है वह अलङ्कार कैसे हो सकता है? जो स्वयं गुण है वह गुण कैसे हो सकता है? यदि हम प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलङ्कार मान लेंगे तो गुणों और अलङ्कारों का क्या होगा? ॥ २ ॥

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यामेति व्यञ्जयति ।

वाच्यप्रतीयमानाण्यौ तस्य भेदाद्युभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

(अनु०) लक्षण के द्वारा ध्वनि का निरूपण प्राग्गम्य किया है, उभौ की भूमिका बनाने के लिये यह कहा जा रहा है :-

'काव्य की आत्मा के रूप में स्थित सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद बड़े गये हैं ॥ २ ॥

लोचनम्

ननु 'ध्वनिस्वरूप मम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाण्यौ द्वौ भेदावर्थ-
स्येति वाच्यामिधाने का मङ्गलितः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुंभवतरणिकां
करोति तत्रेति । एव विधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थिते इत्यर्थः ।

भूमिरिव भूमिका । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते तथा
ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाण्यौ निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्यामिधानं भूमिः ।
तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिक्या गणनं तस्याप्यन-
पद्धवनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । स्मृतावित्यनेन 'यः समाग्नात्पूर्वः' इति दृश्यति ।

निस्सन्देह 'ध्वनिस्वरूप को कहते हैं' यह प्रतिज्ञा करके वाच्य और प्रतीयमान नाम के
अर्थ के दो भेद हैं—इस वाच्य के अभिधान में कारिका की क्या सङ्गति है ? यह आशङ्क्य
करके सङ्गति बनाने के लिये अवतरण दे रहे हैं—तत्रेति । अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और
प्रयोजन के स्थित होने पर ।

भूमि के समान भूमिका । जिस प्रकार अपूर्व निर्माण करने की इच्छा होने पर पहले
भूमि बनाई जाती है वसी प्रकार प्रतीयमान नामक ध्वनिस्वरूप के निरूपण का लक्ष्य होने
पर निर्विवाद सिद्ध वाच्य का अभिधान भूमि है । क्योंकि उसी की पीठ पर प्रतीयमान नामक
अधिक अंग का उल्लेख हो सकता है । वाच्य के समान शीर्ष के रूप में गिनना उसके भी
छिपाये न जा सकने का प्रतिपादन करने के लिये है । 'स्मृतौ' इसके द्वारा 'जो पहले

तारावती

जिससे वे अन्य के अन्वयन में प्रवृत्त हो सकें । इस प्रकार अन्यकार, कवि तथा श्रोता तीनों के
दृष्टिकोण से प्रयोजन का प्रकटन किया गया है ॥ १ ॥

दूसरी कारिका में अर्थ के दो भेद किये गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान । वहाँ पर
प्रश्न उठा है कि प्रतिज्ञा तो यह की थी कि 'ध्वनि का स्वरूप कह रहे हैं ।' किन्तु दो
भेदों में वाच्य को भी सम्मिलित किया है । इस प्रश्न की सङ्गति कैसे बैठती है ? इसी
प्रश्न का उत्तर देने के लिए आशङ्ककार ने अवतरण लिखा है कि 'वहाँ पर यह कारिका
अनिर्दिष्ट के लक्षण की भूमिका है ।' 'वहाँ पर' का अन्वय है उक्त अभिधेय और

ध्वन्यालोक

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्वस्ति घाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति साधुष्यमिवाङ्गनाम् ॥ ४ ॥

(अनु०) जिस प्रकार अगताओं में प्रतिद्ध (भुव नाक कान इत्यादि) अवयवों से भिन्न साव्यय एव पूर्यक् पदार्थ होता है (जो स्वयं शोभित होता है और उन समस्त अंगों को भी शोभित करता है ।) उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ (वाच्यार्थ से भिन्न) कुछ और ही उत्पन्न है (जो स्वयं भी शोभित होता है और वाच्यय को भी शोभित कर वाच्याया बन जाता है) ॥४॥

लोचनम्

अन्यदेव वस्विति । पुन शब्दो वाच्याद्विशेषधोतक । तद्व्यतिरिक्तं सारभूत चैन्यर्थं । महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकरवमाह ।

‘अन्यदेव वस्विति’ पुन शब्द वाच्य से विशेषता को बतानेवाला है । अर्थात् उससे व्यतिरिक्त भा तथा सारभूत भी । ‘महाकवीनाम्’ में बहुवचन अर्थ विषयों को व्यापकता को बतता है ।

तारावती

और जहाँ नहीं आवयवता एवनी जावेगी वही उसका उदरण दे दिया जावेगा ।

यहाँ पर प्रत्यन और अनुवाद इन दोनों शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिये । अर्थात् अर्थ के हासन को प्रत्यन कहते हैं और शून्य अर्थ के हासन को अनुवाद कहते हैं । यहाँ पर अट्टहास इत्यादि का अनुवाद और ध्वनि का प्रत्यन किया जावेगा ।

एक अनुवादक ने इस कारिका का इस प्रकार अनुवाद किया है—‘उन्में मे वाच्य अर्थ यह है जो उपमादि (गुणानुकार) प्रकारों से प्रतिद्ध है और अन्यो ने (पूर्व वाच्य स्वरूप कारणों ने) अनेक प्रकार से उसका मन्थन किया है ।’ यह व्याख्या मूल कारिका को वाक्य रचना के भी प्रतिच्छेद है, ‘उपमादिभिः प्रकारैः स व्याप्तो बहुधा प्रतिद्धति’ इस लोचन ग्रन्थ के भी प्रतिच्छेद है और कारिकाकार के अर्थ को भी ठीक रूप में व्यक्त नहीं करती अतएव प्राक्ष्य नहीं है ॥ ३ ॥

चतुर्थ कारिका में प्रतीयमान वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन इष्टान्त द्वारा किया गया है । इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार नाविकाओं के मुख, नाक, कान, इत्यादि अनेक अवयव होते हैं किन्तु हाव्यय नामक कोई अदृश्य नहीं होता, फिर भी वह सभी अवयवों से स्फुरित होने वाला प्रधानतत्त्व है । उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का सफूर्णित अर्थ नहीं होता किन्तु सभी शब्दों के समूह से स्फुरित होता है ।

इस कारिका में पुन शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता प्रकट करता है । अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी है । महाकवि तथा घाणी इन दोनों शब्दों में बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता को सिद्ध करता है । अन्वय यह है

तारावती

गद्य और अथ काव्य के गौरव है। इसमें गरीब शब्द कथन से हा यह सिद्ध होता है कि हम गरीब में काव्य न काव्य आना अवश्य होनी चाहिए। तथा काव्य जीवित कहा जा सकेगा। गद्य आना नहीं है। सक्ता क्योंकि उसका ता शरीर स्थानीय ही माना जा चुका है और जिस प्रकार समा व्यक्ति शरीर के स्यूटिंग तथा कृशत्व का भी प्रायण प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अथ गद्य भिन्न ही कई आना जाना चाहिए। अर्थ का प्रकार क होता है—एक अर्थ ऐसा होता है कि उसमें ऐसा काव्य विनियोग नहीं होता जा सहृदय को आकर्षित कर सके और दूसरा अर्थ ऐसा होता है जिसकी प्रगति सहृदय लोग स्वयं करने लगते हैं। इन दोनों में मध्य प्रकार का साधारण अथ काव्य का गरीब-स्थानीय ही माना जाता है और द्वितीय प्रकार का अर्थ काव्य की आना होता है। शब्द के समान अर्थ सचनसचय नहीं होता। दूसरा बात यह है कि अर्थ की सत्तामात्र से ही काव्य सदा प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि लौकिक और वैज्ञानिक वास्तवों में अथ ता होता है किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते। यही बात इन शब्दों में कही गई है कि सहृदय काव्य अथ का काव्यामा की सदा प्राप्त होती है। एक ही अथ का दो शाखाओं में विभक्त कर लिया जाता है। यह इस प्रकार—यद्यपि काव्यार्थ और लौकिक अथ में इस बात में समानता है कि दोनों का अर्थ की सदा प्राप्त होती है तथापि इसका क्या कारण है कि सहृदय लोग काव्यार्थ को ता प्रगति करत है लौकिक अथ की प्रगति नहीं करते। अथ काव्य में लौकिक अर्थ की अपेक्षा काव्य न काव्य विनियोग माननी ही पड़ती। जा विनियोग होती है वही प्रतीयमान भाग कहलाता है। विनियोग में हेतु होने के कारण विद्वान् लोग प्रतीयमान अथ को ही आत्मा के रूप में स्वरूपान्वित करत है। किन्तु उसमें काव्यार्थ का मिश्रण रहता है जिसमें प्रामोद में पड़कर दानों अर्थों की एकता समझकर कतिपय असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ का मानने का विरोध करते हैं। जैसे धार्मिक लोग गरीब से एक आत्मा को मानने में विवशित करत हैं। इस लिए अर्थ 'इस शब्द में एकवचन का निर्देश किया है और उसका विनियोग दिया है 'सहृदय काव्य'। यह विनियोग काव्यार्थ की विनियोग के हेतु को अभिव्यक्त करता है। भद्र शब्द का अर्थ है अथ। दानों अर्थों के सम्मिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया गया है और विमलबुद्धि से दो अर्थ बन्ना सिद्ध होत है। यही यह नहीं समझना चाहिये कि दानों अर्थ—वाच्य और प्रतीयमान काव्य को आत्मा हत है।

यह पर टीकाकारों ने प्राय एक शब्द उठाई है कि ध्वनिकर ने प्रकृति तो ध्वनि विवेचन के लिए की थी, बीच में काव्यार्थ का वचन क्यों करने लगे? इस सन्दर्भ से विरतनाथ जैसे आचार्य को भी भ्रम ही गया और उन्होंने लिखा है कि जब ध्वनि सदा प्रतीयमान हो होती है तब उसके वाच्य और प्रतीयमान में दो भेद कर देना स्वयं-स्वयं

ओषणम्

सवल्नाहृतं धाम्यतिरेकभ्रम एतान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दशंपति । एतच्च किमपीत्या-
दिना ध्याचष्टे । लावण्य हि नामावयवसस्यानामिन्यङ्गमवयवव्यतिरिक्त
धर्मान्तरमव । नचावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्,
गृह्यन्निर्वेण्यमानकाशादिदोषशून्यशरीरावयवमोगिन्यामप्यलक्ष्यतायामपि
लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चित्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति
सहृदयानां व्यवहारात् ।

लावण्य और वाष्प तथा प्रतापमान दोनों के अत्यन्त मिले होने के कारण) उनके अमोद के
भ्रम के अभाव को भी दिखाता है ; इसकी व्याख्या निर्माण इत्यादि शब्दों से की गई है ।
अवयव सन्धान के द्वारा अभिव्यक्त हानवाला अवयव से भिन्न दूसरा धर्म ही लावण्य
(हाना है) । यह नहीं कहना चाहिये कि अवयवों की निर्दोषता ही या भूषणयोग ही
लावण्य (कहा जाता है) । क्योंकि पृथक् रूप में दृश्यमान कणत्व दोष इत्यादि से शून्य
शरीरावयवोंवाली तथा अलक्ष्णों से सजा हुई होने पर भी 'यह लावण्यगुण्य है' ऐसा तथा
उस प्रकार की न होते हुए भी किसी में 'यह लावण्यामृत चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का
व्यवहार होता है ।

तारावती

कि प्रतीदमान अर्थ महाकवियों की वाणी में सर्वत्र विद्यमान रहता है । महाकविय की सदा
भी उन्हीं का प्राप्त होती है जिनको परमात्मा की कृपा से ऐसी प्रतिभा प्राप्त हुई हो कि वे
अग्रिम प्रकार में बतलाये हुये प्रतीदमान अर्थ से अनुपाणित वाक्य रचना करने में निपुण
हो । 'विभाति' शब्द का अर्थ है 'जा इस प्रकार का होता है उसी की शोभा होती है ।
सर्वथा असत् वस्तु का मान व्यपन्न हो नहीं होता । छुक्ति में भी रजत का मान तभी होता
है जब कि पृथक् सत्ता विद्यमान होती है । अविद्यमान वाक्यापुत्र अथवा आकाशकुण्डल का
मान होता ही नहीं । इस प्रकार सत्ता से मान होता है और मान से सत्ता सिद्ध होती है ।
इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो वस्तु नामित होता है वह उसी प्रकार का है भी । इसकी
अनुमान प्रकिया इस प्रकार होगी—असिद्ध वाक्य (वच), स्वभावविरुद्ध प्रतीदमान से युक्त
होना है (साध्य), क्योंकि वस्तुवा मान होता है (हेतु), जिस प्रकार कारण से युक्त
अज्ञानाओं के अह (उदाहरण) । असिद्ध वाक्य का अर्थ है सभी की वच तथा अलक्ष्य ।
वच और नच इन दो सर्वनामों का समूह इष्टान्त (अज्ञानाओं का कारण) और दार्ष्टान्तिक
(प्रतीदमान अर्थ) दोनों में एक ही यह प्रकट करना है कि इन दोनों का सार होता है
चमत्कृत करना, दूसरे एकवा पृथक् रूप में प्रकटन नहीं किया जा सकता है । (अर्थात् न
तो लावण्य को ही पृथक् वस्तु के रूप में दिखाया जा सकता है और न रसायन की ही
पृथक् सत्ता का निर्वचन किया जा सकता है ।) तीसरे अह और लावण्य तथा वाष्प और

ध्वन्यालोक

काव्यस्य हि ललितोचितसञ्चिवेशचारण शरीरस्यैवात्मा साररूपतया स्थित सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्य प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

(अनु०) जिस प्रकार शरीर में आत्मा की सत्ता होती है उसी प्रकार ललित और उचित सञ्चिवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले काव्य में भी सहृदयश्लाघनीय वा अर्थ सररूप में स्थित होता है उसके वाच्य और प्रतीयमान वे दो अर्थ हुआ करते हैं ।

लोचनम्

कारिकामागत काव्यशब्द व्याकृतुंमाह—काव्यस्य हीति । ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह । उचितशब्देन रसविषयमर्थोचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्बोधित्व सूचयति । तदभावे हि किमपेक्षयेदमोचित्य नाम सर्व-श्रोद्धोष्यत इतिमाह । योऽर्थ इति यदानुबदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति तस्येत्यादिना । तदभ्युपगम एव द्वयशब्दे सत्युपपद्यत इति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—‘चारुवहेतुत्वाद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः’ इति, तत्र ध्वनेरारामस्वरूपत्वादेतुरसिद इति दर्शितम् । न ह्यात्मा चारुवहेतुर्देहस्येति भवति । अथाप्येव स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवा-लङ्कार, गुणो एव गुण । एतदर्थमपि वाच्याशोभशेष । अतएव वक्ष्यति—‘वाच्य प्रसिद्ध’ इति ॥ २ ॥

कारिका मग में किये हुये काव्य शब्द को व्याख्या करने के लिये कहत है—काव्यस्य हीति । ललित शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह बतलाया है । उचित शब्द से अर्थोचित रस विशेषक ही होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि का बोधित होना सूचित करते हैं । काव्य यह है कि उस (बोधितमूल रस) के अभाव में जिस को लेकर यह अर्थोचित सञ्चिवेश किया जाता है । ‘योऽर्थ’ में ‘यत्’ शब्द से अनुवाद करत हुये दूसरे अर्थों के द्वारा यह शोकार ही किया गया है यह दिखलाते हैं । ‘तस्य’ शब्द के द्वारा रस (प्रतीयमान) का मनना दो अर्थों के होने पर ही उत्पन्न होता है, यह दिखलाते हैं । इससे जो यह बात आ—चारुव हेतु होने के कारण गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि नहीं है’ ध्वनि के आनन्दरूप होने के कारण वतने हेतु असिद्ध है यह दिखला दिया । आत्मा देह का चरुव हेतु होगा है यह निरस देह नहीं होता । यदि ऐसा हा भी तयारि काव्य में अनैकान्तिक हेतु आ जाता है । अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता । गुणो ही गुण नहीं होता । इसके लिये भी वाच्यांग का उल्लेख (किया गया) । इसलिये कहेंगे—‘वाच्य को प्रसिद्ध है ।’ शब्द ॥ २ ॥

शोचनम्

यदूचे भट्टनायकेन—‘अशब्द न रूपता’ इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यारंभ यदि नामोपालम्भ, रसध्वनिस्तु तत्रैवाभ्यन्तयाद्गीकृत रसचरंणाभ्यन्तस्तृतीयस्या-
शस्याभिधामात्रांगद्वयोर्त्तीर्णत्वेन निर्णयान् । चम्पलङ्कारध्वन्यो रसध्वनि-
पर्यन्तत्वमेवेति वयमत्र वक्ष्यामस्तत्र तत्रैत्यास्ता तावन् । वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त
मितिभेदप्रव्यापक सामान्यलक्षणम् । यद्यपि हि ध्वनन शब्दस्यैव व्यापार,
तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिण सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम् । शब्द-
शक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानानुरगतिः, शब्दता न केवल-
मवान्तरसहकारिणीति वक्ष्याम ।

भट्ट नायक के द्वारा ना यह कहा गया कि ‘(ध्वनि) अंग होना है रूप नहीं’ यदि यह
उपलम्भ वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिये ही है (तो कोई बात नहीं) क्योंकि रसध्वनि
को ता कहने ही आमा के रूप में अङ्गीकृत कर लिया, रसचरंणाभ्यन्त तृतीय अंग का
अभिधा और भावना इन दोनों अंगों से उत्तीर्ण (पृथक् तदा परे) होने के रूप में निर्णय
किया गया है । वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियों की रसध्वनियन्तता को हम ही विभिन्न स्थानों
पर कहेंगे । वम, अधिक नहने की क्या आवश्यकता । ‘वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व’ यह दोनों
भेदों में व्यापक सामान्य लक्षण है । यद्यपि ध्वनन यह शब्द का ही व्यापार है तथापि
अर्थसामर्थ्य का सर्वत्र व्यापक न होने के कारण (सहयोग होने के कारण) वाच्यसामर्थ्या
क्षिप्तत्व (माना जाता है) शब्दशक्ति केवल अवान्तरसहकारिणी है यह हम कहेंगे ।

तारावर्ती

ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और वही मुख्य होकर वाच्य की आत्मा का रूप
धारण करता है ।

भट्ट नायक ने जो यह कहा है कि ‘ध्वनि वाच्य का अंग होती है, उसका स्वरूप नहीं
होगा’ उसका अभिधाव वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि की अंगरूपता का प्रतिपादन करने
से ही है । रसध्वनि का ता आत्मा के रूप में उन्होंने ही स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने
ही यह जिनव का लिया कि रसचरंणाभ्यन्त तृतीय अंग उनके माने हुए अभिधा और
भावना नामक दो अंगों का अतिरूपण करके गिदत हाता है और हम बात का हम भी निद
कहेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, रसध्वनायवसायो ही हाती है । वाच्यसामर्थ्य से
अक्षिप्त होना दोनों भेदों में समानरूप से लागू हाता है । यद्यपि ध्वनित्व वाच्य का
ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य का सदा सर्वत्र विद्यमान रहती है, अन्वय
वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व मात्र का जगता है । आगे चलकर वक्ष्याया जावेगा कि शब्दसामर्थ्य
सन्तुष्ट्यर्थमप्यत्र मे मी अवाक्य से ही मन वचन का प्रतीति हाता है । शब्दशक्ति तो
केवल अवान्तर सहकारिणी ही जाती है ।

लोचनम्

तत्रेति । द्वयशब्दे मत्स्यशीत्यर्थं । प्रसिद्ध इति । वनितावदनोद्यानेन्दुदयादि-
लौकिक एवेत्यर्थं । 'उपमादिभिः प्रकारं न व्याहृतो बहुधे'ति सद्गति । अन्यै-
रिति कारिकायाग काव्येत्यादिना व्याचष्टे । 'तता नेह प्रतन्यत' इति विशेषाभ्य-
नुञ्जेति दर्शयति केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

तत्रेति । अर्थात् दो अशों के हाने पर भी । प्रसिद्ध इति । अर्थात् वनितावदन, उद्यान,
चन्द्रोदय इत्यादि लौकिक ही उद्दीप्तन । इसकी सद्गति इस प्रकार होगी—'उपमा इत्यादि
प्रकारों में उमकी बहुधा व्याख्या की गई है ।' 'अन्यै' इस कारिकायाग की 'काव्यलक्षण
विधाविधि' शब्दके द्वारा व्याख्या की गई है । 'इसीलिये यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है'
इस विशेष के प्रतिषेध के द्वारा शेष भाग की अनुमति दिखलाई जा रही है—केवल इत्यादि
के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

नोसरा कारिका के 'तत्र' शब्द का अर्थ = 'यद्यपि सद्दयशब्दात् अर्थ के दो अश हैं
तथापि वाच्यार्थं प्रसिद्ध है ।' 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—'वाच्यार्थं रमणीयुत्कृष्टमन, उद्यान,
चन्द्रोदय इत्यादि के रूप में लौकिक ही हुआ करता है ।' यहाँ पर सद्गति इस प्रकार बिठाई
जानी चाहिये—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसको बहुत प्रकार से व्याख्या कर दी गई है ।
उपमा ही सभी अलङ्कारों में प्रधान है । इसी लिए किसी किसी आचार्य ने अलङ्कारों को
उपमापञ्च कहा है । अप्यपरीक्षित ने लिखा है—

उन्मैका दैशूषी सम्प्राप्ता विश्वमूमिकाभेदान् ।
रश्मति काव्यरगे नृपयन्ती तदिदा चेत ॥

कारिका में 'अन्यै' यह शब्द आया था । उसका ही व्याख्या शक्ति ग्रन्थ में 'काव्यलक्षण
कार' शब्दों की गई है । 'अत्र उक्तवा यहाँ पर प्रतनन नहीं किया जा रहा है' इस विशेष
प्रतिषेध में शेष की अनुमति व्यक्त होती है । इसीलिए कहा गया है कि आवश्यकतानुसार
केवल अनुवाद किया जा रहा है ।

'काव्यतारावती विद्वानां ने उपमा इत्यादि प्रकारों से वाच्यार्थ की अनेक प्रकार से
व्याख्या कर दी है ।' इस कथन से ही सिद्ध होता है कि वाच्यार्थ का काव्य की आत्मा
माननेवाले आचार्य परांत संख्या में हो चुके थे । प्रतीयमान अर्थ का काव्य की आत्मा
माननेवाला कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ था जिसने प्रतीयमान अर्थ को काव्यात्मकता का
प्रबन्धन प्रतिष्ठित किया हो । यहाँ पर आवश्यकता इस बात की थी कि प्राचीन आचार्यों
के मत का पूरा परिचय देने के लिये अलङ्कार इत्यादि का विस्तृत प्रतिरादन किया जाता और
उसी आधार पर ध्वनि की व्याख्या की जाती । किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसा
करना निरर्थक मात्र होता । अतएव प्राचीन सिद्धान्त की ओर संक्षेप मात्र कर दिया गया है

छोचनम्

कस्याश्चित्सङ्केतस्यान जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायद्वोपात्त-
द्वलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छापीकरशाघ परित्रातुमियमुक्तिः । तत्र स्वतः
सिद्धमपि भ्रमणं क्षमयेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधामावरूपः, न तु
नियोगः प्रैयादिरूपोऽत्र विधिः, भतिसर्गप्राप्तकालयोर्द्वयं लोट् । तत्र भावतद-
भावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावच्च युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापारामावात् ।
'विशोप्य नामिधा गच्छेत्' इत्यादिनामिधान्यापारस्य विरम्य व्यापारासम्भवा-
निधानात् ।

जिसी (नायिका) के जीवितसर्वस्व के रूप में स्थित सङ्केतस्थान के धार्मिकसञ्चरण रूप
अन्तराय (विघ्न) के दोष से और उसके द्वारा हरे हुए पल्लव तथा कुसुम इत्यादि के
शोभारहित कर देने से रक्षण करने के लिए वह उक्ति है । उसमें स्वतः सिद्ध भी भ्रमण कुत्ते
के भय से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था इस प्रकार यह निषेध के अभावस्वरूप प्रतिप्रसवात्मक
विधि है, भेजने (लगाने नियुक्त करने) इत्यादि के रूप में यहाँ पर विधि नहीं है । यहाँ पर
अतिमर्थ (इच्छानुवृत्त प्रवृत्ति) तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार दुर्लभ है । उनमें भाव तथा
उसके अभाव में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों एक साथ वाच्य नहीं हो सकते । भ्रमण
भी नहीं क्योंकि रुक रुक कर व्यापार नहीं होता । क्योंकि अमिधा विशेष्य को प्राप्त नहीं
होती (यदि वह विशेषण में अपनी शक्ति छोड़ कर ले) इत्यादि के द्वारा अमिधा व्यापार का
रुक्कर कार्य करना असम्भव बतलाया गया है ।

सारावती

प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित कुम्भों में मिला करती है । वहाँ पर कोई भक्त मनुष्य
भ्रमण करने के लिये आया करता है जिससे उस नायिका की प्रेमलोलता में भी विघ्न पड़ता
है और उसके द्वारा कल्पित विद्ये द्रुये पल्लवास्तरय इत्यादि अस्त-व्यस्त हो जाते हैं । वह
धार्मिक भक्त गोदावरी तट पर निवास करनेवाले एक कुत्ते में प्रायः भयभीत रहा करता है ।
नायिका पाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर घूमने न आया करे तो उसकी
(नायिका की) प्रेमलोलता के निविघ्न समाप्त होने में सहायता मिलेगी ; वह धार्मिक से कह
रही है—'हे धार्मिक अब तुम शिष्टवस्तु होकर भ्रमण किया करो, गोदावरी तट पर स्थित कुम्भ
में रहनेवाले उस उदत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला ।' वहाँ पर वाच्यार्थ तो वह
है कि अब तुम निमग्न होकर और निर्मम्य होकर घूम सकते हो, अब तुम्हें कुत्ते का कोई भय
नहीं रहा । शिष्टु मतीवमान अर्थ यह निरूपता है कि 'अभीतक तो वहाँ पर कुत्ता ही
रहता था अब वहाँ पर सिंह आ गया है । इसलिए बभी मूठ करके भी वहाँ मग बनना ।
नहीं तो तुम्हें सिंह मार डालेगा । इस प्रकार वाच्यार्थ विधिरक्त है और मतीवमान अर्थ
निरूपक ।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वाच्याद्देवस्त्वस्ति वाणापु महाकवीनाम् । यत्तस्य हृदयमुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽप्रकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाचयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वे प्रकाशत लावण्यमिवाङ्गनासु । यथाङ्गद्वानासु लावण्यं पृथक् निवृणुष्येति निवृणुष्येति वाचयवेभ्यो व्यतिरेकि किमप्यन्यद्देव सहृदयलोचनमृतं तोत्रं नित्यं देव मोर्यं ।

(अनु०) वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान वस्तु कुछ और ही होती है जो कि महाकवियों की वाणियों में हुआ करती है । जो यह प्रतीयमान अथ सहृद्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध अलङ्कारों से तथा प्रतीत होनेवाले अवयवों (शब्द और अर्थ) से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य प्रसिद्ध अलङ्कारों (आभूषणों) और प्रतीत होनेवाले अवयवों से सप्रथा पृथक् हुआ करता है । जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य समस्त अवयवों से व्यतिरिक्त प्रतीतिगात्र होकर सहृद्यों के नेत्रों के लिये अमृततुल्य कुछ दूसरा ही तत्त्व बन जाता है । इसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है ।

लोचनम्

102252

एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकान्यनिर्माणनिपुणप्रतिमामाजनत्वेनैव महाकविरव्ययपदसो भवतीतिमात्र । यद्वचिधमस्ति तद्भाति । नद्यत्यन्तासतो मानमुपपन्नम् ; रजताद्यपि भायन्तमसद्भाति । अनन सवप्रयुक्त तद्भानमिति मानात्प्रमत्तमवगम्यत । तन्न यद्भाति तदस्ति तथयुक्तं भवति । तनाय प्रयो गार्थं - प्रसिद्ध वाच्य धमि, प्रतापमानेन व्यतिरिक्तेन तद्भन् । तथा भासमान स्वान्, लावण्योपताङ्गनाङ्गवत् । प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वात् चाप । यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चकारसारताप्रकटाकरणार्थमन्यपदद्वयत्वमन्योन्य-

जो यह आगे चल कर कहा जावगा उस प्रतीयमान से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिमा का भाजन होने से ही महाकवि की सजा प्राप्त होती है यह मात्र है । जो इस प्रकार का होता है वह भासित होता है । जो अत्यन्त असत् होता है उसका भास मिद्ध ही नहीं होता । रजत इत्यादि भी अत्यन्त असत् धामित नहीं होते । इससे सत्ता से प्रसिद्ध ही भास जाता है इसलिये मान से सत्ता अवगत होती है । इसमें यह कहा हुआ हो जाता है कि जो प्रतीत होता है वह उस प्रकार का होता (अवयव) है । इससे प्रयोग का अर्थ (रूप) यह होगा—प्रसिद्ध वाच्य धर्मा (९१) व्यतिरिक्त प्रतीयमान के द्वारा उससे युक्त होता है, (लावण्य) क्योंकि वैसा प्रतीत होता है (हेतु) लावण्य से उपेत अङ्गना के अङ्ग के समान (उदाहरण) प्रसिद्ध वाच्य का अर्थ है सब का प्रतीत होना या अलङ्कृत होना (कारिका में) यत्तु' यह सर्वनाम समुदाय, इष्टान्त (लावण्य) और दाहान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनों में चमत्कारसारता को प्रकट करने के लिये किसी सजा के द्वारा अङ्गित करने जाने की अवश्यकता और एक दूसरे से मिलने के कारण (आहृति तथा

लौचनम्

नैतत्, अथो इत्थं व्यापारा संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्याभस्वमिधा व्यापार, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्गामिधा । समयश्च तावत्वेव, न विशेषानो, भानन्याद्भूयमिचारात्चैकम्य । ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेष गमयन्ति हि' इति न्यायात् । तत्र च द्वितीयकस्याया 'भ्रम' ति विध्यतिरिति न किञ्चिद्वितीयत, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात् । नहि 'गङ्गायां घाप.' 'सिंहो वदु' इत्यत्र यथाश्वय एव सुभूपन् प्रतिहन्यन्ते, याभ्यतावरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेधा स इवा सिंहेन हत' तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमण तबोचितमित्यन्वयस्य काचित् क्षति । अत एव मुख्यार्थवाधा नात्र शङ्कतेति न विपरीतलक्षणाया अवसर ।

(उक्त) यह बात नहीं है । निम्नरूढ़ यहाँ पर तीन व्यापार प्रतीतिगोचर हात हैं— सामान्य अनावल ल पदार्थों में अभिधा व्यापार, (क्योंकि) सकेत की अपेक्षा करत हुए अथावगमन की शक्ति का अभिधा कहत हैं । सकन उतने ही अना में हाता है विशेष अना में नहीं, क्योंकि समये आनन्य दाप हाता और एव का व्यभिचार दाप भी हाता । इसके बाद विशेषरूप वाक्यार्थ में परस्परान्वित में तात्पर्यशक्ति हाता है । क्योंकि यह न्याय है कि सामान्य अन्यथासिद्ध न होने के कारण विशेष का अवगमन करतें हैं । उसमें द्वितीय कथा में 'भ्रमण करा इस विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं हाता । क्य कि (द्वाप कथा में) अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है । 'गंगा में पर' 'सिंह ब्रह्मचारी' इतने तिस प्रकार अन्वय हात ही प्रतिपत्ति कर दिया जाता है क्योंकि (शब्दों में अन्वित होने की) क्षोभता नहीं है तथा प्रकार तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला वह कुछ सिद्ध के द्वारा मारा गया । इसलिए इस समय भ्रमण निषेध का कारण न होने से तुम्हारा भ्रमण रचित है' इस अन्वय में कोई क्षति नहीं आती है । अतएव मुख्यार्थवाधा की वहाँ पर शङ्का नहीं करने चाहिये । इस प्रकार वहाँ पर विपरीत लक्षणा का अवसर नहीं है ।

सारावर्ता

ही नहीं करता १—'धातव्य का अर्थ है 'तुम एव महात्मा व्यक्ति हो, तुममें अपनी शक्ति अत ही वहाँ से कि तुम भर का सामना कर सका । २—उस 'उद्धतसिद्ध ने' में 'उम' सवनान का अर्थ है कि सिंह के होने में काह सादह नहीं है, उसका हाता सर्वत्र मसिद्ध है और सुत्र परम्परा में तुमने भी अवश्य गुना ही होगा । ३—उद्धत का अर्थ है वह सिंह पसा बैसा नहीं है, वह बहा ही मयनक है । इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण विधान में विरोध दर्शित होना है । इस प्रकार अभिहितानुपवाद में विपरीतलक्षणा से वाक्य का अर्थ ही निषेधरूप हो जाता है । अतएव निषेधरूप अर्थ शब्दशक्ति के द्वारा ही निरूढता है । इसलिए अन्वय में वहाँ कहा जाता है कि वतने पैसा कहा । वह कोई नहीं कहता कि इसने पैसा खनित किया । अतएव वह अर्थ वाक्य ही है उससे मिन्य नहीं ।

ध्वन्यालोक

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रमलङ्कारस्सादयश्चत्यनेकप्रभेद
प्रसिद्धा दशयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्रम् ।

(अनु०) यह आगे चलकर लिखना था कि वह प्रतीयमान शब्द वाच्य सामर्थ्य से आश्रित होकर वस्तुमात्र अलङ्कार आरम्भ इत्येति अनेक भणों में विभक्त होना है । इन समय भणों में प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा भिन्न शब्द बनना है

लोचनम्

ननु लावण्य तावद् गतिरक्त प्रथितम् । प्रतीयमान किं तदित्येव न जानाम,
दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति । तथाभासमानवमपिदो हेतुरित्याशङ्क्य म ह्यर्थ इत्या
दिना स्वरूप तस्यामिष्यते । सर्वेषु चयादिना च व्यतिरेकप्रथा साधयिष्यति ।
तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिक काव्यव्यापारिकगोचरश्चेति ।
लौकिका य म्बशब्दवाच्यता कदाचिदधिरात । स च विधिनिषधायनकप्रकारो
वस्तुशब्दनाच्यत । मोक्षि द्विविध—य पूर्व क्वापि वाक्यार्थेऽङ्कारमात्र
मुपमादिरूपतामन्यभूत्, इदानीं ध्वनलङ्काररूप पृथगन्यत्र गुणीभावान् । स
पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारव्यतिरिक्ति व्यपदिश्यते प्राज्ञगन्धमणन्यायेन । तद्
रूपतामावन त्पलक्षित वस्तुमात्रमुच्यत । मात्रग्रहणन हि रूपान्तर निराकृतम् ।

यहाँ पर लावण्य तो व्यतिरिक्त (तत्त्व के रूप में) प्रसिद्ध है वह प्रतीयमान क्या वस्तु
है यही हम नहीं जानते व्यतिरेक की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही उस प्रकार से भासमान
होना यह बहुत असिद्ध है यह गड़वा करके 'समर्थ इत्यादि शब्दों के द्वारा उसका
स्वरूप बतलाते हैं । 'सर्वेषु च ' इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यतिरेक प्रसिद्ध को सिद्ध
करेंगे । उनमें प्रतीयमान के ता दो भेद हैं—लौकिक तथा वेदल काव्यत्रियामे गोचर
होनेवाला । जो लौकिक (शब्द) कभी स्ववाच्यता में भी विश्रान्त होता है वह विधि निषेध
इत्यादि अनेक प्रकार का वस्तु शब्द के द्वारा कहा जाता है । वह भी दो प्रकार का होता
है—जिसने पहले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा इत्यादि रूप अलङ्कार-भाव का अनुभव किया
था (किन्तु) इन समय अलङ्कार से भिन्न रूपवान्ता ही है क्योंकि वह दूसरे के प्रति गीम
नहीं है, वह पहले की पहिचान के रूप पर अलङ्कार ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है जैसे
ब्राह्मण सन्यासी । उस रूप (अलङ्कार-रूप) के अभाव के द्वारा उपर्युक्त (व्यङ्ग्य)
वस्तुमात्र कहलाता है । (वस्तुमात्र में) मात्र ग्रहण से दूसरे रूप के होने का निराकरण

सारावर्ती

प्रतीयमान के अर्थ का अर्थ भी दत्त शब्द से दूर हो जाता है । इसी दत्त शब्द की
व्यवस्था आलापक में विमर्ष शब्द से की गई है । अतएव सत्यान से अनिष्यक्त होनेवाला
अवस्था से भिन्न एक दूसरा ही परम लावण्य कहा जाता है ।

लोचनम्

भवतु यासी । तथापि द्वितीय स्थानसंज्ञाता तावद्भ्यौ न भवति । तथाहि—
मुद्रयार्थवाधाया रक्षणया प्रकलसि । वाधा च विरोधप्रतीतिरिव । नचात्र
पदार्थानां स्वामानि विरोध । परस्पर विरोध इतिचन्—सोऽयं तद्यवये
विरोध प्रत्यय । न चाप्रतिपन्नञ्चय विराधप्रताति प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य
नाभिधाशक्या, तरया पदाधप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्यायापारात् इति
तात्पर्यं शक्यैवाव्यप्रतिपत्ति ।

अथवा यह हा मी । तथापि द्वितीय स्थान में यह सकान्त नहीं हो सकता । यह इस
प्रकार—मुख्य वशा में लक्षणा की कल्पना की जाती है । विरोध की प्रतीति का जानना ही
बाधा है । पदार्थों का अपनी जगह में विरोध नहीं होता । यदि कहें कि एक दूसरे से विरोध
होता है—ता यह विरोध अन्वय में ही समझा जाना चाहिये । जरातक अन्वय प्रतिपन्न न
हो जाये तब तक विरोध की प्रतीति ही ही नहीं सकती । अन्वय की प्रतीति अभिधागतिक
से नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थप्रतिपत्ति में उपस्थित उस (अभिधा) का स्वरूप स्यापार
(द्वारा कार्य) नहीं हो सकता । इस प्रकार तात्पर्यागिक से ही अन्वय की प्रतिपत्ति
(होती है) ।

तारावती

अर्थ है 'गाव' और 'ठाको का अर्थ है जानवनानुकूल स्यापार की विधि । गाव में जानवना
नुकूलस्यापारनिर्वापकमत्व किसी शब्द का अर्थ नहीं ; अतएव उसी को गुन्वाय कहते
हैं और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है । वह तात्पर्य पदार्थाध्य रूप प्रत्यायन वाक्य
का अर्थ ही होता है । यह मी गया है— अब विना अर्थ दूसरा प्रकार से मिद नहीं होगा
तब सामान्य अर्थ ही विना में कारण हा जाता है । इस प्रकार अभिहितान्वयवाचियों के मत
में अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थ में कारण होती हैं । वाक्यार्थ के पक्वसित हो
जाने पर एक तीसरी वृत्ति और मानी जाती है और वह है लक्षणा । वाक्यवशाव के
बाद अब तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाक्यार्थ का रूप हो जाता है तब उसके सम्बन्ध
रखनेवाला दूसरा अर्थ से लिया जाता है । इस तीसरी वृत्ति को लक्षणा कहते हैं ।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिहितान्वयवाच में तीन वृत्तियाँ
होती हैं—अभिधा तात्पर्य और लक्षणा । अभिधा से पदार्थवाच होता है तात्पर्यवृत्ति से
अन्वयरूप वाक्यार्थरूप होता है । पद में अभिधा द्वारा पदार्थवृत्ति ही सर्वत्र होती है
किन्तु तात्पर्यवृत्ति का वही पर अवसर होता है वही वाक्यार्थवाच के अन्वयगत इत्यादि
कारण उपस्थित हो कुछ ऐसे ही वाक्य होते हैं वही पदार्थवृत्ति हा जाती है किन्तु जैसे
ही तात्पर्यवृत्ति से अन्वयार्थ वाच होने लगता है जैसे ही वाक्यार्थरूप के कारणों के समार
में वह वृत्ति वही पर समाप्त हो जाती है और लक्षणा के कारण उपस्थित हो ही लक्षणा
का समावेश हो जाता है । उदाहरण के लिये गजा में वर 'वाक्य सिंह इत्यादि वाक्यों में

ध्वन्यालोकः

तथा ज्ञाद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद्वाच्ये
विधिरूपं प्रतिषेधरूपः । यथा—

मम धम्मिअ वीम्मथो स सुणओ अज्ज मरिओ देण ।
गोलाणइक्खण्डकुदइवासिणा दरिअसीहेण ॥

(अनु०) वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद को समझने के लिये सर्वप्रथम पहले भेद (वस्तुध्वनि) को लीजिये । इस भेद में तो व्यङ्ग्यार्थ वाच्य में बहुत ही भिन्न होता है यदि वाच्यवस्तु विपरक हा तो व्यङ्ग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है । जैसे —

‘हे धार्मिक ! अब तुम विश्रुत होकर भ्रमण किया करो । गोदावरी तट पर स्थित कुण में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला ।’

लोचनम्

दूरं विभेदवानिति । विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः ।
एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

भ्रम धार्मिक विधग्ध स. शुनकोऽथ मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृससिहेन ॥

दूरं विभेदवानिति । ‘विधि और निषेध विरुद्ध होते हैं’ इस विषय में किसी को असहमति नहीं है । इस अर्थ का पहले ही उदाहरण दे रहे हैं — भ्रम धार्मिक इति ।

सारावती

(‘प्रतीयमान पुनरन्यद्व’ इस वारिका का उद्धरण देकर आचार्य कुन्तक ने लिखा है—‘इम इष्टान्ते से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्व के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को सत्ता ही सिद्ध की जा सकती है । उल्टनाओं का लावण्य सबलटोनलोननसवेय होता है किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदय संबन्ध ही होता है । अतः दोनों की तुलना कैसी ? केवल बन्धमौन्दर्य ही लावण्यग्यानीय हा सकता है क्योंकि वही अवयवमात्र से हा अच्युत्पन्न लोभों को भी भ्रान्त करता है । प्रतीयमान की तुलना तो नायिकाओं के सम सौभाग्य से ही की जा सकता है जो कि केवल वपमोगरायण नायकों के लिए ही संबन्ध हाता है ।’ इस विषय में वही कहा जा सकता है कि उल्टना लावण्य का आस्वादन सर्वजनमवेय होता है वही एक विभिन्न सा बात है । क्या लावण्यजन्य आह्लाद के लिए किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं होती ? जैसे रसमन्त्रना को ध्वनिमिदालत का प्राणभूत मानकर और बन्धच्छायाजन्य आह्लाद को रसध्वनि में सन्निविष्ट कर ध्वनिवादिषा न इसका स्वयं उत्तर दे दिया है ।)

पहले वस्तुध्वनि को लीजिये । इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से बहुत भिन्न हाता है । इसमें तो किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती कि विधि और निषेध एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं । अतएव पहले इसी का उदाहरण दिया जाता है कि वाच्यार्थ विपरक होता है और प्रतीयमान निषेधपरक । हाँ की एक माइत गाया को लीजिये—‘हेई नायिका अपने

शोधनम्

नन्वेव 'सिंहो बटु' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्, ध्वननलक्षणस्यास्य नोऽत्रापि समनन्तर वक्ष्यमाणतयामावात् । ननु घटेऽपि जीवन्व्यवहार स्यात्,

(५० प०) इस प्रकार तो निरुन्नेद 'सिंह ब्रजवारी' में भी वाक्यरूपता का जावेगी । क्योंकि अभी शोध ही कही जानेवाली ध्वननरूप आत्मा की सत्ता तां वही पर विद्यमान है ही । (४० प०) निरुन्नेद घड़े में भा जीव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि व्यापक होने

सारावली

नहीं सक्ती क्योंकि अभिधावृत्ति पदार्थोपस्थान में ही प्रधीण हो जाती है और उसकी क्रिया रुक रुक कर हो ही नहीं सकती । अतएव तात्पर्यवृत्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति माननी होगी । आशय यह है कि कदाप्यस्यल में भी 'बालक सिंह है' इत्यादि वाक्यों में आशय तात्पर्य से ही सिंह और बालक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है, जिसका स्वरूप है सिंह और बालक के तादात्म्य की प्रतीति । इस अन्वय के प्रतिपन्न हो जाने पर ही विराय की प्रतीति होती है ।

(प्रश्न) बाधित स्थान में भी अन्वय बल्लोकार काये पर 'अङ्गुलि के अग्रभाग में तो श्रेष्ठ कवि विद्यमान है' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति माननी पड़ेगी । (उत्तर) जब सावागता और पदार्थोपस्थिति विद्यमान है तब अन्वय के प्रतीति न होने का क्या कारण है ? निराकांक्ष पदों में अन्वय की प्रतीति नहीं होती, जैसे महामात्य के निम्नलिखित उदाहरण में अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता —

'दण दारुमानि, बटपूग, कुण्डम्, अजातितम्, पल्लविष्ट, अपरोक्षम्, शत्रु मार्गा, रवीव्यहतास्य विना प्रतिपत्ते इति ।'

जिस प्रकार महामात्य के इस उदाहरण में निराकांक्ष पदों का समूहन मात्र होने से अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता वैसा पदसमूहन प्रस्तुत स्थान पर नहीं है । अतएव अन्वय तो प्रतिपन्न ही जावेगा । किन्तु उस अन्वय के प्रतिपन्न होने पर भी प्रयोग इत्यादि प्रमाणों से उभवा उसी प्रकार बाध हो जाता है जिसप्रकार मुक्ति में रजतदान का बाध हुआ करता है । अतएव हमका अन्वय करानेवाला वाक्य अग्रामाजिह्व हो जाता है । (प्रश्न) यदि ऐसा है तो फिर 'बालक सिंह है' यह वाक्य भी अग्रामाजिह्व हो जावेगा ? (उत्तर) 'बालक सिंह है' इस वाक्य में पहले पदार्थोपस्थिति होती है फिर निर्णय वगैरे में तात्पर्यवृत्ति से अन्वय का बाध हो जाता है, फिर अन्वय की बाधकता सामने आती है । इससे बाद उस बाधकता को धरने में समर्थ कदाप्य नाम की एक हीनरी वृत्ति लुपित होने लगी है या उस वाक्य की अग्रामाजिह्वता का निवारण कर देती है ।

(प्रश्न) प्रयागवती लङ्गा में प्रयोग की प्रतिपत्ति के लिए ध्वननता वृत्ति तो अन्वय मान्य ही है । 'बालक सिंह है' इस वाक्य में भी बालक के शैर्षाधिक रूप प्रयोग की

छोचनम्

भन्तु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दसधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप-
मुल्यायंवाचकत्वेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थभूतनिषेध-
प्रतीतिमहिदान्वयवशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः । एवमनेनोक्त-
मिति हि व्यवहारः । तत्र वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति ।

(प्रश्न) यहाँ पर तात्पर्यशक्ति विवक्षा के रूप में (कथन की इच्छा के रूप में)
पर्यवसित नहीं हुई है (वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्ति नहीं हुई है)
विवक्षा से दस, धार्मिक, तथा 'तत्' इत्यादि पदों के अर्थों का अन्वय न लग सकना रूप
मुल्यायंवाचक के बल से विरोध निमित्तक विपरीत लक्षणा के बल पर वाक्यार्थता को प्राप्त
निषेध प्रतीति को अमिहितान्वयवाद की दृष्टि से (उ-प-श्र) नर देना है, इस प्रकार वह अर्थ
शब्दशक्तिमूलक है । इस प्रकार 'इसने कहा' यह निम्न-देह व्यवहार होता है, अतः वाच्य
से भिन्न अन्य अर्थ नहीं होता ।

तारावती

'भ्रम' इन क्रिया में लोट् लकार का प्रयोग किया गया है । 'लोट्' विधि इत्यादि कई
अर्थों में प्रयुक्त होता है जिनका समाहार इन तीन अर्थों में किया जा सकता है—(१) प्रवर्तना-
क्रिमी व्यक्ति का दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त करना (२) अतिसर्ग—यदि कोई व्यक्ति किसी
कार्य में पहले से ही प्रवृत्त हो और उसे उस प्रवृत्ति से अलग करने का नहीं से कोई कारण
उपरिष्ठ हो गया हो तो उसको पुनः उस कार्य में प्रवृत्त होने को प्रेरणा देना । (३)
प्राप्तकाल । यहाँ पर भ्रमण तो पहले ही हो रहा है । अतएव 'प्रेषण' इत्यादि के समान
प्रथम अर्थ में यह विधि नहीं हो सकती । कुत्ते के भय से भ्रमण में व्याघात उपरिष्ठ होने
वाला या उसी का प्रतिप्रसन्न यह विधान है । अतएव यहाँ पर अतिसर्ग और प्राप्तकाल इन
दो अर्थों में विधि है । आशय यह है कि यहाँ पर प्रवर्तनारूप अर्थात् विधान नहीं किया जा
रहा है अतएव निषेध के अभाव द्वारा प्रवृत्त करते हुए कामचार (स्वेच्छाविवरण) की
अनुमति दी जा रही है ।

यहाँ पर यह विचार करना है कि ये दो अर्थ निकलते किस प्रकार हैं ? दोनों अर्थ
एक साथ निकल नहीं सकते क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है । विधि के बाद निषेधरूप
अर्थ अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं निकल सकता क्योंकि नियम है कि अभिधा की क्रिया रुककर
नहीं होती । कदा भी गया है कि 'जब अभिधा की शक्ति विरोध में शोष हो जाती है तब
यह विरोध का प्रत्यायन नहीं करा सकती' । इस कथन से सिद्ध होगा है कि अभिधा का
व्यापार रुक-रुक कर होना असंभव है ।

यहाँ पर यह बात बही जा सकती है कि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान भ्रमणविधि में नहीं
होगा । यही वर शब्द कुछ ऐसे रूप में प्रयुक्त किये गये हैं कि उनसे भ्रमण का विधान हो

शारावती

सत्ता और काव्यत्व के अभाव में आमा की असारता सिद्ध हो जावेगी। जिस प्रकार शब्द में व्यापक आमा के होते हुए भी चेतनाशून्यता के कारण आमा की असारता नहीं मानी जाती उसी प्रकार उक्त स्थल पर भी ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्य के अभाव के कारण आमा की असारता नहीं मानी जा सकती।

अब विचार करना है कि तृतीय कौटिल्य रूपका में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का श्लेष में उत्तर यही है कि शक्ति या लक्षणाव्यापार तृतीय कक्ष्या में सन्निविष्ट हो जाता है और ध्वननव्यापार चतुर्था कक्ष्या में जाता है। अतएव ध्वननव्यापार और लक्षणा एक ही नहीं हो सकते। हमको इस प्रकार समझिये—सभी लक्षणावली इन बात को स्वीकार करते हैं कि लक्षणा में तीन बातें मुख्य रूप से होनी चाहिये—(१) मुख्यायबाध (२) मुख्यायसम्बन्ध और (३) रूद्धिप्रवोजननन्तर। उदाहरण के लिए कहे कि 'मैं गंगा में घोड़ों को डालकर रहूँगा'। वहाँ पर शब्द 'गंगा' का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह में घोड़ों को डाली ही नहीं जा सकती अतः मुख्यायबाध हो जाता है। मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ तब ही लिया जाता है और पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं गंगा के तट पर घोड़ों को डालकर रहूँगा।' शब्दात् 'गंगा' के स्थान पर गंगा 'गङ्गा' के प्रयोग करने से गंगागत गीतलक्ष्य पाननत्र और सेवनीपत्र की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का अर्थ होगा—'मैं गंगा के तट पर घोड़ों को डालकर रहूँगा जो शक्ति हो गीतलक्ष्य वत्ता हो पवित्र और अपने गुणों के कारण सर्वथा सेवन के योग्य है तथा वही सत्ता के अन्तर्गत निरूपण नहीं है। वहाँ पर लीतलक्ष्य पाननत्र की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि यह अर्थ शब्दात् 'गंगा' से नहीं निरूपण सकता।

अब वहाँ पर देखना यह है कि ये तीनों बातें पूरी किस प्रकार होती हैं तथा इनमें क्या क्या अभाव हैं? लक्षणा की पहली बात है मुख्यायबाध यह तब प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणा पर ही आधारित होता है। उदाहरण के लिए गंगा के प्रवाह में घोड़ों को डालना प्रत्यक्ष बाधित है। दूसरी बात है मुख्यायसम्बन्ध। ये सम्बन्ध सामीप्य सादृश्य इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। ये सामीप्य इत्यादि सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष इत्यादि किसी दूसरे प्रमाण से ही सिद्ध हो सकते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा की तीसरी बात है प्रयोजन की प्रसिद्धि। उदाहरण के लिए गंगा में घोड़ों को डालना इस वाक्य में घोड़ों की अत्यन्त बुरावता अत्यन्त गीतलक्ष्य तथा अत्यन्त अशुभता तथा 'बाधक सिद्ध है इस वाक्य में वाक्य के प्रयोजन का अर्थित्य इन प्रयोजनों की प्रसिद्धि होती है। अब यह नहीं कह सकते कि इन प्रयोजनों की प्रसिद्धि शब्द 'गंगा' पर आधारित नहीं है। क्योंकि इन प्रयोजनों की प्रसिद्धि में शब्द 'गंगा'व्यापार का अर्थ

तारावती

—अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता—

उक्त मंत्र की आलोचना करने के पहले तात्पर्य वृत्ति के विषय में संपित परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस विषय में दो मत हैं। एक है कुमारिलमठ के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वयवाद कहते हैं और दूसरा है प्रयाकर गुरु और उनके अनुयायियों का, जिसको अत्रिप्रामिथानवाद कहते हैं। मठ सम्प्रदाय का सिद्धान्त इस प्रकार है —

वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थवृत्ति में तीन हेतु होते हैं—१ आकांक्षा—वाक्यार्थज्ञान के लिए दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के बिना दो शब्द पदवाच्य नहीं बना सकते। जैसे गाय घोड़ा आरमी हाथी इत्यादि शब्द एक वाच्य नहीं बन सकते क्योंकि इन शब्दों में परस्पर आकांक्षा नहीं है। २ वाच्यता—शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाध का न हाना, जैसे 'आज से सोचता है' इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें मिलने की योग्यता नहीं है। ३ सन्निधि (निरुपवृत्ति)—इसके अन्तर्गत दो शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक पहर के व्यवधान से बड़े हुए दो शब्दों में आपस में व्यवधान नहीं हो सकता क्योंकि उनमें आपस में सन्निधि नहीं है।

इन तीनों हेतुओं के द्वारा जब कतिपय शब्द परस्पर अत्रित होकर एक विशिष्ट अर्थ को सम्पन्न निष्ठा करते हैं तब उक्त शब्दसमूह को वाच्य कहते हैं। उक्त वाच्य में दो प्रकार का अर्थ होता है—एक पदार्थ दूसरा वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति अभिवाच्य के द्वारा होती है और वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति के द्वारा। इसको इस प्रकार समझिये—प्रमिथ सामान्य रूप से सङ्केत प्रहस्य के अर्थात् शब्दों के अर्थ का बोध कराती है। समस्त वाच्यों का सङ्केतप्रहस्य हा हा नहीं सकता। क्योंकि वाच्य अनन्त होते हैं, यदि वाच्य में शक्ति मानो वाच्यो तो अनन्त शक्तियों की कल्पना बर्नी पड़ेगी। इस प्रकार अभिवाच्य से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आनन्त्य दाह हागा। यदि एक वाच्य में संकेतप्रहस्य में शक्ति मानो वाच्य और दूसरे वाच्यों में आये हुये उन शब्दों का बोध उक्त आधार पर स्वीकार करें तो यह नियम जाना रहेगा कि जिसमें संकेत प्रहस्य के कारण शक्तिप्रह हागा है उसी का बोध भी हुआ करता है। यह अभिवाच्य दाह हागा। उदाहरण के लिये 'गाय छात्रा' और 'गाय से जाओ' इन दोनों वाच्यों में प्रथक् प्रथक् सङ्केत स्वीकार करने पर आनन्त्य दोष होगा। यदि केवल प्रथम वाच्यों में सङ्केत स्वीकार करें तो यह नियम जाना रहेगा कि जिसमें सङ्केतप्रहस्य होता है उसी के अर्थ का बोध हुआ करता है। यह अभिवाच्य (नियमाभिरुचय) है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि अभिवाच्य से केवल पदार्थबोध होता है। वाक्यार्थबोध अभिवाच्य के द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य नामक वृत्ति माननी पड़ेगी। जैसे 'गाय छात्रा' इस वाच्य में 'गाय' का

लोघनम्

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगान्, नियमाप्रतिपत्तेर्वन्तुतेतद्वि-
दक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यरितं तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः ।
व्यापारश्च नामिधामा समयामावात् । न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव
परिक्षयात् । न लक्षणात्मा उभादेव हेतोः स्वलितगतित्वाभावात् । तथापि हि
स्वल्दगतिवे पुनर्मुक्त्यार्थवाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । अत एव
यत् केनचित् लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमाश्रम् । तस्मादभिधातात्पर्य-
लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि-
सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः । यद्ब्रूयति—

योग ही जाता है उसके भी व्याप्तिग्रहण-काल में कोई दूसरा मौलिक प्रमाण कहना चाहिये,
वह है नहीं । यह स्मृति भी नहीं है । क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया उसमें वह हो
ही नहीं सकती तथा किसी नियम के प्रतिपक्ष न होने के कारण वक्ता की विवक्षा इसी अर्थ
में है इस अध्यवसाय (निश्चय) का अभाव भी प्रसक्त हो जावेगा । अतः वहाँ पर शब्द का
ही व्यापार (मानना पड़ेगा) । अभिधानात्मक व्यापार ही नहीं सकता, क्योंकि अन्वयप्रतीति
में ही उसका परिणाम हो जाता है । लक्षणात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त हेतुओं से
ही शब्द के स्वल्दगति न होने के कारण अर्थात् वाध न होने के कारण । उसके भी
स्वल्दगति मानने पर फिर मुख्यार्थवाध निमित्त तथा प्रयोजन इस प्रकार अनवस्था हो
जावेगी । अतएव जो किसी ने लक्षितलक्षणा यह नामकरण किया था वह व्यसनमात्र है ।
अतएव अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार समझा जाना चाहिये
जो ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि सहोदरी (पर्यायवाचक शब्दों) के
नाम के द्वारा निरूपित किया गया है । जैसा कि कहेंगे :—

तारावती

की प्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती । अब स्मृति को छोड़िये—स्मृति कभी की
होती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है । वहाँ पर कोई निवामक कभी नहीं
है कि शब्दप्रयोग से उसके धर्म की स्मृति हो जाती है । दूसरी बात यह है कि धर्म तो
बहुत से होते हैं उनमें वह कैसे निश्चय किया जायेगा कि अमुक शब्द पर अमुक धर्म का ही
स्मरण होगा ? इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति न तो अनुमानमय हो सकती है और न
स्मृतिमय । अतः मानना ही पड़ेगा कि शब्द का ही कोई व्यापार वहाँ पर कारण होता है
जिससे प्रयोजनप्रतिपत्ति हो जाती है ।

शब्द के अनेक कारण ही व्यापार माने गये हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा ।
अभिधावृत्ति से प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधा वहाँ पर होती है

लोचनम्

नन्वेवम् 'अद्भुत्यग्रे कविवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात् । किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रायश्चादिना बाधित प्रतिपक्षोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तद्वगमकारिणो वाक्यस्याशामान्यम् । 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकस्यानिविष्टतात्पर्यशक्ति-ममर्षितान्वयबाधकोत्सामानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता ताव तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा कक्षणामिधाना समुत्पत्तिः ।

(पूर्वश्रु) निम्नन्देह इम प्रकार तो 'अरुणे के अग्रभाग में १०० श्रेष्ठ कवि हैं' यहाँ पर भी अन्वयप्रतीति हो जावेगी । (७० पं०) क्या अन्वय प्रतीति नहीं होती ? जिस प्रकार दशदाडिमानि षडपुत्रा इत्यादि (अनन्वित) वाक्य में नहीं हुआ करता है । किन्तु प्रतिपक्ष हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति में रजत' के समान दूसरे मन्वय इत्यादि प्रमाणों से बाधित हो जाता है अतः उसके अवरगन करानेवाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है । 'सिंहो बालकः' में द्वितीय कक्ष्या में निविष्ट तात्पर्यशक्ति के द्वारा समर्पित अन्वय के बाध के उन्मूलित होनेपर (प्रतीति गौचर होनेपर) बाद में अभिधा तथा तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त उत्पत्ता नाम की तृतायशक्ति ही, जो कि बाधक को व्यर्थ बनाने में निपुण है, समुत्पत्ति हो जाती है ।

तारावती

'गदा' 'पर' 'बाणक' 'सिंह' इन सभी शब्दों का अर्थ उचित होता है । किन्तु जब तात्पर्य-वृत्ति से उन्हें मिलाने लगते हैं तब तत्काल घात हो जाता है कि इनमें योग्यता का अभाव है । ऐसे स्थानों पर अन्वय होते होते प्रतिपक्ष हो जाता है । किन्तु यह बात 'तुम्हारे अन्वय में जिस शब्दनेवाले कुत्ते को शेर ने मार डाला । अतएव भ्रमण निरोधक कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है !' इस वाक्य में नहीं होती । यहाँ पर शब्दों में मिलाने की योग्यता का अभाव नहीं है । अतएव यहाँ पर न तो मुत्पत्यबाध होता है और न विरोधप्रत्याका की अन्वय की जा सकती है ।

कदाचित्तो न क्विसो प्रकार बाध स्वीकार भी कर लिया अवे तथापि निषधरक अर्थ द्वितीय कोटि (तात्पर्यवृत्ति) गन्व नहीं हो सकता । इसको इस प्रकार समझिये—उत्पत्ता की कल्पना वही पर की जा सकता है वही मुत्पत्यबाध ही । बाध वही पर होता है वही विरोध को प्रतीति है । यह प्रतीति दो प्रकार की हो सकती है—शब्दों की अन्तरात्ता का विरोध तथा अन्वय का विरोध । प्रस्तुत वाक्य 'कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो' में शब्दों का अन्तरात्ता विरह नहीं है, इसने तो किमी को संदेह ही ही नहीं सकता । अतएव अन्वय में ही विरोध मानना पड़ेगा । अन्वय में विरोध की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक अन्वय प्रतिपक्ष न हो जावे । अन्वय की प्रतिपत्ति अभिधावृत्ति से ही ही

लोचनम्

मुख्या वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यर्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्वलद्गतिः ॥ इति ॥

तेन समयापक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्वधानुपपत्तिः
सहायाथावबोधनशक्तिस्तापस्यशक्तिः । मुख्याथवाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिमा
सनशक्तिरक्षणशक्तिः । तच्छक्तिप्रयोपननितायावगममूलज्ञानतत्प्रतिमासपवि
त्रितप्रतिपत्तुप्रतिमामहायार्थद्योतनशक्तिध्वनननव्यापारः स च प्रागृत्तव्यापारत्रय
न्यक्त्वर्थं प्रधानभूत काव्यात्मत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि
निषेधविषय इत्युक्तम् । अभ्युपगममात्रेण चेतदुक्तम् । न स्वयं लक्षणा,
अत्यन्ततिरस्कारान्यत्प्रमणयोर्भावात् । न ह्यथशक्तिमूलस्याप्यापारः ।
सहकारिभद्राच्च शक्तिभेद स्पष्ट एव यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिरभ्युपगमादि
सहकृतस्य विवक्षावगतावनुभाषकरव्यापारः । एवमभिहितचक्रवादिनामि
दमनपद्मवनायम् ।

जित फल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति का परित्याग कर गुणवृत्ति से अवदर्शन किया जाता है उसमें गन्त की गति स्थिति नहीं होती ।

इससे सहज की अपेक्षा करते हुए वाच्य के अवगमन की शक्ति का अभिधाशक्ति कहते हैं । मुख्याथवाध इत्यादि सहकारियों की अपेक्षा करते हुये ध्वनि के प्रतिमान की शक्ति लक्षणाशक्ति (होती है) । उन तीनों शक्तियों से स्वयं अर्थावगमन रूप मूल से उद्भव (तथा) उस (अभिधेय इत्यादि ध्वनि) के प्रतिमास अर्थात् निरन्तर प्रतीति से पवित्र की हुई (अर्थात् सांस्कारनामक अनिश्चयता से सम्पन्न की हुई) परिणीतक (सहज) की प्रतिमा की सहायता से अवधान की शक्ति का ध्वनन-व्यापार कहते हैं और वह पहले सम्पन्न हुये तीनों व्यापारों की द्वाारा प्रधान द्वारा वाच्य की आत्मा हुआ करता है । इस आत्मा से प्रयोजन विषय ही हुये भी निषेधनुप से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता है यह कहा गया है । यह बात (विराही के असत्य पत्र की) स्वीकृति मात्र के द्वारा कही गई है । वानुस यहाँ पर लक्षणा क्षती ही नहीं क्योंकि यहाँ पर न तो वाच्यार्थ का अत्यन्त निरस्कार हुआ है और न अन्यममय ही होता है । इन (लक्षणा) का व्यापार अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि में नहीं होता । सहकारी के मूल में शक्तिभेद स्पष्ट ही है । जैसे व्याप्ति शक्ति इत्यादि से सहजत उभय गन्त की विवक्षा की अवगमन में अनुभाषकत्व व्यापार माना जाता है—अथ (शब्द) इत्यादि से सहजत (उभय गन्त का) सारिकत्यकत्व इत्यादि व्यापार माना जाता है । इन प्रकार अभिहितान्वयशक्तियों का वृत्तिरूप से इनका निराकरण नहीं हो सकता ।

लोचनम्

आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावान् । शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य
सत्त्वात्मनि जावन्म्यवहार न यस्य कस्यचिदितिचेत् गुणालङ्कारौचित्यसुन्दर-
शब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यामनि काव्यरूपताव्यवहार । मचात्मनोऽसारता
काचिदिति च समानम् । न चैव भक्तिरेव ध्वनि, भक्तिर्हि लक्षणा व्यापार-
स्तृतायकक्ष्यानिवेशी । चतुर्था तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापार । तथाहि त्रितय-
सन्निधी लक्षणा प्रवर्तत इति तावन्नवन्त एव वदन्ति । तत्र मुरयार्यवाधा तावत्
प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला । निमित्त च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि
प्रमाणान्तरगम्यमेव ।

के कारण आत्मा की सत्ता तो वहाँ पर भी है ही । यदि कहो कि विशेष प्रकार क अधिष्ठान
से युक्त शरीर के आत्मा होनेपर ही जीवका व्यवहार होता है जिस किसी के लिये नहीं
होता तो (काव्य के विषय में भी) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले
शब्द अर्थरूप शरीर के ध्वनन नामक आमतत्व के होने पर ही काव्यरूपता का व्यवहार
होता है । (हमसे) आत्मा का कोई असारता नहीं होती यह दोनों ओर समान है । इस
प्रकार मर्क ही ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) निस्तन्देह मर्क लक्षणा-व्यापार
को कहते हैं जो तृतीय कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला है, ध्वननव्यापार चौथी कक्ष्या में होता
है । वह इसप्रकार तीन के निकट होने पर लक्षणा प्रवृत्त होती है यह तो आप ही कहते
हैं । उसमें मुरयार्यवाध तो प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों को ही मूल मान कर चलता है ।
सामीप्य इत्यादि वा निमित्त बतलाये जाते हैं वे भी दूसरे प्रमाणों से ही अवगत किये जाने
योग्य होते हैं ।

तारावली

प्रतिप्रति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है । अतएव ध्वनन रूप आत्मा की सत्ता में यह वाक्य
भी काव्य क्यों नहीं माना जाता ?

(उत्तर) आत्मा भी तो व्यापक है । अतएव वह षट में भी विद्यमान है फिर षट में
जीवव्यवहार क्यों नहीं होता ? जैसे षट में जीवव्यवहार नहीं होता उसी प्रकार "बालक
सिंह है" इस वाक्य में ध्वनन व्यापार के हात्त रुप भी काव्य व्यवहार नहीं होता । सम्भवत
आप इसका उत्तर यह दें कि जीव का व्यवहार कहीं पर होगा है जहाँ पर नर चरण
इत्यादि विविष्ट अवयवों का संयोग हो । इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जहाँ पर गुणों
और अलङ्कारों के औचित्य के साथ काव्य वा सुन्दर शब्द और अर्थरूपों शरीर विद्यमान
होगा है, साथ ही ध्वननव्यापाररूपों काव्य की आत्मा भी विद्यमान होती है वहाँ पर
काव्य का व्यवहार होता है । इस दृष्टान्त से इस आक्षेप का भी उत्तर हो जाता है कि यदि
ध्वनन को काव्य की आत्मा माना जायेगा तो 'बालक सिंह है' इत्यादि स्थानों पर ध्वनि की

तारावती

सहकारी हेतु होते हैं शब्दियार्थ सन्निकष, जिनके वैशेषिक दर्शन में ६ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनुमिति में भी व्यति, स्मृति तथा पदार्थमंडा का ध्यान और परामर्श कारण होते हैं। जो लोग शब्दशक्ति को भी अनुमानयम्य मानते हैं उनके मत में अर्थबोधन के लिये प्रयुक्त शब्द में व्यति स्मृति इत्यादि के सहकार से ही अनुमापकत्व का व्यवहार होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—वत्त यह बात कहना चाहता है, क्योंकि उसने इस शब्द का प्रयोग किया है, जहाँ जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग होता है वहाँ यह अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे अमुक रथान पर इस शब्द का प्रयोग किया गया था वहाँ पर यही अर्थ अभीष्ट था, वैसा ही यहाँ पर है—अतएव यहाँ पर भी अमुक अर्थ ही अभीष्ट है। इसी प्रकार उपमान में सादृश्य ध्यान इत्यादि कारण होते हैं। शब्द प्रमाण में अभिधायक पर सकेतध्यान तथा तात्पर्यवृत्ति कारण होती है और लक्षणारण्य पर शक्यार्थबाध इत्यादि कारण होते हैं। व्यञ्जनावृत्ति में भी कतिपय सहकारी अपेक्षित होते हैं जिनका परिगणन आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित कारिकाओं में किया है —

वक्तृबोद्धव्यकारुणा वाक्यशक्यान्वर्थात्रये ।
प्रस्तावदेशकालादेवौशब्दयार्थतभाजुषाम् ॥
योऽन्यस्यान्वार्थधीहेतुव्यापारोभ्यतिरेव सा ॥

लक्षणा में शक्यार्थबाध इत्यादि सहकारी होते हैं और व्यञ्जना में वक्ता बोद्धव्य इत्यादि सहकारी होते हैं। इस प्रकार सहकारी भेद के कारण वृत्तिभेद मानना भी आवश्यक है। अतएव अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

—अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जनावृत्ति—

अत्र अभिहितान्वयवाद के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति की अतिरिक्तता निश्च की गई है। अब अन्विताभिधानवाद के अनुसार भी व्यञ्जना की अन्वितावृत्ति दिखल नहीं है। इसके लिये सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अन्विताभिधानवादी समाचर सुख के अनुवाची इस तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वाक्यार्थ वाक्य के द्वारा ही प्रकट हो जाता है अतः अभिधावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्यवृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इन लोगों की दक्षिणहृत् की प्रक्रिया इस प्रकार है —

‘वाक्य को शक्तिग्रह सर्वप्रथम अन्वित ही होगा है। अब कोई वृद्ध किसी सुख को ‘गाय छात्री’ यह आदेश देगा है और सुख उसकी आवा से गय ले आता है, अब वह

लोचनम्

यस्मिन् घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिक प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपक्षम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्व तत्र शब्दस्य न तावत्त व्यापार । तथा हि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मस्थानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्द वाच्यत्व च घटोरसिद्धम् । अथ यत्र यत्रैवशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग

जो यह घोष को अत्यन्त पवित्रता, शीतलता सेव्यता इत्यादि दूसरे शब्दों से न कहा जानेयोग्य और दूसरे प्रमाणों से प्रतिपक्ष न होनेवाला प्रयोजन है अथवा 'बटु' की अत्यन्त पराक्रमशीलता है, उसमें शब्द का काह व्यापार नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जासकता । वह शब्दप्रकार-उत्सके समोप हाने से उसके धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (हेत्वाभास से युक्त) है । बटु का सिंहशब्दवाच्यत्व अतिद्व है । अब यदि अनुमान (व्याप्ति) का रूप यह बनाते हो कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का

तारावती

नहीं है तो या तो अनुमान वारण हो सकता है या स्मृति कारण ही मकरी है । अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—'उट, गङ्गातन अत्यन्त पवित्र' इत्यादि गुणोंवाला है, क्योंकि गङ्गा के समोप है 'जैसे मुनिजन इत्यादि ।' यहाँ पर व्याप्ति यह होगी—'जो गंगा के निकट होता है वह पवित्र होता है । जैसे मुनिजन गंगा के निकट होने से पवित्र होते हैं ।' किन्तु यह व्याप्ति अस्वाभाव्य है, क्योंकि गंगा के निकट खोपकी हट्टी इत्यादि भी पड़ी रहती हैं किन्तु वे पवित्र नहीं मानी जा सकती । अतएव हेतु में अनैकान्तिकता का जानो है जिससे साध्यसिद्धि में सभ्य विचार हेतुनास उपरिपत होकर उसे अप्रामाणिक बना देता है । इसी प्रकार 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य में शेर की बोरता के प्रत्यायन के लिए हमें अनुमान की यह प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी—'बटु सिंहधर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्दवाच्य है, जो जो सिंहशब्दवाच्य होते हैं वे वे सिंहधर्मवाले भी होते हैं जैसे वाल्मिकि सिद्ध उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी है अतएव वह भी सिंहधर्मवाला है ।' इस अनुमान की प्रक्रिया में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । बटु पण है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है । अनुमान की प्रक्रिया में यह अतिराय नियम है कि हेतु का पण में रहना प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये । किन्तु यहाँ पर ब्रह्मचारी का सिंहशब्दवाच्य होना प्रमाण रूप में अतिद्व हो जाता है । अतएव यह अनुमान ठीक नहीं कहा जा सकता । इन दोनों स्थानों के लिए अनुमान की एक दूसरी प्रक्रिया भी हो सकती है—रक इस प्रकार की व्याप्ति बनाई जाये जहाँ पर व्यापिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ उनके धर्म का योग अस्वभाव्य हो जाता है । इस व्याप्ति से साध्यसिद्धि हो सकती है किन्तु व्याप्तिपक्ष के लिए कोई दूसरा प्रमाण बतलाना पड़ेगा । क्योंकि बार-बार सिद्धि विनेष उदाहरणों को देखकर ही व्याप्तिप्रसिद्ध होता है । अब यहाँ पर कोई प्रमाण ही नहीं लभ न तो व्याप्तिप्रसिद्ध हो सकेगा और न साध्यसिद्धि ही होगी । इस प्रकार प्रयोजन

लोचनम्

योऽप्यन्वितामिधानवादी 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति हृदये गृह्यते शरवदमिधान्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाधिति कुत ? भिन्नविषयत्वात् । अयानेकोऽर्थो तद्विषयसहकारिभेदादसत्तात्वीय एव युक्त । सत्तात्वीये च कार्ये विरम्यव्यापार शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविरिञ्च निषिद्ध । असत्तात्वीय चास्मद्य एव ।

जो अन्वितामिधानवादी भी 'यत्परक शब्द होता है वह शब्द का अर्थ हुआ करता है' यह हृदय में ग्रहण कर के शर के समान दीर्घ दीर्घ अमिधाव्यापार को ही चाहता है उसका यदि दीर्घ व्यापार होता है तो 'यह एक है' यह कहा हो कैसे या सत्ता है ? क्योंकि उसका विषय भिन्न होता है । यदि यह अनेक होता है तो तद्विषयक सहकारियों के भेद से इसका असत्तात्वीय होना ही ठीक है और सत्तात्वीय कार्य में पदार्थ के विद्वानों ने शब्द बुद्धि और कर्म का स्व-स्व कर व्यापार बना कर दिया है । असत्तात्वीय होनेपर हमारी ही भेद (गतार्थ हो जाती है ।)

सारावती

अन्वितामिधानवादी मृष्टोऽप्य के अनुयायी 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' तथा 'सोऽयमिधारिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' ये युक्तियाँ देकर स्वजनाश्रित को अमिधा में सन्निविष्ट करते हैं । उनके बचन का आशय यह है—'यह शब्दशक्ति का व्यापार भी वाच के समान अधिक-अधिक हो जाता है । जिस प्रकार बलवान के द्वारा डोंडा हुआ बाण अपने वेगनामक व्यापार द्वारा शत्रु के कर्च को भी काटता है, उसके मर्मस्थान को भी विदीर्ण करता है और उसका प्राणहरण भी करता है । वसी प्रकार महाकवि का प्रदण किया हुआ शब्द भी अमिधा नामक व्यापार के द्वारा पदार्थ को भी उपस्थित करता है, अन्वयबोध भी कराता है और व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीति भी कराता है । आशय यह है कि 'एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्द शक्ति का तत्काल विराम नहीं होता जबतक विवर्तित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती ।' इनका कहना है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ में ब्रह्मा का तात्पर्य हो । इसपर गुप्ते (श्री अमिनव गुप्त को) यह पूछना है कि यदि शब्द का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता जाता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि समान व्यापारों में उनके विषय बदलते जाते हैं । विषय भी भिन्न होते हैं और सहकारी भिन्न होते ही हैं । (अमिधा का सहकार्य संकेतग्रहण होता है, उदाहरण के सहकारी सम्बन्धबोध इत्यादि होते हैं और स्वजना के सहकारी बल-वेग-व्यापार होते हैं ।) इस कारणों से विभिन्न व्यापार असत्तात्वीय ही मानने परेगे । कारण यह है कि शब्दतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने निरम्य बना दिया है कि शब्द बुद्धि और कर्मों का सत्तात्वीय कार्य में स्व-स्व कर व्यापार कभी नहीं होता, व्यापारों को असत्तात्वीयता स्वीकार कर देने पर हमारा ही मिथ्यात्व निरम्य हो जाता है कि शब्द की पदक-पदक शक्तियों अमिधा उदाहरण और स्वजना के नाम से अभिहित की जाती है ।

तात्पर्य

जहाँ पर सनेतग्रहण हो चुका हो। शीतलता पावनता इत्यादि धर्मों में सनेतग्रहण हुआ ही नहीं है। अतएव ये धर्म अविभाज्यतागम्य नहीं हो सकते। तात्पर्यार्थ से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उसका कार्य अन्वयपरतीतिकाल में ही समाप्त हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षणा से हो सकती है या नहीं? लक्षणा के लिए शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—शक्यार्थसम्बन्ध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। जिस प्रकार झोपड़ी के साथ अन्वय होने पर प्रवाह अर्थ बाधित हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गगनट पर झोपड़ी' यह अर्थ भी बाधित हो जावे तो लक्षणा का भवसर हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ में इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव लक्षणा की पहली शर्त समाप्त हो गई। लक्षणा की दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। एक तो तट शक्यार्थ ही नहीं है दूसरे उसका शीतलत्व इत्यादि से लक्षणा के लिये परिगणित सम्बन्धों में कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार दूसरी शर्त भी पूरी नहीं हुई। तीसरी शर्त है रूढिप्रयोजनान्यतरत्व। रूढि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए दूसरा प्रयोजन माना जावेगा तो उस दूसरे प्रयोजन का भी कोई दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवरथा दोष हो जावेगा जो मूल को ही गूँथ बरनेवाला होगा। अतएव यहाँ पर कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता। [काव्यप्रकाशकार ने यहाँ पर एक सम्भावना और बतलाई है—उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोजनविशिष्ट लक्ष्यार्थ' में ही लक्षणा मानी जा सकती है। इस सम्भावना का उन्होंने यह बहकार स्पष्टन किया है कि लक्ष्यार्थ तो लक्षणा का विषय है और प्रयोजन उसका फल है। विषय और फल ये दोनों कभी एक ही ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये ज्ञान का विषय और होना है तथा फल और। जैसे मत्स्यज्ञान का विषय होता है घट और इसके फल के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत है मोर्मासकों का जो यह मानते हैं कि मत्स्यज्ञान का फल है किसी वस्तु का प्रकट हो जाना। घटज्ञान के बाद 'घटा जान लिया गया' इस प्रत्यय के कारण घट में जो घातना अवस्था प्रकटता उत्पन्न हो जाती है वही मत्स्यज्ञान का फल है। मोर्मासक लोग द्वेषधर्म घातना या प्रकटता को ही ज्ञान का फल मानते हैं। दूसरा मत है नैथ्याविकों का जिनका मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय से जो अनुभूत साथ या संवित्ति होती है वही मत्स्यज्ञान का फल है। इस प्रकार नैथ्याविक लोग घातधर्म को ज्ञान का फल बतलाते हैं। जिस प्रकार मत्स्य के विषय और उसके फल दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं उसी प्रकार लक्षणाजन्य ज्ञान में भी उसके विषय तट की अपेक्षा उसके फल शीतल-पावनत्व इत्यादि में मेरु अवनय होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार गगानट से लक्षणावृत्तिके द्वारा तट की अवगति हो जाती है उसी प्रकार लक्षणा से ही प्रयोजन की अवगति किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लक्षणा की कोई शर्त मिलनी ही नहीं। अतएव जो लगे यह कहते हैं कि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए होनेवाली लक्षणा

शेषतश्च

अयोध्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुषा
 घस्तुस्यस्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं
 स्यात् । न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा
 प्रयोगात् । अवापोद्गापाम्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केत पदार्थमात्र इत्यभ्युप-
 गमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतीति ।

अयोध्यते—एष्टव इति तात्पर्यप्रतिपत्ति किमत्र कुम्भं इति । तर्हि
 वयमपि न नाङ्गीकुम्भं । यद्दृश्याम—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो चाक्षयार्थविमुक्तात्मनाम् ।

बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां इदित्येवावभासते ॥ इति ॥

किन्तु साविशयानुशीलनाभ्यामासत्र सम्मान्यमानोऽपि ब्रह्म सजातीय-
 तद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिब्रह्मवत्त्वं सवेद्यत इति ।

यदि बह्म जावे—पहले बह्म पर सङ्केतग्रहण से सञ्ज्ञ (व्यक्ति) की प्रतिपत्ति वत्स
 प्रकार की हो जाती है इस वस्तुस्थिति में पदार्थों का निमित्तत्व बन जाता है तो वत्स
 (पापन्निक अर्थ) के अनुसरण में उपयोगी कुछ भी कहा हुआ नहीं होगा । यह भी नहीं
 कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रहण हो चुका है क्योंकि अन्वितों का ही सर्वदा प्रयोग होता है ।
 अत्रापि और उदाहरण (शब्दों के प्रवेश और निर्गम) के द्वारा यह वत्स (पृथक्-पृथक् पदार्थों
 में सङ्केतग्रहण) हो जाता है, यदि यह बह्म तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही होता है यह मानने
 पर (निषेधरूप) विशेष प्रतिपत्ति बाद में ही होगी ।

यदि कहो कि शीघ्र तात्पर्य प्रतिपत्ति देनी ही है इस विषय में हम क्या करें । तो इसको
 ही हम भी स्वीकार नहीं करते हैं यह बात नहीं है । जैसा कि हम कहेंगे—'उसो प्रकार
 वाक्यार्थ से विमुक्त आभासाले सहदयों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ शीघ्र ही
 अवभासित हो जाता है ।' किन्तु अत्यन्त अनुशीलन के अभ्यास के बावजूद बह्मपर सम्भावि-
 होते हुये भी ब्रह्म सजातीय पदार्थ विकल्प परम्परा के उदय न होने के कारण विषय की
 स्मृति के समान अथवा समवस्मृति के ब्रह्म के समान सवेद्यन-गोचर नहीं होता ।

सारावली

यहाँ पर अगर यह कह सकत है कि संकेतग्रहण तो पहले ही हो चुका था । किन्तु पहले
 ही संकेतग्रहण में सञ्ज्ञ बह्म ही है । भाग में वाक्य सुनने पर व्यङ्ग्यार्थबोध हो जाता है और
 पदार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए अथ विम प्रक्रिया का आशय लेंगे ? व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण
 का हुआ नहीं कि अगर अभिप्राय के आधार पर अन्वित होने मान सकते हैं ? दूसरी
 बात यह है कि संकेतग्रहण आगे मन में पहले ही ही नहीं सबता क्योंकि अगर वा अन्वित
 में ही प्रतिपत्ति मानत है । यदि अगर यह मानें कि संकेतग्रहण अन्वित में ही होता है किन्तु

सारावती

सशितलक्षणा कही जाती है, यह उनका व्यञ्जना को खण्डन करने के लिए दुराग्रहमात्र है, उसमें सार कुछ भी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन प्रतिपत्ति न तो अनुमान से हो सकती है न स्मृति से और न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों में किसी से उसका बोध हो सकता है। अतएव उक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न एक चौथी वृत्ति या शब्दव्यापार अवश्य मानना पड़ेगा। फिर आप वसे ध्वनन, पोलन, व्यञ्जन, प्रत्यादन, अवगमन इत्यादि पर्यायों में चाहे जो शब्द नाम दे सकते हैं। लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती यह बात आगे चलकर 'सुग्धा वृत्ति परित्यज्य' इस वाकिका की व्याख्या के अन्तर पर अधिक विचार रूप में समझाई जावेगी।

इसप्रकार शब्द की चार वृत्तियाँ सिद्ध हुईं—(१) वाच्यार्थ का अवगमन करनेवाली सद्बोधमापेक्षिणी वृत्ति अभिधा कहलाती है। (२) अभिधा के द्वारा सङ्केतित अर्थ के प्रकट कर दिये जाने के बाद अन्वयरूप कुछ ऐसा अज्ञ शेष अवश्य रह जाता है जो कि अभिधा के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव वाच्यार्थपूर्ति में सहायक होकर जो वृत्ति अर्थबोध में कारण होती है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। (३) शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढि प्रयोजनान्यतर इन तीन सहकारियों की अपेक्षा करते हुये जो शक्ति दूसरे सम्बन्धित अर्थ का बोध करती है वह लक्षणा कही जाती है। (४) अभिधा तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों से जिस अर्थ का अवरोध होता है उसी से एक अन्य भी अर्थ स्फुरित होने लगता है जिसके बार-बार अनुसन्धान से परिशीलन करनेवालों की प्रतिमा पवित्र हो जाती है। इस प्रकार प्रतिमा को पवित्र करने में समर्थवृत्ति ध्वनन या व्यञ्जन व्यापार के नाम से अभिहित की जाती है। अब यह वृत्ति गौर तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पदपर आतीन हो जाती है तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है। (ध्रुव) ऊपर लक्षणा का जो निवेदन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि 'भ्रमभामिक ... सिद्धान्त' में भ्रमण का निषेध लक्ष्यार्थ है और सकेतस्थान की रसा इत्यादि उस लक्षणा के प्रयोजन हैं जिनका अवगमन व्यञ्जना से होता है। फिर आलोककर ने यह कैसे लिख दिया कि प्रतिषेधरूप अर्थ व्यञ्जना व्यापारण्य है? (वृत्त) निषेध अर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा सकेतस्थान को सुरक्षा प्रकृत होती है। शीलिये निषेध अर्थ का होना बह दिया गया है। यह वृत्त तो इस बात को मान कर दिया गया है कि मरुत स्थान पर लक्षणा होती है। वस्तुतः वही पर लक्षणा होती ही नहीं, क्योंकि लक्षणा के हेतु वही पर मिलते ही नहीं। न तो शक्यार्थ का अल्पतः तिरस्कार होता है और न उसका अन्य अर्थ में सक्रमण हो होता है। यही पर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि है जिनमें लक्षणा मानी ही नहीं जा सकती। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ध्रुवों में कुछ सहकारी कारण अवश्य अपेक्षित होते हैं। उदाहरण के लिये मन्थन ध्रुव को प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तदा सर्विकल्पक। इन दोनों प्रकार के मन्थनध्रुवों में

तारापत्नी

पदों का क्रियापद के साथ ध्वन्य होता है तब कारकाद्वय प्रधान क्रिया को पूरा करनेवाली अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साथ्य बन जाते हैं। जैसे 'गाय छाओ' इस वाक्य में 'गाय' कारक शब्द है और 'छाओ' क्रिया शब्द। कारक शब्द गाय यद्यपि स्वतः सिद्ध शब्द है किन्तु छाना क्रिया की पूर्णता के लिये गाय के चलने को क्रिया अभीष्ट हो जाती है। अपनी क्रिया से प्रधान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने के कारण गाय यह सिद्ध शब्द भी साथ्य बन जाता है। इसी प्रकार 'बका छाओ' इस वाक्य में भी 'छाना' रूप प्रधान क्रिया को पूर्णता के लिये सिद्ध शब्द 'बका' की पूर्वदेज त्याग और अन्यदेजसंयोग रूप क्रिया की अपेक्षा होती है। अतः बका शब्द भी साधकोटि में आ जाता है। इस प्रकार जब सभी शब्द साथ्य हो गये तब भिन्न प्रकार तुणों की राशि में एकी हुई भाग वही तुणों को बलाती है जो बलें नहीं होते, वही प्रकार वाक्य के प्रयोग में भी जितनी बात हमें किसी अन्य प्रमाण से शत होती है उसका विधान नहीं होता और जो वस्तु अभास (अघात) होनी है उसी का विधान होता है। उदाहरण के लिये श्येनवाग के प्रकरण में एक वाक्य आया है—'टाळपगडीशाले ऋत्विज एभर उभर सभरण कर रहे हैं।' यहाँ पर चार तत्त्व हैं—लाठी, पगड़ी, ऋत्विज और सभरण क्रिया। श्येनवाग में ज्योतिष्टोम का ऋतिदेश (समानता) प्रतिपादित है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में लिखा है कि 'पगडीशाले ऋत्विज एभर उभर दिवर रहे हैं।' इस वाक्य से पगड़ी, ऋत्विज और विचरण तो प्राप्त हो ही जाते हैं। अतएव इन तीन बातों के ज्योतिष्टोम प्रकरण के प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर श्येनवाग में केवल पगड़ी की लाठी ही विधेय रह जाती है। इसी प्रकार 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में तीन पदार्थ हैं—दही, करणकारक और हवनक्रिया। हममें हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध है। साधनद्रव्य होने के कारण दही का भी आशय कर ही लिया जाता है। अतएव यहाँ पर केवल करण कारक ही विधेय रह जाता है क्योंकि वही अभास है।

कहीं कहीं दो विधियाँ होती हैं, कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं इससे भी अधिक विधियाँ होती हैं। जैसे 'टाळ कपडा तुनो' यहाँ पर लाठी, कपडा और तुनता ये तीन शब्द हैं। यदि पहले से मान्य है कि कपडा तुनता है तो केवल लाठी ही विधेय होगी। यदि पहले से इतर मान्य है कि कुछ तुनता है, यह पता नहीं कि क्या तुनता है तो लाठी और कपडा ये दो विधेय होंगे। यदि पहले से कुछ भी नहीं दात है तो लाठी, कपडा और तुनता ये तीनों विधेय होंगे। इसी प्रकार 'स्नान और भोजन किये दूजे ब्राह्मण को ठे आओ' इस वाक्य में यदि पहले से कुछ भी मान्य नहीं है तो स्नान भोजन ब्राह्मण और आनवन ये चार विधेय होंगे। यदि इतना मान्य है कि ब्राह्मण को स्नान है तो उसका स्नान और भोजन ही विधेय होगा। यदि इतना मान्य है कि ब्राह्मण स्नान किये बैठा है तो केवल उसका भोजन करना ही विधेय होगा।

दारावती

क्रिया का शर होती है तब बाळक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय छे जाने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इस प्रकार सबसे पहले बाळक को दक्षिणार्ध वाक्य में ही होता है। इसके बाद जब वही बूढ़ के 'गाय छे जाओ' 'अरव लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनता है और उनकी क्रियाओं को देखता है तथा वाक्य के भिन्न भिन्न शब्दों के भिन्न भिन्न प्रयोगों पर ध्यान देता है तब वह शब्दों के अन्वयार्थ (निर्गम प्रवेण) के द्वारा शब्दों की दक्षिण को समझ लेता है। उस समय वह शब्दों की जिस दक्षिण को समझता है उसमें अन्वयार्थ विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारकपदों का क्रिया के साथ और क्रिया पदों का कारक के साथ सम्बन्ध प्राप्त हो जाता है। बाद में जब शुद्ध शब्दों का ज्ञान होता है तब इस अन्वयार्थविहित दक्षिण से अन्वयार्थ को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अभिधावृत्ति के द्वारा ही अन्वयार्थ में दक्षिण प्रतीत हो जाती है और वाक्यवृत्ति के स्पष्ट मानन को सम्भव नहीं रह जाती। इस मंत्र के अनुसार 'गाय लाओ' इस वाक्य के 'लाओ' शब्द का अर्थ होगा-दूर शब्द से अन्वित आनयन क्रिया। इसी अर्थ में इसका संकेत है। अन्वयार्थ में इसका संकेत नहीं है फिर भी अन्वयार्थ का बोध होता ही है। इस प्रकार संकेतमध्यम हुआ 'अन्वयार्थान्वित आनयन क्रिया' इस अर्थ में और बोध हुआ अन्वयार्थ का। जिस प्रकार पका एक वस्तु है। वास्तु शब्द से हमें पके का बोध मले ही हो जाने किन्तु वस्तु शब्द का अर्थ तो पका नहीं हो जावेगा। इसी प्रकार अन्वयार्थ पद से अन्वयार्थ का बोध मले ही हो जाने किन्तु अन्वयार्थ पद का अर्थ अन्वयार्थ कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जब एक शब्द का अर्थ भी वाक्य नहीं हो सकता तब व्यवहार्य जो अतिविशेष है और जो वाक्यार्थ से भी सर्वथा भिन्न होता है। उसका समावेश अभिधावृत्ति में हो सकेगा, इसका तो कल्पना मा नहीं की जा सकती। 'लाओ' शब्द का वाक्यार्थ अन्वयार्थ नहीं हो सकता, इसका कारण यह है कि अन्वयार्थ के अनुसार किसी शब्द से उसके सामान्य रूप का परिचय हो जाता है। जैसे धूम को देखकर धूम्र का ज्ञान हो जाता है। बाद में धूम्र का ज्ञान होने के कारण किसी ऐसे धुँये को देखकर जिसको कभी न देखा हो, यह ज्ञान हो जाता है कि यह धुँयाँ है। इसे सामान्य अन्वयार्थमत्तावृत्ति कहते हैं। यहाँ 'लाओ' शब्द सामान्य अन्वयार्थमत्तावृत्ति से अन्वयार्थान्वित आनयन क्रिया का ही बोध होगा अन्वयार्थ का नहीं।

अभिधावृत्तिपद में शब्द का अर्थ अन्वयार्थ से रहित नहीं होता है और अन्वयार्थमत्तावृत्तिपद में सामान्य रूप से जिस भी दूसरे शब्द में अन्वित ही उसका अर्थ होता है। इस प्रकार 'विशेष शब्द के साथ भी अन्वित' अर्थ वाक्य नहीं हो सकता। अन्वयार्थ दोनों ही अर्थों से व्यवहार्य कभी वाक्यकोटि में नहीं आ सकता।

लोचनम्

निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्यमाश्रयणीय, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुक्त्या-
 ज्ञेद, 'श्रुतिविक्रमादिप्रमाणपटकस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादि प्रक्रियाविधायाः,
 निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वान् । निमित्ततावैचित्र्ये धाम्युपगते
 किमपरमस्मात्स्वस्यया ।

निमित्त-नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये । अन्यथा गौण
 लाक्षणिक में मुख्य से भेद (सिद्ध नहीं होता) और 'श्रुति विग्न इत्यादि छ प्रमाणों में
 पारदौर्बल्य' इस प्रक्रिया का विपात (हो जाता है ।) क्योंकि निमित्तताके वैचित्र्य से ही
 इसका समर्थन होता है । निमित्ततावैचित्र्य के मान लेने पर हमारे प्रति अस्वया से क्या दूसरा
 काम (आपको प्राप्त होगा । अर्थात् आपने तो हमारी बात ही मान ली ।)

तारावती

—अभिधा और व्यञ्जना का भेद—

ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि अभिधा और व्यञ्जना में
 निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है । अभिधा निमित्त होती है और व्यञ्जना नैमित्तिक । निमित्त
 और नैमित्तिक का तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता । अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा
 भिन्न होती हैं यह विवाद का विषय रह ही नहीं जाता । यह निमित्त नैमित्तिक भाव तो मानना
 ही पड़ेगा । नहीं तो निम्नलिखित स्थानों की सहायि नहीं बैठ सकती —

(अ) गौण और मुख्य में भी भेद सिद्ध नहीं होया । मुख्य (शास्वार्थ) के साथ में
 ही एतन्ना हो सकती है । इस प्रकार शास्वार्थ निमित्त होता है और एतन्ना नैमित्तिक होता
 है । यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं माना जावेगा तो न तो शास्वार्थसाथ का ही मन्त्र
 पैदा होगा और न मुख्यार्थ तथा एतन्ना का भेद ही हो सकेगा ।

(आ) भगवान् जेमिनि ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि श्रुति, टिप्पण, वाक्य, प्रहरण,
 स्थान और समाख्या इनमें अर्थ विमर्श के कारण क्रमा पर का दुर्बलता जाती जाती है ।
 यह विनियोजक सूत्र है और विनियोजकों के साथ तारक्य पर विचार करता है । विनियोजक
 ६ होते हैं—(१) श्रुति-वचन मात्र से ही बिना किसी क्रमेण के अर्थ को प्रकट करने
 की शक्ति (२) टिप्पण-बिना शब्द की विशेष अर्थघोषक शक्ति (३) वाक्य-परस्पर आकांक्षा के
 कारण किसी एक अर्थ में पर्यवसित होने पर दोनों को वाक्य कहते हैं । यह दोनों स्थान पर
 विनियोजक होता है जहाँ पर किसी दूसरे प्रमाण से वाक्य का कोई एक अर्थ किसी एक
 अर्थ में विनियुक्त हो अन्य तथा उसके दूसरे अर्थ विनियोजक ही रह जायें । तब एक
 वाक्य होने के कारण उसके दूसरे अर्थ भी वही अर्थ में विनियुक्त हो जाते हैं जिसमें उस
 वाक्य का कोई अर्थ विनियुक्त हुआ रहता है । (४) प्रहरण-परस्पर आकांक्षा को प्रहरण
 कहते हैं । जैसे एक विचरन है कि 'दूरी और पूर्णमास नामक दोनो के द्वारा स्वर्ग के लिए

लोचनम्

अथ योऽसौ चतुर्थकक्ष्यानिविष्टोऽर्थः, स एव इतिवाक्येनाभिधीयत इत्येवविषय दीर्घदीर्घत्व विवक्षितम् तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्ति ? निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्वसावर्धस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्— पश्यत धोत्रियरयोक्तिकौशलम् । यो इसी पर्यन्तकक्ष्याभाग्यर्थं प्रथम प्रतीति-पथमवतीर्णं, तस्य पश्चात्तना पदार्थावगमा निमित्तमात्र गच्छन्तीति नून मीमांसकस्य प्रपौत्र प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम् ।

अब यदि यह जो चौथी कक्ष्या में निविष्ट अर्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है, इस प्रकार का दार्पण विवक्षित है तो वहाँ पर सङ्केत न करने से साक्षात् प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है ? यदि वह माने कि निमित्तों में सङ्केत होता है और यह नैमित्तिक अर्थ सङ्केत की अपेक्षा नहीं करता तो इस धोत्रिय की उत्कृष्टता तो देखो । निम्न-देह जो यह पर्यन्त (अन्तिम) कक्ष्या भागी पहले ही प्रतीतिपथ में भवतीर्ण होनेवाला अर्थ (व्यापार्य) है उसके बाद में होनेवाले पदार्थावगम निमित्त बन जाते हैं यह तो निम्न-देह ऐसा ही है कि मीमांसक का प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व बतला दिया गया है ।

तारावती

(पूर्वपथ) वहाँ पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का आशय यह है कि अभिधा तात्पर्य और लक्षणा के बाद जो यह चौथी कक्ष्या में निविष्ट व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की वाक्य के द्वारा एकदम प्रतीति हो जाती है । (उत्तर) अभिधा से उसी को प्रतीति होती है जिसमें संकेत ग्रहण हुआ हो । जब व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण हुआ ही नहीं तब अभिधा के द्वारा उसको प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?

(पूर्वपथ) वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीतिगोचर हो जाता है । उस व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त शक्त्यर्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है । व्यङ्ग्यार्थ की एकदम प्रतीति हो जाने के बाद विशेषरूप से ध्यान देने पर शक्त्यर्थ की भी प्रतीति होती है । संकेतग्रहण शक्त्यर्थ में होता है जो कि व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है । उसी व्यापार पर नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है और इसमें संकेतग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती । (उत्तर) इन महापण्डित महोदय की उत्कृष्टता को तो देखो ? अन्तिम कक्ष्या को प्राप्त होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो पहले प्रतीतिगोचर होता है और उसमें निमित्त होता है बाद में प्रतीति होनेवाला पदार्थावगम ? अर्थात् कार्य पहले होता है और कारण बाद में । आशय यह है कि मीमांसक का परंपरा मीमांसक को जन्म देनेवाला होता है ?

सारावती

वाक्य का अर्थ पूरा नहीं हो जाता उसी प्रकार श्रुति इत्यादि विनियोजक भी अर्थबोध में सहकारी मात्र होने हैं। जैमिनि सूत्र का अन्वय यह है कि जिन सहकारियों को पहले उपदिष्ट किया है वे सहकारी परतन्त्रियों को अथवा अधिक बलवान् हाते हैं। इस प्रकार जैमिनि सूत्र की सगति भी बैठ जाती है और व्यञ्जना की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

(६) ध्वनिवादो—यत् आप केवल अभिधावृत्ति का मानेंगे तो गुरु शक्ति इन शब्दों को बलवत् देने से 'रुचिद्रुच' यह हो जाने पर बाह्यान्तवर्तों अस्तीत्य दोष जिस प्रकार बन सकेगा ? चिद्गुणवत् हाटी भाषा में स्त्री को यानि के अतवर्ता अत्र के लिये प्रयुक्त होता है। अन्विताभिधानवादीयों के मन में अन्वित नहीं है अतएव यहाँ पर उन्वा प्रतीयमान असम्भ्य अर्थ अस्तीत्य दाष का सोना में आ ही नहीं सकता। अतः वाक्य में उसके परित्याग की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। व्यञ्जना श्रुति के मानने से ही यहाँ दाष की व्यवस्था की जा सकती है अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिर्वाह है।

ध्वनि विरोधो—उक्त तक समीचीन नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव की हुई शक्ति अन्वित में स्मारक हाटी है। चिद्गुण की शक्ति का असम्भ्य अर्थ में अनुभव किया जा चुका है। अतएव वह उसी अर्थ को स्मरण करा देगी और दोष की व्यवस्था हो जावेगी। उसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं।

(७) ध्वनिवादो—यदि वाक्यवाक्य मात्र से सिद्ध अर्थ व्यञ्जकमान अगोचर नहीं दिया जावेगा तो वह व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं बन सकेगी कि व्याकरण-रूपवाहीन अनाशुभ इत्यादि नियम दाष होते हैं और वहाय श्रुतिकारण इत्यादि अन्वित दोष हाते हैं। साहित्यशास्त्र में कुछ दोष तो नियम माने जाते हैं और कुछ अनित्य। उदाहरण के लिए व्याकरण के नियम की अवहेलना सब ऐसा दाष है जो सर्वत्र दोष ही रहता है। इसके प्रतिशुद्ध कुछ दोष सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे अन्वित दोष शृंगाररस में तो मुरा मान्य पक्का है किन्तु शौरस में गुण हा जाता है। ऐसे दाष अनित्य दाष कहलाते हैं। नियम और अनित्य दाषों की व्यवस्था तो तभी बनेगा जब व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया जावेगा। केवल अभिधावृत्ति के मानने पर वही दोष माना जावेगा जो वाक्यार्थ व्यवच्छिन्न होगा और देने सभी तत्त्व सर्वत्र दोष ही माने जायेंगे। इसके प्रतिशुद्ध व्यञ्जनावृत्ति के मानने पर दाषों की निश्चयित व्यवस्था सगत् हो जावेगी। क्योंकि व्यञ्जना के अर्थों तक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक शब्द किसी अर्थार्थ का पुष्ट कर सकता है दूसरे को अशुभ। अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिर्वाह है।

(८) साहित्य शास्त्र का नियम है कि कहीं पर कोई शब्द अन्वित मान्य पक्का है और दूसरे स्थान पर उसी अर्थ में उसका पर्यायवाचक ही अन्वित मान्य पक्का है। जैसे स्त्री के पर्यायवाचक स्त्री शब्द का जैमिनी इत्यादि अनेक दाष है। 'स्त्री' शब्द विशेषतया के

तारावती

शब्दों के अन्वय-उद्घाट (प्रवेश निर्गम) के आधार पर सकेतग्रहण पदार्थ मात्र में भी हो सकता है तो इस पर मेरा निवेदन यह है कि ऐसी अवस्था में विशेष अर्थ की प्रतीति तो बाद में ही होगी। अभिहितान्वयराशियों के समान आपको भी तात्पर्यवृत्ति इत्यादि की कल्पना करनी ही पड़ेगी। ऐसी दशा में अन्वयतामिधानवाद का भाषका सिद्धान्त ही उच्छिन्न हो जावेगा।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि पदार्थव्यहयार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बने या न बने किन्तु वाक्य बोधते ही एकदम जो तात्पर्यार्थ की प्रतीति होने लगती है उसका अर्थ आप कैसे किया जा सकता है ? इस पर मेरा निवेदन यह है कि इस बात को तो हम भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यहयार्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है। ध्वनिकार ने स्वयं कहा है—

‘सद्वद्यों की अन्वयतामये वाक्य के वाच्यार्थ से सर्वथा विमुक्त होती हैं। उनको ताराव-मासिनी बुद्धि में वाच्यार्थज्ञान के बिना ही व्यहयार्थ एकदम स्फुरित होने लगता है।’ किन्तु इस कथन का अभिप्राय यही है कि भिन्न लोगों ने काव्य इत्यादि आ अत्यन्त अनुशीलन किया है उनको अभ्यासवशात् एकदम व्यहयार्थप्रतीति में अद्भूत पदार्थबोध इत्यादि क्रम को सम्भावना रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सुँधी को देख-कर एकदम अंग का बोध हो जाता है और स्वातिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि क्रम की सम्भावना होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। अथवा गाय इत्यादि पदार्थों के देखते ही उनका बोध हो जाता है—सकेतग्रहण, सकेतवृत्ति इत्यादि क्रम के होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार प्रतीति न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा।

[काव्यप्रकाशकारने ‘वन्दरः शब्दः स शब्दार्थः’ तथा ‘सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरौ व्यापारः’ इन दोनों वाक्यों की विशेषरूप से आलोचना की है। यहाँ पर काव्यप्रकाशकार की आलोचना का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि जो लोग मौमांसकों के ‘वन्दरः शब्दः स शब्दार्थः’ इस वाक्य का आशय लेकर व्यहयताम्यापार का निषेध करने की चेष्टा करते हैं वे लोग मौमांसकों की इस तारावार्थविषयक वाणी के तात्पर्य को बिठबुल नहीं समझते और इस प्रकार वे लोग भी सर्वथा देखों के प्यारे (पशु) ही हैं। बलुत्त. मौमांसकों को इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि जब वाक्य के अन्दर विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तब उनमें कुछ शब्द तो सिद्ध होते हैं और कुछ साध्य। साध्यों का ही विधान किया जाता है और उन्हीं में वक्ता का तात्पर्य होता है। उसी के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वही अर्थ देता होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अष्टत अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अर्थ में प्रामाणिकता का निर्वाह होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अष्टत अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अर्थ में प्रामाणिकता का निर्वाह होता है अर्थात् कि कदा भी गया है ‘मूत्र (सिद्ध) और मय्य (साध्य) दोनों के उच्चारण में सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ है कारक और साध्य शब्द का साधारण अर्थ है क्रिया। जब कारक-

तारापत्नी

अमुक वाक्य किस प्रकरण में कहा गया ? कहनेवाला किस प्रकार का व्यक्ति है ? सुननेवाले में क्या विशेषता है ? इन सबको विशेषताओं से व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का हो जावेगा। 'सर्व अस्त हो गया' यह वाक्य (१) यदि युद्धकाल में राजा द्वारा अपने सेनापतियों से कहा गया तो इसका अर्थ होगा—'आक्रमण करने का यहो अवसर है'। (२) यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'अभिसार में शीघ्रता करो।' (३) यदि दूती बासकसभ्रा से कहेगी तो इसका अर्थ होगा कि 'गुम्हारा नियतम आने ही वाला है'। (४) यदि कोई मजदूर अपने साथी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब हमलोग काम बन्द करें।' (५) यदि नौकर ब्राह्मण से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब सन्ध्योपासन का समय हो गया'। (६) यदि कार्त्तिकर बाहर आनेवाले पियन्वक्ति से यह वाक्य कहा जावेगा तो इसका अर्थ होगा—'दूर मत जाना'। (७) यदि कोई गृहस्थ किसी पशुचरानेवाले से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब मानवरी को पर ले जाओ'। (८) दिन में यात्रा करनेवाला या घूप में काम करनेवाला यदि अपने कन्धुओं से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब घूप तेज नहीं रहो'। (९) यदि दुकानदार नौकरी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब विक्री की वस्तुओं को समेट लो'। (१०) यदि मोचित पतिवा यह वाक्य अपनी सखी से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'मियतम अब भी नहीं आया, अब वियोग मेरे लिये असह्य हो रहा है'। इस प्रकार वाच्यार्थ केवल एक होता है और व्यंग्यार्थ अनेक, यह सस्था मेद है।

(७) विषयमेद—वाच्यार्थ सभी विषयों के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयों के अनुसार परिवर्तित होता जाता है। उदाहरण के लिये यदि कोई सखी नायिका के परकीय सुरत को छिपाने के लिये कोई बहाना बनाती है तो उस वाक्य का वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों के विषय में एक सा ही होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयमेद से भिन्न हो जावेगा। नायिका के विषय में उसका व्यंग्यार्थ और होगा, नायक के विषय में और होगा, उपरति के विषय में और होगा, इसी प्रकार पड़ोसी सपत्नी श्यादि अत्येक स्पर्क के अनुसार उसका व्यंग्यार्थ बदल जावेगा। इसका उदाहरण 'कर्म या न भवेदोषो' इस पद्य के रूप में दिया जावेगा। इस प्रकार इन दोनों का विषयमेद होता है।

यदि इनमे मेद होते हुए भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही माने जायेंगे तो फिर नौल पीठ का मेद भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकेगा। जैसे तो समस्त दर्शनों का सार ही अमेदवाद है, दैतदुष्टि का निवारण ही धान की पराकाष्ठा है। किन्तु अमेद में मेद का देसना ही व्यवहार का एकमात्र कारण होता है। पदों ने कहा है—'धक दूमे के मेद वा भददेतुषो मे कारण बड़ी है कि उन पर विरह ज्यों का अज्यास कर दिया जाये और उनकी उत्पत्ति विभिन्न कारणों से हो। विरह ज्यों का अज्यास और विरह कारणों से उत्पत्ति ये दोनों इतु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विचयान है यह बिलार के साथ दिखलाया जा चुका है। अतः दोनों का पृथक् पृथक् मानना अनिवार्य है।

सारावली

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चय निकलता है कि जो विषय होता है उसी में तात्पर्य माना जाता है। अतएव जो उक्तरित शब्द है किसी वृत्ति के द्वारा उसी के अर्थ में तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार 'दत्तर शब्द स शब्दार्थ' का यही आशय है कि वाक्य में विद्यमान अनेक पदार्थों में वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ में होता है वही उसका अर्थ माना जाता है। न तो प्रतीत होनेवाला सभी कुछ तात्पर्याय हो होता है और न स्वहयार्थ का सनावेश तात्पर्याय में हो हा सकता है। यदि जो कुछ भी जिस किसी भी सम्बन्ध से प्रतीत हो उसी में तात्पर्य माना जावे तो 'पहला मनुष्य दौड़ रहा है' इसका तात्पर्य दूसरे मनुष्य में भी माना जाने लगेगा। क्योंकि दूसरे के बिना पहला शब्द का कोई आशय ही नहीं है। तात्पर्याय शब्दोपात्त अर्थ में छाटा है और स्वहयार्थ उससे पूषक रहता है। अतएव स्वहयार्थ का समावेश तात्पर्याय में नहीं हो सकता और न अमिवावृत्ति के द्वारा वह गतार्थ हो हो सकता है।

(प्रश्न) 'विष खानो और इसके घर में मत खाना' इसका तात्पर्य यह है कि इसके घर में नहीं खाना चाहिये। यही वाक्यार्थ है। 'विष खानो' का यह शब्दोपात्त अर्थ हो ही नहीं सकता और तात्पर्य इस अर्थ में माना ही जाता है। जब शब्दोपात्त अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में तात्पर्य माना ही जा सकता है और उसमें अमिवावृत्ति से काम चला जाता है तब केवल स्त्री व्यापार पर कि स्वहयार्थ शब्दोपात्त नहीं है उसे तात्पर्याय के अन्तर्गत क्यों नहीं माना जा सकता ? (उत्तर) 'विष खानो और इसके घर में मत खाना' इन दोनों के बीच में 'और' यह सर्वोक्त अव्यय रहता है। यह दोनों वाक्यों को एकत्राक्यत्व सिद्ध करता है। दो आख्यात (पूर्वक्रियासम्बन्ध) वाक्यों का परस्पर अज्ञाज्ञीभाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता वही प्रकार जबतक कोई प्रकृत मुक्ति न व्यक्त हो तबतक दो पूर्ण क्रियाओं का भी परस्पर अज्ञाज्ञीभाव नहीं हो सकता। न तो इन दोनों वाक्यों का कर्तृत्व अन्वय इत्यादि के रूप में आशय हो सकता है। 'विष खानो' यह एक भिन्न ही सम्मति है जो सर्वथा असम्भव है। अतएव इसका बाध हो जाता है और उसका उच्छ्वास निकलता है कि 'इसके घर में भोजन करना विषमार्थ की अनेगा भी अधिक हानिकर है'। इसप्रकार यह उद्देश्यपरक वाक्य अज्ञ मान लिया जाता है और 'किसी भी प्रकार इसके घर में भोजन न करना चाहिये' इस वाक्य के हेतु के रूप में आ जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शब्दोपात्त अर्थ में ही तात्पर्य है यह बात सिद्ध हो गई। लागता यहाँ पर होती है जहाँ पर वाक्य करने अर्थ में सहज न हो और उसकी सञ्चिति के लिये उलम्बद दूसरा अर्थ लिया जावे। स्पष्टता इसमें भिन्न होती है। स्पष्टता वही पर हो सकती है जहाँ वाक्य का अन्वय अर्थ पूरा हो जावे और दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगे।]

तारावली

अर्थात्तर सक्रमण इत्यादि हो सकते हैं । (३) व्यञ्जना के समान लक्षणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है । क्योंकि मुख्यार्थ भी मुरवार्यसाध में निमित्त होता ही है । (४) व्यञ्जना के समान ही लक्षणा में भी प्रकरण इत्यादि अवेशित होते ही हैं । कारण यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा को एक वस्तु नहीं धरते हैं और तात्पर्यानुपपत्ति धारण के लिये प्रकरण धारण निगमन अवेशित होता है । इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि व्यञ्जना के समस्त अर्थ लक्षणा में मिल जाते हैं और इस बात को आवश्यकता नहीं रह जाती कि लक्षणा से प्रथक् व्यञ्जना नाम की नई वृत्ति मानी जावे । जब कोई वैधर्म्य है तो नहीं तब व्यञ्जना नाम की नई वस्तु मानने की आवश्यकता ही क्या है । यह समझ में नहीं आता ।

अब आइये वक्त तर्कों की कुछ आलोचना कर लें—(१) यह तो माना ही जा सकता है कि लक्ष्यार्थ नानाप्रकार के होते हैं । किन्तु यह अनेकरूपता व्यङ्ग्यार्थ की अनेकरूपता के समान नहीं होती, प्रत्युत वाच्यार्थ को अनेकरूपता के समान होती है । जैसे किसी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु किसी एक वाक्य में सयोग इत्यादि के द्वारा उन अर्थों का निवन्धन हो जाता है और एक शब्द का उस वाक्य में निश्चित अर्थ ही माना जाता है । उसीप्रकार किसी एक वाक्य में लक्ष्यार्थ भी निश्चित ही होता है । एक ही वाक्य में कई एक अनिश्चित अर्थ नहीं हो सकते । जिस अर्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही न हो ऐसे अर्थ में लक्षणा की ही नहीं जा सकती । उदाहरण के लिये—'गङ्गा में अहीर का घर' इस वाक्य में निश्चित रूप से गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट ही हो सकता है क्योंकि निश्चित रूप से गङ्गा शब्द का तट से ही सम्बन्ध है । इसके मतिकूल व्यङ्ग्यार्थ एक ही वाक्य में संभव हो सकते हैं जैसा कि 'सूर्य अन्त हो गया' के विभिन्न व्यङ्ग्यार्थों को व्याख्या में दिखलाया जा चुका है । यह भी कोई नियम नहीं है कि व्यङ्ग्यार्थ कोई देता ही अर्थ हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो । प्रकरण इत्यादि के सहकार से व्यङ्ग्यार्थ देता भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो, देता भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित न हो और देता भी हो सकता है जहाँ वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध परम्परा के कारण प्रतीत होने वाले अर्थ को भी परम्परा स्थापित हो जा सके, अर्थात् अहाँ एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीति हो और सम्बन्ध अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण दूसरा और फिर तीसरा अर्थ इत्यादि प्रतीत हो । यही इन दोनों को अनेकार्थता में भेद है । इसीलिये हम लक्ष्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ का समावेश नहीं कर सकते ।

यहाँ पर कोई भी व्यक्ति यह ठक कर सकता है कि लक्षणा को ही क्यों न लिखें और अनिश्चित दोनों विषयों में मान लिया जावे ? केवल इतने के लिए एक प्रथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता ? इस पर मेरा निवेदन है कि लक्षणा और व्यञ्जना में केवल इतना ही भेद नहीं होता, अपितु इनके अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में भेद रहता है । लक्षणा में

धारावती

अपूर्वता का सम्पादन करना चाहिये'। यहाँ पर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि स्वर्ग की अपूर्वता का सम्पादन कैसे किया जाता है। दूसरी ओर प्रयात्र इत्यादि की विधि बतलायी गई है किन्तु उनका फल नहीं बतलाया गया है। दसों और पूर्णमास में विधि को आकांक्षा है और फल बतलाया गया है तथा प्रयात्रादियों में फल को आकांक्षा है और विधि बतलाई गई है। इस प्रकार प्रकरण से प्रयात्रादियों की दर्शपूर्णमासाहुता सिद्ध हो जाती है।

(५) स्थान अर्थात् समान देश में होना। इसी को क्रम कहते हैं। यह देश को समानता दोनों प्रकार की हो सकती है, पाठ की भी और अनुष्ठान की भी। (६) समास्या—अर्थात् शौचिक शक्ति। रूढ़िशक्ति का समावेश तिङ्ग में हो जाता है और शौचिक शक्ति समास्या में आती है। शब्दों के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर होगा। यदि इनमें परस्पर विरोध हो तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है। क्योंकि पर की उपस्थिति पूर्व की अपेक्षा विरुद्ध से होती है। जैसे मृत्ति के द्वारा तो शब्द मुने ही अर्पण की उपस्थिति हो जाती है किन्तु तिङ्ग के द्वारा अर्पणस्थापन में जानरीन करती पड़ती है। उदाहरण के लिये अग्निहोत्र के प्रकरण में एक श्रुति पढ़ी गई है—'कदाचन सरोरसि नेन्द्र सश्रसि दानुषे।' अर्थात् 'हे इन्द्र तुम कभी भी धातक नहीं होते हो किन्तु हवि देनेवाले के प्रति प्रसन्न होते हो।' इसके बाद लिखा है—'सिन्धीच्छक् के द्वारा गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यहाँ पर शब्द मृत्ति से तो यह बात होता है कि इस श्रुति के द्वारा गार्हपत्य की पूजा की जानी चाहिये। किन्तु इन्द्र की स्तुतिरूप तिङ्ग से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें इन्द्र की पूजा होनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर मृत्ति और तिङ्ग का विरोध है। तिङ्ग दुर्बल है क्योंकि मृत्ति के बाद पढ़ा गया है। अब उक्त श्रुति से गार्हपत्य की पूजा की जावेगी इन्द्र की नहीं। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें धारव माध्य) अग्निषा और अश्वत्थना का निमित्त-नैमित्तिक मात्र मान लेने पर ही इस धृष्ट की सगति बैठती है। यदि शब्द मृत्ति के बाद जितनी भी उपस्थिति हो सके तो अग्निषा स्थापित ही माना जावे तो उपस्थिति में न तो शौचार्पण हो सकता है और न इनमें एक की अपेक्षा दूसरा बतवान् ही कदा हो सकता है। अतएव इस धृष्ट की सगति के लिये निमित्त-नैमित्तिक मात्र मानना चाहिये। निमित्ततावैभित्त के मान लेने पर हमारे प्रति अस्था करने से और क्या लाभ हो सकता है।

इस विषय में बान्धवकाण्ड में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सार यह है—

शनि विरोधो—उक्त धृष्ट की सगति के लिये अश्वत्थनामृत्ति के मानने को कोई आधारपङ्कता प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार एक महावाक्य में छोटे-छोटे कई वाक्यछन्दों में किसी एक के अर्पण के पूर्व हो जाने पर भी अग्निषा तब तक विमान्त नहीं होती जब तक वह पूरे महा-

तारावती

वाक्यों में कहीं तो क्रिया सुनाई पड़ती है और कहीं नहीं सुनाई पड़ती। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'लाओ' यह क्रिया सुनाई पड़ती है किन्तु 'दरवाजा दरवाजा' इस वाक्य में 'बन्द करो' इस क्रिया का अर्थ ले लिया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे क्रिया का उपादान वाच्यवृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान भवरथ इत्यादि का सहाय लेकर बुद्धि में ही कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था में उच्य को प्राप्त करारं हुई क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। इसी प्रकार कान्धों में कहीं तो स्वाधीभाव का सामान्य उपादान होता है, जैसे 'नचोदा मितमा मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न कर रही है।' यहाँ पर प्रेम का सामान्य उपादान किया गया है। कहीं कहीं उसका सामान्य उपादान नहीं होता, निरिचय रूप से केवल विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है। किन्तु स्वाधीभाव के अभाव में विभाव इत्यादि हो ही नहीं सकते। अथवा प्रकरण इत्यादि का आशय लेकर किसी भावक के चित्त में सञ्चरणातीत होकर भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये हुये अपने अपने विभाव अनुभाव और सञ्चरिभावों के द्वारा सत्कार परम्परा से वह स्वाधीभाव अत्यन्त मौन हो जाता है। इस प्रकार वह स्वाधीभाव ही वाक्यार्थ होता है।

'यहाँ पर यह भ्रम उठाया जा सकता है कि शब्दों के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है। जो रति इत्यादि स्वाधीभाव किसी शब्द का अर्थ नहीं है वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान सदा कार्य में होता है। इसको हम प्रकार समझिये—'चाहे कोई वाक्य पौत्रेय हो चाहे अपौत्रेय, सभी वाक्य कार्य परक होते हैं। यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यों का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवासमान रह जावेंगे। अब यह भ्रम होता है कि काव्य के शब्दों में प्रयोक्ता (कवि) और प्रयोक्तृ (रसिक) की प्रवृत्ति क्यों होती है? अब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द को प्राप्ति होती है और अब काव्य के शब्द नहीं होते तब अलौकिक आनन्द को प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्यवाक्यों का कार्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि काव्य की अधिष्ठा शक्ति भिन्न भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन रसों के लिये अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त में उनका पर्यवसान रस में हुआ करता है। विभाव इत्यादि परार्थ होते हैं और रस वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार लौकिक वाक्य तो मित्यारक होते हैं किन्तु काव्यवाक्य रसरक हो होते हैं। यही इन दोनों का अन्तर है।

'कुछ लोगों का कहना है कि यदि वाक्यार्थ स्वभावविमान हो जावे तब बाद में जो अर्थ निकलता है वह ध्वनि ही होती है। यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के पहले ही दूसरा अर्थ निकलता है तो वह तन्परक होकर तात्पर्य होता है।' इस पर मेरा निर्देन यह है कि अन्वय

तारावती

अनुकूल है, 'टटना' सयोगकाल में ही उचिit प्रतीत होता है और 'कामिनी' शब्द यौवना-गमनव्य मदन विकार की अवस्था में ही अच्छा मालूम पड़ता है। 'कनाली' और 'दिनाकी' ये दोनों शब्द जी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जब ब्रह्मवारी शंकरजी की निन्दा करते हुये पारंगीबो को शंकर जी से विरक्त करना चाहता है उस समय पूणा को व्यञ्जना के कारण बरानी शब्द का प्रयोग ही उचिit है। इसके प्रतिकूल जब कामदेव शंकर का सामना करने की दम भरता है उस समय बीरता को व्यञ्जना करने के कारण 'दिनाकी' शब्द ही समोचन है। यदि केवल अभिभावृत्ति ही मानी जावेगी तो दोनों शब्दों का अभिप्रेषण तो एक ही होगा फिर यह विमाय-व्यवस्था कैसे बन सकेगी? अतः व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये।

(क) वस्तुतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में निम्नलिखित बातों में भेद होता है:—

(१) स्वरूप भेद—कहीं वाच्यार्थ विधिरक्त होता है और व्यङ्ग्यार्थ निवेधरक्त, कहीं वाच्यार्थ निवेधरक्त होता है और व्यङ्ग्यार्थ विधिरक्त। कहीं वाच्यार्थ निश्चयरक्त होता है और व्यङ्ग्यार्थ अनिश्चयरक्त, कहीं वाच्यार्थ अनिश्चयरक्त होता है और व्यङ्ग्यार्थ निश्चयरक्त, कहीं वाच्यार्थ निन्दारक्त होता है और व्यङ्ग्यार्थ प्रशारक्त। इसप्रकार दोनों में स्वरूप-भेद होता है। (इनके उदाहरण मूल में दिये गये हैं)

(२) काल-भेद—वाच्यार्थ सदा कारण होता है और व्यङ्ग्यार्थ कार्य। कारण कार्य से सर्वदा पहले आता है। अतएव वाच्यार्थ पहले आता है व्यङ्ग्यार्थ बाद में। यह काल भेद है।

(३) आशय-भेद—वाच्यार्थ का आशय केवल वाक्य वा शब्द होता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का आशय वाक्य शब्द एव पदान्तरण वर्ण रचना इत्यादि कोई भी हो सकता है।

(४) निमित्त भेद—वाच्यार्थ में निमित्त केवल आकारण काल इत्यादि शब्दानुशासन का ज्ञान होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान भी होता है और मन्त्रण इत्यादि का ज्ञान, प्रतिभा की निर्मलता इत्यादि भी होते हैं। इस प्रकार इन दोनों में निमित्त भेद है।

(५) कार्य अवशा प्रभाव भेद—वाच्यार्थ का ज्ञान ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को ही लभ्यता है जिसे शब्दानुशासन ज्ञान हो। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान केवल सहृदयों को ही हो सकता है। हमारी बात यह है कि वाच्यार्थ केवल मूर्खों का उपादेय होता है जब कि व्यङ्ग्यार्थ समझदार को भी उपाय करता है। इस प्रकार दोनों में प्रभाव भेद भी विद्यमान है।

(६) सत्या भेद—वाच्यार्थ सभी समानेवर्णों के लिये केवल एक प्रकार का होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रकरण इत्यादि के सहकार से अनेक प्रकार का हो जाता है। उदाहरण के लिये एक वाक्य है 'शून्य अस्त हो गया।' इसके प्रतिकूल प्रतीतमान अर्थ नाना परिस्थितियों में नाना प्रकार का हो सकेगा। हमें व्यङ्ग्यार्थ करने में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि

वारावरी

होता है उसी आधार पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यही है अनुमान की प्रक्रिया। जब अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्य अन्वयमान गन्तार्थ हो जाता है तब उसके लिए अन्वयना नामक एक पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस बात को ठीक रूप में समझने के लिए ध्वनिवाच्यार्थों के प्रतिष्ठ उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि पद्य का ले लीजिये—यहाँ पर कुत्त की निवृत्ति गादावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति के कारण अभ्रमण का अनुमान कराती है। उसको इस प्रकार समझिये—यहाँ पर व्याप्ति इस प्रकार होगी—'भारव्यक्ति का जिनना भा भ्रमण है वह भय के समस्त कारणों की निवृत्ति के साथ होता है।' यह है अन्वयव्याप्ति। यहाँ पर भी अभ्रमण साध्य है और भय के कारण का अभाव द्रव्य है। द्रव्यी व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी—'जहाँ भय के कारणों के अभाव का ज्ञान नहीं होता वहाँ भी अभ्रमण भी नहीं होता।' अर्थात् जहाँ भय के कारण विद्यमान होते हैं वहाँ अभ्रमण नहीं होता। गालावरी के तट पर सिंह का भय विद्यमान है, अतएव वहाँ पर भ्रमण नहीं हो सकता। वहाँ पर गादावरी का भय है। भय का कारण सिंह हेतु है, अभ्रमण साध्य है, पर उदाहरण है। (धर में भय का कारण नहीं है, अतएव भ्रमण किया जाता है।) इस प्रकार वहाँ पर अनुमान प्रमाण से भ्रमण का अभाव सिद्ध हो जाता है, उसके लिए अन्वयव्याप्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। महिम मट्ट ने वस्तुअन्वयना के दूसरे उदाहरणों में भी अनुमान से प्रक्रिया दिखाई है।

यह वा दुर्ग वस्तुअन्वयना की बात। रत्नजना के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इसमें विभाव इत्यादि हेतु होते हैं और रत्न साध्य। उदाहरण के लिये राम का सीता के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। उसमें अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—राम सीताविषयक रति से युक्त है, क्योंकि उनमें शिबल कटाण इत्यादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान है, जहाँ गिनन कटाण इत्यादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान होते हैं वहाँ रमणाविषयक रति विद्यमान होती है ऐसे दुष्पन्थ की रति शकुन्तला के प्रति, उसी प्रकार राम में भी अष्टयें हैं, अतएव राम भी सीताविषयक रतिमान् हैं। यह साध्यसिद्धि अन्वयव्याप्ति के द्वारा हुई है। व्यतिरेकव्याप्ति से साध्यसिद्धि इस प्रकार होगी—'जहाँ रमणाविषयक रति नहीं होती वहाँ अपूर्व गिनन कटाण इत्यादि भी नहीं होते। जैसे उष्ण में रमणाविषयक रति नहीं है अतः उनमें कटाण इत्यादि भी नहीं है। इस प्रकार सशय अनुमान से ही काम चल सकता है, अन्वयव्याप्ति मानना व्यर्थ है।'

ऊपर महिम मट्ट के सिद्धान्त का साथ दिया गया है। इस पर ध्वनिवादी का कहना है कि—'आपने साध्यसिद्धि के लिये जो द्रव्य लिये हैं वे दृश्यामानमान हैं। 'भ्रम धार्मिक' में ज्ञान करते हैं कि भ्रमण और भय द्रव्यों के अभाव में अन्वय अन्वयक आर सम्बन्ध है। दूसरे सेना मनन यह है कि भाषा की नायिका जिन व्यक्तियों का सिंह की रात कहकर भ्रमण से रोचना चाहती है वह मीक है या भोर है? ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें भी-

तारावती

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्ययार्थ में भेद होता है उसी प्रकार वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द में भी भेद होता है। वाचक शब्दों को संकेतग्रह को भ्रमेणा होती है किन्तु व्यञ्जक को ऐसी भ्रमेणा नहीं होती। व्यञ्जना केवल एक शब्द से ही नहीं होती—किन्तु पदांग वर्ण अथवा केवल मात्रा से भी हो सकती है जिसका कोई अर्थ ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण न किया हो वह भी व्यङ्ग्य के ग्रहण कर लेने में समर्थ हो जाता है। कभी कभी तो शब्द के अभाव में भी केवल चेष्टा ही व्यञ्जक हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्ययार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द भी भिन्न ही हैं। अमुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य में व्ययार्थ की प्रतीक्षा किये बिना वाच्यार्थ ही काव्यालन्द का योग्य हो जाता है। इसके बाद व्ययार्थ की प्रतीति होती है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार नहीं की जावेगी तो बाद में प्रतीत होनेवाले व्ययार्थ में किमृति का सहारा लिया जावेगा। ऐसे स्थान पर अभिधा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आपके सिद्धान्त के अनुसार अभिधा विषय में ही होती है और विषय तो वाच्यार्थ ही होगा। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता।

—लक्षणा और व्यञ्जना का भेद—

कुछ विद्वान् लक्षणा को तो अभिधा से भिन्न मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावृत्ति को भ्रष्टीकार करना नहीं चाहते। वे लोग व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं। इनका कहना है कि व्यञ्जना के भेदक वर्ण केवल चार हैं। (१) व्ययार्थ एक नहीं किन्तु अनेक प्रकार का होता है। (२) वह ध्वनि अर्थात्तरसंक्रामितवाच्य इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। (३) उसकी प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों के आधीन होती है। वह प्रकरण इत्यादि की भ्रमेणा रहता है। यही सब बातें लक्षणा में भी पाई जाती हैं। (१) व्ययार्थ भी एक नहीं अनेक प्रकार का होगा। उदाहरण के लिये राम शब्द को ले लीजिये—'मैं राम हूँ सब कुछ सह रहा हूँ' में राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं तो दुःख सहने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे माग्य में मुझ वहाँ!' इसी प्रकार सीता परित्याग क अवसर पर 'हे मिये! अपने जीवन का मोह रखनेवाले 'राम ने' प्रेम के निर्वाह के लिये उचित कार्य नहीं किया।' यहाँ पर राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं सीता-परित्याग जैसे निर्दय वर्ण का करनेवाला हूँ। मुझ जैसा कृतघ्न तथा प्रेम का भ्रष्टा व्यङ्ग्य करनेवाला दूसरा नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'यह राम है जो मुजन में महती क्वाति प्राप्ति कर चुके हैं।' यहाँ पर 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ होगा—'उत्तम जैसा वीरों का वध करनेवाले पराक्रमी राम।' इस प्रकार एक ही राम शब्द के अनेक अर्थ हो गये और व्यञ्जना का प्रथम भ्रम अनेक व्यर्थों का प्रतीपादन करना इत्यादि में भी भिन्न गया। (२) व्यञ्जना के समान इत्यादि में भी

वारावती

जाता है उसकी भ्रातृत्वा किस प्रकार की जावे ? निश्चित ही है कि इसकी प्रतीति अनुमान से हो ही नहीं सकती, उसके लिये स्पष्ट प्रतीति मातृत्वी ही पड़ेगी। इस प्रकार महिम मद्र का सिद्धांत सर्वथा निस्तार सिद्ध हो जाता है।

—वेदान्तियों और वैश्याकरणों का अलक्ष्यतावाद और व्यञ्जना—

जो लोग यह कहते हैं कि अलक्ष्य स्कोट ही वाचक होता है और वही वाच्य होता है, उन्हें भी व्यवहार मार्ग में आकर इस समस्त प्रक्रिया का आशय लेना ही पड़ेगा। व्यवहार मार्ग का अतिशयण कर परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार करनेवालों के लिये तो सभी कुछ परमान्त से अद्वय ब्रह्ममान ही है यह बात हमारे शास्त्रकार, तत्कालीन प्रथम की रचना करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को धात न हो यह बात नहीं है।

[अलक्ष्यतावादी दो हैं—एक तो वेदान्ती, दूसरे वैश्याकरण। इनके मत का सार निम्न लिखित है—

वेदान्ती लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नामास्ति द्विषन्' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अलक्ष्य ब्रह्म की सत्ता मानकर वाच्य सृष्टि का निषेध करते हैं। वही प्रकार अलक्ष्य बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्मात्मक वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते हैं और इस प्रकार की बुद्धि में निमित्त वाक्य को ही वाचक मानते हैं। इन लोगों का आशय यह है कि किया कारणक भाव तब तक सम्भव नहीं है जब तक धर्म और धर्मों का भाव अज्ञात न कर लिया जावे। धर्म धर्मों भाव सत्ता के सिद्ध होने से असम्भव है। ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित है और ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है। अतएव पर-परार्थ विभाग के बिना ही अलक्ष्य महावाक्य ही अलक्ष्य ब्रह्म का बोधक होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति होती है। अतएव वेदान्तियों के मत में व्यवस्था वृत्ति सभी चीज नहीं बहो या सकती। इनके मत में वाक्य से भी अनिषेध, एतद्वय, व्यय वा व्यय से भी बह कर जितना भी अर्थ निकलता है उस समस्त अर्थ में वाक्य की ही शक्ति होती है। वाच्य तत्त्व व्यय इत्यादि विभेद वेदान्त मत के मङ्गल है।

वेदान्तियों से ही मल्ल-जुलगा वैश्याकरणों का भी मत है। वैश्याकरण अलक्ष्य स्कोट की ही वाच्य मानते हैं। इनके मत में वाक्य के दो भाग होते हैं ध्वनि और स्कोट। ध्वनि इवै सुनाई देती है किन्तु उसका वाच्य स्कोट द्वारा करता है। मेद ध्वनि में होता है स्कोट में नहीं। ध्वनि से चलने वाली वायु मुखाद्वार से बाहर निकल कर ध्वनि उत्पन्न किया करती है। 'क' ख' 'ग' इत्यादि मद्र मुख श्वर में ही होता है, इसके पहले सभी धर्म अलक्ष्य तथा एकलक्ष्य होते हैं। यह ध्वनि स्कोटाभाषा की जाती है। नागेश्वर ने मन्द्रकार में लिखा है—'एव वाक्यस्कोटो मुखो लोके तेनैश्वर्योपाधनैश्वर्यसमाप्तौ' अर्थात् लोके में वाक्यस्कोट मुख होता है स्कोट वाक्य से ही अर्थबोध होता है और वाक्य से ही अर्थ की समाप्ति होती है। अथ

सारावती

नियमानुसूल मुख्यार्थबाध अवश्य होता है किन्तु व्यञ्जना में ऐसा नहीं होना। आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद किये हैं (१) अविवक्षितवाच्य लक्षणा मूलक ध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक ध्वनि। प्रथम प्रकार में मुख्यार्थबाध होता है किन्तु द्वितीय प्रकार में मुख्यार्थबाध की अपेक्षा नहीं होती। लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं—निरुद्ध और प्रयोजनवती। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति बिना व्यञ्जना के नहीं हो सकती। उनके लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

अभिधा के समान ही व्यञ्जना में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीन हेतुओं की आवश्यकता नहीं होती। लक्षणामूलक व्यञ्जना में लक्षणा के पीछे व्यञ्जना चलती है। पहले लक्षणा ही जाती है फिर प्रयोजनप्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है। निमित्त और प्रयोजन कभी एक नहीं हो सकते। व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा के पीछे ही चले ऐसा भी नहीं होता। क्योंकि अभिधामूलक व्यञ्जना में लक्षणा होती ही नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा अभिधा और लक्षणा दो में एक के पीछे चलती है। क्योंकि व्यञ्जना व्यर्थ की अपेक्षा से रहित वर्णमात्र में भी हो जाती है। कोमल, कठोर इत्यादि वर्णों से माधुर्य और श्लाघादि गुणों की व्यञ्जना होती है और उससे रसादि की व्यञ्जना हो जाती है। यह भी नियम नहीं बनाया जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा शब्द के द्वारा ही होती है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि नादिका ने अपने नेत्र के झारे से ही अपना मनोभाव सूचित कर दिया। यह सूचना केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही हो सकती है। लक्षणा ऐसे स्थान पर ही नहीं सकती। संक्षेप में लक्षणा और व्यञ्जना में निम्नलिखित छः बातों में भेद होता है—

(१) व्यञ्जना के अर्थ अनन्त हो सकते हैं किन्तु लक्षणाजन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा वाक्यार्थ से सम्बन्धित ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं।

(३) लक्षणा में वाक्यार्थबाध होता है किन्तु व्यञ्जना में नहीं।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) अभिधा के समान व्यञ्जना में भी विशेष प्रकार के संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जना में नहीं होती।

(६) व्यञ्जना लक्षणा में भी होती है, अभिधा में भी होती है, वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी होती है। लक्षणा का रचना विस्तार नहीं होता।

—ध्वनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना—

दशरूपद्वारा धनञ्जय और अशोक टीकाकार ध्वनिक ने ध्वनिसिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्यवृत्ति में ही करने की चेष्टा की है। उनके कथन का सार इस प्रकार है—'धीनिक

लोचनम्

यत्तु महनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धामिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः । तदीयभीरवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति, तन्न, केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति । तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननन्यापारविरहेण च निषेधावगति' इति । प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं अस्मामिर्द्योतनस्य प्राणखेनोक्तम् । भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोपरचभ्युपगमात् । प्रतिपत्तृश्च रसावेशो रसामिव्यवयवैव । रसश्च व्यङ्ग्येषु, तस्य च शब्दावाच्यत्व सेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव । प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियत, मह्यसौ नियमन भीरुधामिकममङ्गवारी सद्दय ।

जो कि महनायक के द्वारा कहा गया है—यहाँ पर दृप्तसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग में तथा धामिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की ही प्रतीति होती है । उसके भीरु या वीर रवभाव के नियम के बिना जाने हुए एकान्तानिषेध की अवगति हो ही नहीं सकती, अतएव केवल अर्थसामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नहीं है । यहाँ पर कहा जा रहा है—यह किसने कहा कि वक्ता तथा प्रतिपत्ता की विशेषता के दान के बिना ही शब्दगत ध्वननन्यापार के अभाव में ही निषेध की अवगति होती है । प्रतिपत्ता की प्रतिभा के सहकार वा होना हम लोगों ने द्योतन के प्राण के रूप में कहा है । भयानक रस के आवेश का भी निवारण नहीं किया जा रहा है क्योंकि उक्त (धामिक) की भयमात्र की उपरि मान ली गई है । प्रतिपत्ता का रसामिव्यवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है और रस व्यङ्ग्य ही होता है । उसकी शब्दावाच्यता तो उनके द्वारा भी स्वीकृत नहीं की गई है । अर्थ व्यङ्ग्य ही है । प्रतिपत्ता का रसावेश नियत नहीं है । यह सबरूप नियमत भीरु धामिक के सङ्ग ही नहीं है ।

तारावती

—दूसरे प्रमाण तथा व्यञ्जना—

अगर दित्तलाया जा चुका है कि शब्द की विभिन्न कृतियों, अनुमान प्रमाण तथा अलण्ड तावाद व्यञ्जना को ज्ञानसाध ही कर सकते हैं । इसी प्रकार दूसरे प्रमाणों से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती । मत्स्य दान में इन्द्रियां करण होती हैं और जो दान इन्द्रिय तथा अर्थ के सञ्चय से उत्पन्न होता है उसे मत्स्य कहते हैं । प्रयत्न उदाहरण में न तो मिट्टी ही सञ्चिहित है जिससे उसका चाटुप प्रयोग हो सके और न नायिका अपने मुख से ही कहती है कि—'हे महामन् ! अब तुम स्नेहावरी त' पर भ्रमण करने मत जाया करा क्योंकि तुम्हारे यहाँ जाने से हम लोगों को मेरे हाँ से विन्य पसता है ।' इस प्रकार यहाँ पर मत्स्य व्यञ्जना ही नहीं हो सकती । न्यमान प्रमाण में सादृश्य दान करण होता है यहाँ पर सादृश्य दान है

तारावती

पूर्ण अर्थ नहीं निकल आता तबतक वाक्यार्थ की विभ्रान्ति असम्भव है। 'तात्पर्य की विभ्रान्ति किमी नियत अर्थ तक ही होती है, शेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है' इसमें नियम कौन बनायेगा ? तात्पर्य ताराज पर ठोठा हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँ तक होता है जहाँतक पूर्ण कार्यपरता सिद्ध न हो जावे। वस्तुतः 'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर भूमि' इस वाक्य में श्रोता को आवात्तापूर्ति विधिवरक अर्थ में हो जाती है, श्रोतालये आप निषेधरक अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। इसके प्रतिवृत्त वक्ता को शब्दापूर्ति निषेधरक अर्थ में होती है, अतएव निषेध मो वाक्यार्थ माना जाना चाहिये। यह है धनन्य तथा धनिक के मत का सार।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि यह पहले दिखलाया जा चुका है कि च्चनि केवल वाक्य में ही नहीं होती किन्तु पद में भी होती है, शब्द में भी होती है और पदाना में भी होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उच्चारण किन्तुल नहीं होता। यदि रगमञ्च पर कोई विद्वत्क अपनी विचित्र आकृति के प्रभाव से समस्त दराकों को हँसा दे तो बिना दाहर के ही वहाँ पर हास्यच्यनि हो जावेगी। ऐसे स्थानों का निर्वाह आप तात्पर्यवृत्ति के द्वारा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि तात्पर्यवृत्ति एक पारिभाषिक शब्द है। उसका परम्परागत अर्थ ही केना होगा। अविहितान्यववादी अक्षित में शक्ति नहीं मानते। उनके मत में शक्ति के द्वारा केवल पदासोपस्थिति हो सकती है। अन्यथा के लिए उन्हें शृणु ही तात्पर्य वृत्ति माननी पड़ती है। अब तात्पर्य शब्द उक्त अर्थ में रूढ हो चुका तब उसे आप मनमाने स्थान पर प्रयुक्त नहीं कर सकते। आपकी तात्पर्यवृत्ति व्यञ्जना के बहुत निकट है। अतएव उसके लिए आपको तात्पर्य से भिन्न ही कोई वृत्ति माननी पड़ेगी और वही है व्यञ्जनावृत्ति।

—महिममट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

मैत्रायण महिम मट्टने अपने श्चत्तिविवेक ग्रन्थ में व्यञ्जना को अनुमान में गतार्थता दिखलाई है। काव्यप्रकाशकार ने उनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार दिया है—'जैसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती जिसका सम्बन्ध वाक्यार्थ से न हो। यदि असम्बन्धार्थ भी प्रतीति का विषय हो जावे तो चाहे कितना शब्द से चाहे जो अर्थ निकलने लगे। अतएव मानना पड़ेगा कि व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा वाक्यसम्बद्ध अर्थ ही प्रतीतिगोचर होता है। अतएव इसको एक श्चत्ति बन जाती है—'वहाँ जहाँ श्चत्तिवार्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य का सम्बन्ध अवश्य होता है' यह है अन्यदव्याप्ति। 'जहाँ जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती' यह है श्चत्तिरेकव्याप्ति। स्वार्थानुमान में तीन श्चत्ते होती हैं—(१) साध में रहना, (२) विषय में न रहना (३) साध में विद्यमान रहना। तीनों श्चत्ते प्रस्तुत श्चत्ति-व्यञ्जकत्व के विषय में लागू हो जाती हैं। वाच्य का सम्बन्ध श्चत्ति (श्चत्ते) है और श्चत्तिवार्थप्रतीति श्चत्ति (साध) है। श्चत्ति के साथ श्चत्तिप्रतीति के दान से जो लिङ्गरानर्त

लौघनम्

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्ष्यतिपक्षप्रतिभा-प्राणितो ध्वननव्यापार किं न सहाते । किं च वस्तुध्वनि दूषयता रसध्वनिस्तदनुप्राहक-समर्प्यत इति सुष्ठुतरा ध्वनिध्वनिसौधम् । यदाह—'लौघोऽपि देवस्य वरण तुल्य' इति । अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्, तस्को न सहत । अथ वस्तु मात्रध्वनेरैतदुदाहरणम् युक्तमित्युच्यते तथापि काव्योदाहरणव्याद्वावप्यत्र ध्वनास्त को दोष ?

यदि तु रसानुबेधेन विना न कल्प्यति, तत् मयानहरमानुबेधो नात्र सहद-गहृदयदर्पणमध्यास्ते, अपितु उक्तनीत्या सम्भागाभिलाषिभावसङ्केतस्थाना विवक्षितशिक्षाकवाचनुभावशबलनादितश्चरारमानुबेध । रसस्यालौकिकावास्ता व मात्रादव धानवगमात्प्रथम निर्विवादसिद्धविवक्षविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायण धेतद्वस्तुध्वनरुदाहरण उक्तम् ।

यदि उसकी विगणना भी सहकारी मानो जावे तो वक्ता और प्रतिपक्ष की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार ही सहन क्यों नहीं कर लिया जाता । दूसरी बात यह है कि वस्तु ध्वनि में क्षण-निष्ठता के दूधे उसके अनुप्राहक के रूप में रसध्वनि का समर्पण कर दिया गया यह ध्वनि का बहुत ही अच्छा ध्वन दुआ । जैसा कि कहा गया है—'देव का कंध भी वर दान के समान है ।' यदि इस (ध्वन) से रस की ही मथानता बगुटाई गई है तो उसे वोन नहीं सहता । यदि 'वस्तुमात्रध्वनि का यह उदाहरण उचित नहीं है' यह कहा जाता है तथापि काव्य का उदाहरण होने के कारण वहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ ही क्या दोष है ?

और यदि रसानुबेध के बिना सन्तोष न होता ही तो मयानक रसानुबेध सहदव इव रूप में आरुढ़ नहीं जाता अपितु उक्त नीति से सम्भागाभिलाषरूप विभाव, संकेतस्थान के योग्य विविध कवु इत्यादि अनुभाव के परबोभूत सम्मिश्रण से उत्पन्न श्रुतार रसानुबेध ही (मानना उचित है) । रस के अलौकिक होने के कारण बेबन्ध उतने से ही अवगम न हो सहन म निर्विवाद सिद्ध तथा (परस्पर) मेदपरव विधिनिषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया गया है ।

सारावता

ध्वनानुबेध और इतना सरदद माल होने से तो वही ध्वन्या है कि वक्ता मथान तथा सहदव की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार का ही अर्थ क्यों नहीं मान लेते ? दूसरी बात यह है कि ध्वनन वस्तुध्वनि का ता सुष्ठुन किया, किन्तु उसकी महारिका वस्तुध्वनि को आरने रबीकार कर दिया । यह आदका ध्वनिसिद्धांत का रक्षण बना ही अच्छा रहा । ठीक ही कहा गया है कि ध्वनका ता कांध भी हमारे लिय बरदान ही सिद्ध दुआ । यदि कहा कि वही रस की मथानता है, ता हममें भी मेरी कई ध्वनि नहीं । अथ वहाँ पर कर सहने

छोड़ना

येऽप्यविमर्शं स्फोटं चाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यावधापदपतितैः सर्वैर्यमनु-
सानीया प्रक्रिया । तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वरादयः प्रहोत्यस्मच्छास्त्रकारेण न
न विदितं तत्राश्लोकं ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम् ।

और उन लोगों को भी जो अविमर्श स्फोट, वाक्य, तथा उतका (अविमर्श) धर्मा
मानते हैं, उन्हें भी अविद्या के मार्ग में (व्यवहार मार्ग में) आने पर इस समस्त प्रक्रिया का
अनुसरण करना होगा । उसको उत्तीर्ण करने पर (व्यवहार मार्ग को छोड़ देने पर) सभी
मुझ मद्भारत ही हैं यह बात तत्त्वज्ञानिक ग्रन्थ की रचना करनेवाले हमारे शास्त्रकार ने नहीं
जान पाई थी यह बात नहीं है बल्कि अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

तारावती

व्यक्ति को मय के स्थानों पर भी भ्रमण करना पड़े । गुरु की आज्ञा, स्वामी की आज्ञा, प्रेपसो
का प्रेम इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे मय के स्थान पर भी मीर व्यक्ति भ्रमण करता हुआ
पाया जा सकता है । अतएव जहाँ भी मीरभ्रमण होता है वहाँ मय का कारण सन्निहित नहीं
होता, इस व्याप्ति में हेतु की अनैकान्तिकता के कारण सम्बन्धिचार हेत्वाभास हो गया । यदि
नियेय व्यक्ति वीर है तो वहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा । विरुद्ध हेत्वाभास वहाँ पर
होता है वहाँ हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे । वहाँ पर अभ्रमण साध्य है, उसका अभाव
इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि वहाँ कहीं दोर इत्यादि जीव होते हैं वहाँ वीर
व्यक्ति उसका बंध करने के लिये भ्रमण किया ही करते हैं । यह तो हो ही सकता है कि
कुछ के स्वर्ग मय से अथवा उसके मारने में दश न होने के कारण वीर व्यक्ति कुछ से बरे,
किन्तु वहाँ उसे सिद्ध का दान हो जावे वहाँ वह निर्भव होकर धूमा करे । ऐसी दशा में मय
का कारण अभ्रमण में हेतु ही हो नहीं सकता । अनुमान के लिये पशुधर्मता का निश्चित होना
सबसे बड़ी शर्त है । जब तक यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होगा कि पशु से भुंआ उठ रहा
है तबतक उसके आधार पर परंत में आग सिद्ध हो ही नहीं सकती । यदि हेतु को ही सिद्ध
करने की आवश्यकता पड़े तो अविमर्श हेत्वाभास हो जाता है । वहाँ पर गोदावरी के तट पर
सिद्ध का होना हेतु है । किन्तु यह स्वयं सिद्ध नहीं है कि वहाँ पर सिद्ध है मी या नहीं है,
सिद्ध का होना एक कुट्ट्या के बचनों से सिद्ध होता है । कुट्ट्या के बचनों का प्रमाण ही
क्या ? इस प्रकार वहाँ पर अर्थ से निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण अविमर्श हेत्वाभास हो
जाता है और साध्य सिद्धि ही नहीं सकती, अतएव अनुमान से उक्त उदाहरण गणार्थ
नहीं हो सकता ।

अब रसप्रक्रिया को छोड़ लिये । बटाश इत्यादि से राम के रतिभाव का अनुमान तो ही
सकता है किन्तु वहाँ पर राम के रतिभाव का प्रश्न नहीं है । वहाँ पर मदन यह है कि
राम के रतिभाव से सहृदय परिशीलनों के हृदयों में जो कीतुहल निश्चित आनन्द उत्पन्न हो

लोचनम्

तद्द्रक्ष्यायै तत्तयोपश्रावितोऽमौ, स चाधुना तु द्रष्टव्यात्ततो महान्निस्सरतीति
प्रसिद्धगोदावरीतीरपरितरानुसरणमपि साधकधारोपीभूत का कथा तद्द्रष्टव्यागहन
प्रवेशशक्यतिमाव ।

रंगा के लिये इस धार्मिक को उस सिद्ध के निवास की बात उस नाविका द्वारा सुना दी गई
थी, वह इस समय तो द्रष्ट होने के कारण उस वन से निकलता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के
तट के विस्तार में तुम्हारा घूमना भी क्या शेष हो गया है, उस लतागहन के प्रवेश की दृष्टि
की ही क्या बात ?

सारावती

ध्वनि की व्याख्या करने के लिये सप्त एक महानाय ने लिखा है—'या तो तात्पर्यवक्ति
को ध्वनि कहते हैं या विवर्णित अर्थ के अनुमान लगाने को।' यह व्याख्या मुझे बचकर
मतीत नहीं होगी। कालिदास ने कहा है कि 'लोगों की रुचियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं।'।
इस संबंधी हमारा विस्तारपूर्वक व्याख्या की जावेगी।

यहाँपर भ्रम की वाच्यता है—'मैं तुम्हें स्वच्छन्दविरचरण की अनुमति दे रही हूँ, अब
तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है (व्यंग्यार्थ है तुम्हें बड़ी नहीं जाना चाहिये) 'धार्मिक'
सम्बन्धन का वाच्यार्थ है धर्म होनेवाले अर्थात् बुद्धिमान् इत्यादि पूजनसामग्रियों के लिये
तुम्हें बड़ा जाना ही है (व्यंग्यार्थ—तुम धर्म करना जानते हो, तुम्हें इस प्रकार के मय का
सामना नहीं करना चाहिये) 'विभ्रम्भ' का वाच्यार्थ है—तुम्हारे मय और आराधना का
कारण बुद्धि नष्ट हो गई। अथ अब तुम आश्चर्य रहो। (व्यंग्यार्थ है अमानव तुम कुत्ते से ही
करते य अब बड़ा गर आ गया है, अब तुम्हें आश्चर्य विस्तृत नहीं रहना चाहिये) 'म'
का वाच्यार्थ है गिम कुत्त के कारण तुम्हारी अगलता बचपने लगनी थी। व्यंग्यार्थ है—अब
उस कुत्त कुत्त का ही तुम मानना नहीं कर पाते थे तब सिद्ध के सामने जानेपर तुम्हारी क्या
गदग हो जायगा।) अथ का वाच्य अर्थ है आज तुम भाग्यवाली हो जो कि तुम्हारा
मय का कारण दूर हो गया। (व्यंग्यार्थ है—दोर ने आग्रही ही तो कुत्ते को मारा है अर्थात् वह
यही है कभी दूर नहीं गया) 'मारित' का वाच्य अर्थ है मार डाला गया और व्यंग्यार्थ
है दोर मानव की सन्तान में आना ही है पुन नहीं आयेगा यह निश्चित नहीं है। 'तेन'
उम सिद्ध का सनेत्रवानक विचारण है। इसका व्यंग्यार्थ है—नाविका ने सभी इत्यादि के
द्वारा परसे ही अब सिद्ध के गन्तव्यी तट पर कुत्त से निवास की सूचना भेज दी थी। अब
वह अथ कह रही है कि सिद्ध के गन्तव्यी तट पर निवास की बात तो तुम सुन ही चुके
हो। अब तक वह सिद्ध कुत्त में ही रहता था, अब ऐसा उद्वेग हो गया है कि दिन में भी
निकल कर पशुवश विधा करता है। अथवा तुम्हारे रत्ना वन में प्रवेश की दीक्षा तो दूर रही
तुम्हारा गन्तव्यी परिमल पर भ्रमण करना भी क्या शेष हो गया है। इस प्रकार वाच्यार्थ
विभ्रम्भ है और व्यंग्यार्थ निवृत्तव ।

तारावर्ती

प्रकार पठ शब्द में चार वर्ण हैं—‘पू’ ‘अ’ ‘ट्’ ‘भ’ इन चारों वर्णों का पूयक् पूयक् कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार ‘राम धम्म भानवनि’ में पूयक् पूयक् शब्दों का कोई अर्थ नहीं। समस्त अल्पवर्ण वाच्य ही सार्वक होता है, वाक्यान्तगत शब्द सर्वथा निरर्थक होते हैं। इसी लिए वैय्याकरण अंगरों में विकार नहीं मानते। इत्यादि शब्द में ‘ह’ के लिए ‘य’ नहीं होता किन्तु ‘इनि + आदि’ इस समूह के स्थान पर ‘इयादि’ यह पूरा समूह हा जाता है। इसीलिए वैय्याकरण ‘सर्वे सर्वार्थवाचका’ का सिद्धान्त मानते हैं। इनका कहना है कि प्रत्येक वाच्य प्रत्येक अर्थ वा वाचक हो सकता है। इन प्रकार इनके भी मन में अनन्तरयदि मेर मानना ठीक नहीं।

उक्त अल्पवर्णवाचियों के सिद्धान्त के विषय में मुझे यह कहना है कि वैदानी लोग अल्पवर्ण शब्द को मानते हुए भी व्यवहारदशा में बहुसंज्ञा मानते ही हैं। अविभाजन सात्त्विक पदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलते रहना है। इस व्यवहारदशा के लिए उन्हें भी पद पदार्थ बन्धना करनी पड़ता है। इसीलिए कहा गया है—‘अनववचमेव वाच्यमनापविषोदरगित्तालीकटवर्णविभागमस्या निद्रम्’ अर्थात् वाच्य सर्वथा अनववच ही होता है। उसमें अविषा के कारण पद तथा वर्ण को क पना कर ली जाती है और वे असत्य पद तथा वर्ण ही व्यवहार दशा में उस वाच्य में कारण होते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध है कि ‘व्यवहारे भूतय’ व्यवहार दशा में कुनारिल मूठ को नीति का अनुपपत्ते किश जाता है। मूठमन में व्यवहारा की वरी आवश्यकता है यह पहले ही बतलाना जा चुका है।

वैय्याकरणों के मत में भी समस्त वाच्यों के समस्त अर्थ बतला देना अमम्भव है। अउरव पदों और वर्णों की बन्धना कर ली जाती है। प्रक्रिया दशा में उन्हें भी वाच्य का शब्दों में और शब्दों को वर्णों में तोड़ना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उन्हें भा अभिधा इत्यादि वृत्तियों माननी पड़ेंगी और व्यवहारा का वे भी बन्धन नहीं कर सकते। मनुहरि ने कहा है—‘महति मन्वय वा पद इत्यादि विभने भी विभाग है उनका सिद्ध करने के जिउने भा उपाय है वे सब निम्नदीय वाच्यों का उपायलन मात्र है। इस प्रकार वाद भा व्यक्ति असत्य मार्ग में रहकर सत्य का प्राप्त कर लेता है।’ अन्वय यह कि जिस प्रकार खेल में बच्चे विभिन्न प्रकार की आकृतियों बनाया करते हैं अथवा उन्हें गिना देने के लिए गणना इत्यादि की आकृतियाँ बनाकर समझा दिया जाता है, वाद में वे वास्तविक गणना इत्यादि का सम प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार प्यार के साथ बालकों को गिना देने के लिए एक वर्ण विभाग की बन्धना कर ली जाती है और उनको सिद्ध करने के लिये मूठति मन्वय इत्यादि अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार अन्वय मार्ग पर चलकर वे सत्य मार्ग अर्थात् वास्तविकता तक पहुँच जाते हैं। अउरव प्रक्रिया दशा में वैय्याकरणों का भी व्यवहारवृत्ति रखाकर करनी ही पड़ेगी। वे उसका बन्धन विनिवेश नहीं कर सकते।

लोचनम्

यत्राह मट्टनायक — अहमित्यभिनयविशेषेणामदशावेदनाच्छाब्दमंतद-
पीति । सत्राहमित्यच्छब्दस्य तावन्नाय साक्षादर्थ । काश्चादिमहायस्य च
तावति ध्वननमर्थ व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमंतत् । अर्सेति प्रयत्नेनानिभूत-

वा वि मट्टनायक ने कहा है— अहम्' इस अभिनयविशेष से आमदशा वा आवेदन
करने के कारण यह मा शब्दिक कथन ही है । वही 'अहम्' इस शब्द का यह सन्नाह
अर्थ ही है नहीं । आकु शब्दों की सहायता से तो उस अर्थ में ध्वनन ही व्यापार होगा,
इस प्रकार यह ध्वनि का भूषण है । 'असा' यह कथन प्रयत्नपूर्वक अनिभूत सम्भंग का परि

सारावती

जता है । सुवर्णो पद्मिक की कामना को सततकर यह रहो है कि 'दो पवित्र दिन में तुम
मेरे और साम के सने के स्थान नो देख लो । रात में कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ
जाना ।' यह वाच्यार्थ है ।

वहाँ पर 'मह' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । मह शब्द ही प्रकार से बन सजता
है— एक ठो बहुवचनत् अर्थ है जिसका अर्थ होता है 'हम सब' या 'हम दोनों और दूसरा
एकवचनत् 'मम' का लया रूप है जिसका अर्थ होता है 'मेरी' । यदि नायिका इत्यरूप
से एकवचन का प्रयोग करके कहती कि 'मरी चारपाई पर मत आ जाना, तो लोगों को शक
हो सकती थी । अतएव उसने लिखकर कहा कि 'हम दोनों की चारपाई पर मत आ जाना ।'
इससे लोगों को शक का अवसर नहीं रहा । अतएव वहाँ पर 'आवयो' 'हम दोनों की' के
अर्थ में अद्वय ही मानना चाहिये । एक वचन का रूप नहीं । नायिका लगी भी है और
श्रीवत्पत्निका भी है । अतएव पदिक के हृदय में दग्धनाय से ना कामापुर उन्मत्त हा गया
या अनुभूत परिस्थिति के कारण उसका बदन जना स्वाभाविक ही था और नायिका ने चारपाई
पर आने का निषेध करते हुये उसकी क मवासना को तृप्त करने की अनुमति दे ली । इसी
प्रकार वहाँ पर निषेधमात्र रूप विधि व्यक्त है । कुछ लय पदिक की आर से काममूर्च्छ की
व्यस्त्या न कर नायिका के द्वारा ही सम्भंग के आमंत्रण के रूप में इस पद्य की व्याख्या
करते हैं । नायिका की अरु स प्रकृति होने के कारण हमने भीमावर्धभक्त के गृह्यन हो
जाने की सम्भावना से यह व्याख्या समीचीन नहीं कही जा सकती । इसीलिये 'राज्य' यह
सम्भेधन किया गया है जिसका अर्थार्थ है— रात हा सम्भंग का उचित अवसर होता है और
उस समय तुम और अधिक कामाच हा जाओगे । इस प्रकार वहाँ विधि और निषेध का
सन्नाह विशेष होने के कारण स्पष्ट ही है कि अर्थार्थ और वाच्यार्थ दोनों एक दूसरे से
मिश्र होते हैं ।

मट्टनायक ने लिखा है— मैं वहाँ पर सखी हूँ' इस वाक्य में 'मैं' शब्द का अर्थव्यक्त
ना रहा ने देही शब्दार्थ और देही शब्दार्थों के साथ किया है कि हमकी सम्भंग की

तासावती

हो नहीं। इस प्रकार नायिका का उद्देश्य उपमान प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता। रस वस्तु तथा अलङ्कार की अभिव्यक्ति अर्थात् अतिशय्य भी नहीं कहा जा सकती। अर्थात् वही पर होती है वही पर अर्थ अनुपपन्न हो रहा है। जैसे शूल देवदत्त दिन में नहीं ताता' बिना मोहन के शूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। इसीलिये अर्थात् से रात्रि भजन का बोध हो जाता है। यदि यहाँ पर भा बिना रस इत्यादि की प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तो ता अर्थात् हो सकती है। किन्तु अर्थ वही पर अनुपपन्न नहीं होता। इसलिये व्यञ्जना अर्थात् का विषय नहीं हो सकता। रसादि की प्रतीति काव्यनिक भी नहीं हो सकती। यदि रस काव्यनिक हो ता कल्पना करनेवालों को ता आस्तादन हो, एक ना' से सभी सदृशों को एकसा रसास्तादन ही न हो। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति केवल व्यञ्जना हो सकता है उसका समावेश न तो शब्द को बिना दूसरी वृत्ति में हो सकता है और न वह दूसरे प्रमाणों से ही ग्राह्य हो सकता है। इस प्रकार मनुज उदाहरण में भ्रमण निषेध के लिये व्यञ्जनावृत्ति अनिवार्य हो जाती है]।

भट्ट नायक ने मनुज पत्र—'भ्रम धार्मिक ' इत्यादि का उदाहरण देकर लिखा है— 'यहाँ पर सिंह के लिए उद्यत विशेषण दिया गया है और शक्ति धार्मिक सम्बन्धन से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों के आभार पर भवानक रस की प्रतीति होनी है और उससे निषेध का बोध होता है। अब तक यह न मालूम पड़ जावे कि भ्रमणालोच्य व्यक्ति और प्रतीति कहा है या शब्दक है तब तक निषेध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव ये रस अर्थ सामर्थ्य को निषेधप्रतीति का कारण मानना सर्वथा असङ्गत है।' इस पर निवेदन है कि यह तो हम भी नहीं कहते कि वक्ता और श्रोता को विशेषज्ञान और शब्द के ध्वननव्यापार के अन्तर्गत व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्तादन करनेवाले सदृश की प्रतीति को व्यञ्जना का प्रमाण मानते हैं। हमें मनुज उदाहरण में भवानक रस के प्रतीकार करने में भी कोई आशंका नहीं। किन्तु यह भवानक केवल समीप्य (धार्मिक) के दृश्य में भय का उद्धार कर सकती है रसरूपता को धारण नहीं कर सकती। भय की रसरूपता सभी रसों का ही हो सकती है अब कि परिष्कार को उसका आस्तादन हो। रसास्तादन तभी हो सकता है जब कि रस अभिव्यक्त हो। यह तो भट्टनायक ने भी नहीं माना कि रस सभी को शब्दवाच्य हो सकता है। अतएव मानना ही पड़ेगा कि रस, सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। यहाँ पर सदृश के लिये रसानुवेश निरिचय नहीं है, क्योंकि सदृश व्यक्ति भी धार्मिक के समान वद ता नहीं समझता कि उसे भी वही शेर मिल जायेगा।

यहाँ पर भय कह सकते हैं कि सदृश की विशेषता भी भवानक रसाभिव्यक्ति में सदृशरी कारण होगी है अर्थात् अर्थात् धार्मिक के समान सदृश व्यक्ति भी भीक प्रतीति का होता है वही पर भवानकरसाभिव्यक्ति हो सकती है। इस पर मेरा निवेदन यह है कि इतनी

ध्वन्यालोक

कचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुमयरूपो यथा—

वच्छ मह ध्विञ्च एकंद् हीन्तु जीमासरोद्भव्वाहं ।

मा तुज्ज वि सीञ्च विगा दन्त्रिण्णहहस्त जाभन्तु ॥

(अनु० ६) वही वाच्य विधिरूप होता है और व्यवहृत् विधि निषेध दोनों से भिन्न । जैसे— 'तुम उठी मेरी सौत के पास जाओ । मुझे अनेके हो गहरी प्रवास लेना और रोना पड़े । उस (भक्तनी प्रियतमा) के वियोग में तुम्हें माँ क्यों दापिण्य के दण्ड के रूप में निषत्वात् और रोदन का वष्ट सहता पड़े ।'

लोचनम्

अत्र ममैवैकस्या भवन्तु नि इवामरोदितभ्यानि ।

मा तत्रापि तथा विना दाक्षिण्यहतस्य अनिपत्त ॥

अत्र अत्रेति विधि । न प्रमादादेव नाधिकान्तरसङ्गमनं तव, अपितु गाढा-
नुसंगान्, येनान्यारहस्युरराग भोग्रस्मलनादि च, केवल पूर्वकृतानुपाङ्गनात्मना
दाक्षिण्यनैकरूपत्वाभिमानेनैव स्वमत्र स्थित तस्सर्वथा शटाऽर्थाति गाढमन्यु-
रूपोऽय रण्डितनाधिकाभिप्रायोऽत्र प्रतायते । न चासी वध्याभावरूपो निषेध,
नापि विच्यन्तरमवान्यनिषेधामाव ।

यहाँ पर 'जाओ' यह विधि है । केवल प्रमाद से ही तुम्हारा दूसरी नायिका से साथ नहीं
हुआ अपितु गाढानुसंग से जिससे दूसरे प्रकार का सुखराग और वात्सल्यनादि (दृष्टिगत हो
रहे हैं) । केवल पूर्वकृत अनुपाङ्गनरूप दाक्षिण्य से अर्थात् एकरूपता के अभिमान से ही तुम
यहाँ पर गियत हुए हो, अतः तुम सर्वथा शठ हो । यह गाढमन्युरूप रण्डितनाधिका का
अभिप्राय प्रतीत होता है । यह गमनाभावरूप निषेध नहीं है और न ही अन्य निषेध के
अभावरूप विधि है ।

सारावली

नहीं है । यहाँ पर श्रवणार्थ यह है—'मैं सारा तुम्हारी उठेगा नहीं कर रही हूँ । मन मारि
देव लो, मैं यही सोऊँगी, वही अन्य नही जाऊँगी, हम दोनों एक दूसरे के सुखरमल को
दत्तन का आनन्द लेते हुए दिन बिता दालें । हाँ एक बात और है—जैसे ही रात हो जाने के
ही वामन से अरे हाकर मरी चारवाँ पर मत भा जाना किन्तु ध्यान रखना कि यह साम
नाम का वंदा हमारे मार्ग में है । अतः पूर्वपूर्व पहले निश्चय कर लेना कि बहुत मेरी
साम मा गई तभी पर वाम आना ।'

महामहर्षि ने अतिशयिक में कई एक अनुश्रुती की वापना करके उनमें दोष दिखाने
हैं । उनमें वही मित्र हाता है कि हम कथाहरण का अनन्त अनुपान में नहीं हो सकता ।
कठिन ध्वनि वही पर हाता है उशी किनी बात को नहीं हो न मित्र विषा जा सके । यदि
उस कथना की सम्भ गच्छा लक्ष से ही मित्र की जा सके तो उमरे छिराकर करने का गह्वर
ही क्या रह गया । अतएव यह ध्वनि का ही विषय है अनुमान का नहीं ।

लोचनम्

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तारपर्यंशक्तिमव विवक्षासूच्यत्वमव वा ध्वनन मवाचन् स नास्माक हृदयमावर्तयति । यदाहु मिन्नरचिर्हि लोक' इति । तदतदमे यथायथ प्रतिनिष्याम इत्यास्ता तावत् । भ्रमेति—अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकाल । धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विधग्ध इति । शकाकारणवैक्यात् । स इति । यस्ते मयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । भ्रमेति । दिष्टया धर्मस इत्यर्थं । मारित इति । पुनरस्थानुत्थानम् । तेनेति । य पूर्व कर्णार्कणिक्क्या स्वयाप्याकणित्त। गोदावराकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि

और जिसने ध्वनिव्याख्यान के लिये उद्यत होकर तारपर्यान्त को ही अथवा विवक्षा सूचकत्व का ही ध्वननव्यापार कहा वह मरे हृदय को अपने अनुकूल नहीं बना रहा । जैसा कि कहा है—'लोक मिन्नरचियों वाला होता है।' तो इसको आगे यथा स्थान ठीक ठीक विस्तारपूर्वक बतलावेंगे । और अधिक विस्तार का कोई आवश्यकता नहीं । भ्रमेति । तुम्हें अनुमति दे दी गई है, तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है । धानिनेति । कुसुम इत्यादि के उपकरण के लिये तुम्हारा भ्रमण उचित है । 'विधग्ध' यह शब्द के कारणों के अभाव के कारण (कहा गया है) । वह अर्थात् जो तम्हारी अङ्गनिका को मय से प्रकम्पित कर देता था । 'आज' अर्थात् सौभाग्य से तुम भागतकाम हो गये हो । 'मारडाला है' अर्थात् इसका पुन उत्थान नहीं (समावित्र है) । 'उसके द्वारा' अर्थात् जो पहले अतिपरम्परा से तुमने मा सुना है कि गोदावरी के तट पर वन में रहता है । पहले ही उस (सकेत्स्थान) को

तारावती

है कि 'मुझे आपसि केवल यह है कि यह उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता । इसपर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर दोनों ही ध्वनियों स्वीकार की जा सकती हैं । क्योंकि यह पद्य तो काव्य के उदाहरण के रूप में उद्भूत विदा जा सकता है अतएव दोनों ध्वनियों का मानने में क्या दोष ? यह आप का इच्छा है कि आप इसे वस्तु या रस किसी भी ध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्भूत करें ।

यदि आपको रसानुबोध के बिना सन्तोष न हा ता मा यहाँ पर सदृशों के आम्वादन में मयानक रसानुबोध कारण नहीं होता । किन्तु सम्भाग की अभिज्ञाना का व्यक्त करनेवाला सन्तोष न यहाँ पर उदीरन विभाव है और उसी के अनुसार विभाव प्रकार को कण्ठध्वनि अनुभाव है । इसके सम्मिश्रण से पुत्र होकर रतिरवायुभाव ही शृंगाररूपमें परिणत होकर आम्वादन में कारण होता है । रस अनीकिक होता है और केवल उहाँ दाश्यों के आधार पर उसका भवगमन नहीं हा सकता, इसीलिये हम पद्य का रस के उदाहरण के रूप में न रगच्छर विधि के स्थान पर निवेधरूप निर्विवाद सिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में रक्ता गया ।

लौचनम्

अथ व्यवसिताद्गमनान्निवर्तंश्चेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः । गृहागता नायिका गोत्रस्तलनाद्यपराधिनि नायके सति तत प्रतिगन्तु प्रवृत्ता । नायकेन चाद्रूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते । न केवलं स्वात्मनो मम च निवृत्तिविघ्नं करोयि, तावदन्थासामपि, ततस्तत्र न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति घट्टमाभिप्रायरूपद्विचोपो व्यवहृतः ।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तद्वर्धिरणया गच्छन्ती सख्योप्यते न केवल-
मात्मनो विघ्नं करोयि, लाघवाद्यदुमानास्पर्दमात्मानं कुर्वती, अतएव हतारा,
यावद्बदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्वासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति
सख्यमिप्रायरूपद्विचोपो व्यवहृतः । अथ तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्पत्नी-
पगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तंश्चेति पुनरपि वाच्य एव विधान्तेर्गुणोभूत-
व्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोसखदलद्वारस्योदाहरणमिदं स्यात् न च्यने ।

तेनापमत्र माव — काचिद्भसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्ग्रहाभिमुखमाग-
च्छता तेनैव हृदयवल्गुभेनैवमुपशब्दोक्तयतंऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवाम-

वही पर 'अनुष्ठित गमन से निवृत्त हो जाओ' इस प्रतीति के कारण निषेध वाच्य है ।
घर में आ'इ हुई नायिका नायक के गोत्रस्तलन इत्यादि अपराध के होने पर वहाँ से जाने को
व्यत हो गई । नायक के हाग पाठुवारिता के उपक्रम के साथ रोकी जा रही है । केवल
अपनी और मेरी ही शान्ति में विघ्न नहीं करती हो । किन्तु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न
हालती हो) इससे कभी भी तुम्हें सुख के अंश की भी प्राप्ति नहीं होगी, समते तुम ह'त आशा
बाली हो यह वचन के अभिप्राय रूप पाठुवारिता की विशेषता अभिव्यक्त होती है ।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दी हुई भी संकटा अदमान करने वाली हुई (नायिका)
सखी के द्वारा हम प्रकार बड़ी जा रही है—एपुत्रा से अपने को बहुमानरहित बनाने
दुप केवल अपना ही विघ्न नहीं कर रही हो (तथा) इसी कारण ह'त आशावादी
बन रही हो प्रभुत बदनचन्द्रिका से रात्रमार्ग को प्रकाशित कर देने के कारण अब अभि-
सारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो, यह सखी का अभिप्रायरूप पाठुविशेष व्यक्त होता है ।
वही पर इन दोनों व्याख्यानों में अनुष्ठित किये हुए विरह गमन से और प्रियतम के गृहगमन
से निवृत्त हो जाओ इस प्रकार फिर भी वाच्य में ही विधान्ति होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य
भेद प्रेयः'उत्प्रात अथवा सखदलद्वार का यह उदाहरण हो जायेगा ध्वनि का नहीं ।

अतएव वही पर यह भाव है—कोई वा प्रत्यपूर्वक प्रियतम के घर जाती हुई उसके घर की
ओर जाने देने वही हृदयवल्गु के द्वारा न प'दबानने के बहाने हम प्रकार प्रता की जा

ध्वन्यालोक

इतिद्वितीय प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्य निमज्जह एत्य अह दिवसभ पलाएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सज्जाए मह निमज्जहिंसि ॥

(अनु०) कहीं कहीं वाक्यार्थ प्रतिषेधपरक होता है और अर्थार्थ विधिराक । जैसे —
'हे पयिक ! तिन मोझा ही मय रह गया है । अउरव मजीमाति देखओ, यहाँ पर मेरी छाछ
निद्रामाणर में डूबी पडा रहती है । और इस स्थान पर मैं सोती हूँ । तुम रात में अचे हो
जाते हो (तुम्हें रतौपी आती है) । कही हम छोगा को चारपाई पर न आ गिरना ।

एाचनम्

अत्ता इति ।

इश्ररत्र शेत (अथवा निमज्जति) अग्राह दिवसक प्रलोक्य ।
मा पयिक राभ्यन्ध शर्यायामावया शयिष्ठा ॥

मह इति निपाताऽनकार्यवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु भवति । एवं हि विशय
यचनमव नकारि भवदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काश्चिन्नापित्तपतिका
तरणामवलाक्षय प्रवृद्धमदनाभूर सम्पन्न पान्याऽनन निषेधद्वारेण तथाम्युपगत
इति निषयामावोऽत्र विधि न तु निमज्जणरूपाऽप्रवृत्तवर्तनास्वभाव सौमा-
र्याभिमानलच्छनाप्रसङ्गात् । अत एव राभ्यन्धेति समुचितसमयसम्भोग्यमान-
विकाराकुलितव ध्वनितम् । भावतदभावयाश्च साक्षाद्विराधाद्यङ्गयस्य स्फु-
मवाच्यरवीम् ।

अथा इति । अत्र इत्यादि छादानुवाद है । 'मह' यह निराश बहुवचन के अर्थ का पोटक
है यहाँ पर 'हम दानोके' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है मन (मर) इस अर्थ में नहीं ।
जैसे ता विगत रूप में एतान्न का प्रयोग हुआ है वैसा कालेव ठा हा ज वेण अउ प्रच्छत्र
अभ्युपगम नहीं हो सक्ता । तिनो मोरित्तानिका तरणा का देखकर पयिक प्रवृद्ध कामाहूर
बाला हो गया (तथा) इस निषेध के द्वारा उमका स्वीकृति दे दी गई इस प्रकार यहाँ पर
विधि निषेध का अभाव रूप हुआ है निमज्जणरूप अवृत्त का प्रतिष्ठ करने के स्वभाववालो नहीं
है, क्योंकि उससे (नाविका के) सोनत्वभिमान का स्वहन प्रनक हो जाता है । अउरव
'राभ्यन्ध' कहकर समुचित समय पर विकार का आकुञ्चका सम्भावना पर न कर देता
गए । मत्ता तथा उसके अभाव में सागाइ हितो । हानि के कारण वाच्य में अहूर रण ही
अर्थ है ।

साराचता

अत्र दृष्टा उगाहरा लोभिये-को, पयिक यहाँ रत्ति में विमान काना चाहता है ।
अहमात् उसकी दृष्टि दिमी नरगुतो पर पडा है । तुशी मोरिता उक ह (उनक
नरगुत तथा म पिना हाना दाना बतें पयिक के अनुकृत है ।) अउ यह काना मत हुआ

सारावली

यदि नायक का अनुराग श्वयं माना जावे तो भी वह रोजनारूप वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर रसवत् अलङ्कार ही जावेगा वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा ।

(२) उक्त परिस्थिति में ही प्रियम के गानरखलनादि से रुठ होकर नायिका अभिसार स्थान से चले जान का उपन हो जाती है । तब नायिका का सखी एक बार 'द्वाना' इस सम्बाधन के द्वारा नायिका को आगाह करती है कि तुम रात्र में पडताश्रोगा क्या कि छुटता के कारण तुम्हारा सारा सम्मान जाता रहेगा ।

दूसरी बार चाटुकारिता के द्वारा नायिका पर यह प्रभाव जमाना चाहती है कि तुम्हारा मुल चद्रमा के समान सुन्दर है यदि तुम यहाँ से आश्रया ता तुम्हारे मुन की चोनी चारों ओर छिटक जावेगी यहाँ तक कि दूमरा अभिसारिकाओं का जाना भी रुक जावेगा । अतः तुम जमी व द्रमुन्दरी को छोड़कर नायक किमी और नायिका को चाहेगा इसकी ता ध्वन्या भी नहीं की जा सकती । गानरखलन इत्यादि की बात साधनिक है उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये । इस व्याख्या में भा उपर्युक्त दाप हा है कि इसका पयवमान 'छोट चन्दा के बायार्य' क साथ हा हाकर इसे गुणोमूलव्यङ्ग्य बना देता है और नायिका के प्रति सखी का अनुराग भावव्यञ्जना के अन्तगत आकर तथा वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर प्रय अलङ्कार का रूप धारण कर लेता है । अतः वह व्याख्या भी मान्य नहीं ।

(३) अतः यहाँ पर यह श्रवत्या टोक हांगी—कौश नायिका नायक के पास दुर्गति से जा रही है और उसका दृश्यवल्ग्व भी सखी के पर की ओर आ रहा है । नायक मनीष पहचानते हुए तथा अपना निकटव लता का परिषय रत हुये यह शब्द बट रहा है कि—अभिमारिकायें बालीरान में ही अपने मित्रमों से मिलने जा सकती हैं । तुम्हारे इस प्रकार अभिसार करने से अभिकार दूर हा जाता है और अभिसारिकाओं के मनोरथ में किन्ना पडता है । इसका पाप तुम पर पड़ेगा और तुम्हारी भी आगायें पूर्ण नहीं हा सकती । अतः तुम अभिसार का विचार छोड़कर छोट चलो ।' यह है वाच्यार्थ । इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है—कि नायक नायिका की प्रणसा करके उसे प्रमन्न करना चाहता है । वह नायिका को अपना परिषय देकर अह मकट करना चाहता है कि मैं भा तुम्हारे पर आ रहा हूँ अब तुम आहो ता करे पर चलो वा अपने पर छोट चलो । वह अष्टा हा हुआ कि तुम मुन मार्ग में मिल गई और मैंने तुम्हें पहचान लिया । अत्यन्त हस क्षाना को अपने-अपने गन्तव्यमानरत पदुच कर निराग हा जाना पडता । यहाँ पर वाच्य निवन्तरक है और श्रवण चाटुकारितारत का म विधि है और न निवन् ।

(४) कुछ छेगा ने यह उक्त शरणों की बतलाई है । किन्तु हम अय में 'द्वाना' इस सम्बाधन का औचित्य क्या होगा ? इसका निषय मैं सहृदयी पर हा छात्रा हूँ ।

कार के चारों उदाहरणों में एक ही विषय (सखीष्य श्रवण) के प्रति वाच्य और व्यङ्ग्य

जोधनम्

सम्मोगपरिहारः । अथ यद्यपि भवान् भद्रनगरासारदोर्यमाणहृदय उपेक्षितु न युक्त, तथापि किं करोमि पापदिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमिन्पर्य । प्राकृते पुनपुसकयोरनियमः । न च सर्वथा स्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाह तत्प्रलोक्य भाग्यतोऽह गच्छामि, तदन्वोन्यवदनावलोकनविनोदेन दिन तावदतिवाहयाव ह्यपर्य । प्रतिपन्नमात्राया न राजाव-धोभूतो मदीयायां शय्याया मा श्लेष, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकः कण्टकनिदान्वेषणपूर्वकमितायदत्र ध्वन्यते ।

हार करने के लिये किया गया है । यद्यपि भाग वामवापो की वर्षा से विदोर्ग हरववाले उपेक्षा के योग्य नहीं हैं तथापि क्या करूँ यह पापी तुच्छदिवस (अभी विद्यमान है), अर्थ यह है कि अनुचित होने के कारण यह कुत्सित है । प्राकृत में पुल्लिग और नपुसकलिग का नियम नहीं होता । 'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं यही हूँ इसलिये देखने में दूसरे स्थान पर नहीं जा रही हूँ, अतएव एक दूसरे के वदनावलोकन के विनोद से उबरक हम दिन बिता लें' यह अर्थ है । रात्रि के आते ही अपने होकर मेरो चारपाई का आश्रितन भग करना अपि तु लिप लिपकर सासनामक निकटस्थित कण्टक को निद्रा का शान करते हुये (अना) यह ध्वनि होता है ।

पारावती

शायना और श्रेया उसी 'मैं' शब्द से प्रकट हो गई । अतः यहाँ पर अभिधावृत्ति से ही विभिनक अर्थ निकल जाता है इसके लिये व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं । इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि 'अहम्' शब्द का वह सामान्य अर्थ तो है नहीं जिससे अभिधा मानो जा सके, 'बाकु' या कण्ठधनि को हम भी व्यञ्जना का सहकारी मानते ही हैं । बाकु से व्यक्त होनेवाला अर्थ व्यञ्जनाव्यापारजन्य ही होता है यह तो ध्वनि का मूल्य है ।

यहाँ पर 'सास' के निदेश का आशय यह है कि सास की अवस्थिति में स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता । जब रात में वह सो भी जावे तब भी तुम्हें आसक्ति होकर दो मुहत् में मग्न होना चाहिये । 'दिवसवम्' में निद्रा अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है । इसका आशय यह है—'यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय कामदेव के बाणों से अत्यन्त विदोर्ग हो गया है और तुम्हारी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, फिर भी क्या करूँ यह पापी दिन मुझे तुम्हारी श्लेषा पूरी नहीं करने देगा । यह इसका कार्य अनुचित है । अतएव यह निद्रनीय है । इसी निद्रा को व्यक्त करने के लिये यहाँ पर 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । दिवस शब्द पुल्लिङ्ग भी है और नपुसकलिङ्ग भी । किन्तु इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होगा है, अतः नपुसक लिङ्ग में इसका प्रयोग अनुचित ही दोष से दूषित है । किन्तु प्राकृत में पुल्लिङ्ग और नपुसक लिङ्ग का नियम

ध्वन्यालोक

अन्ये चैवप्रकारा वाच्याद्विभेदिन, प्रतीयमानमेदा सम्भवन्ति । उर्वा दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रमेदो वाच्याद्विमिन्न सप्रपञ्चमग्रे दां विष्यते । तृतीयस्तु रसादिलक्षण प्रमेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दध्यापारविषय इति वाच्याद्विमिन्न एव ।

(अनु०) इसी मीति और भी बहुत से प्रतीयमान के प्रकार हैं जो वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य के भेद के उदाहरण के रूप में दिखलाये जा सकते हैं । यहाँ पर मैंने उनका दिग्दर्शन कराया है । ध्वनि का दूसरा भेद है अलङ्कारध्वनि, यह वाच्यार्थ से भिन्न होती है इस बात की विरतुत विवेचना भागे चलकर की जायेगी । तीसरा रस इत्यादि नाभवाला भेद तो वाच्य सामर्थ्य से आश्रित होकर ही प्रकाशित होता है वह कभी भी साक्षात् स्वगन्धवाच्य नहीं हो सकता और न वाच्य की ज़िन्ना ही उसका अन्वयन करा सकती है । अलङ्कार रसादिध्वनि न वाच्य से भिन्न होती है ।

वारावली

पर पति का क्रोध शांत हो जायेगा । इस क्षणिक रोष को देखकर तुम्हें हर्षित नहीं होना चाहिये । वह स्वयं 'मियावा' इस शब्द के अन्त पर निकलती है । (४) नायिका के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुम्हारे अघरात को देखकर पति को क्रोध आ गया है, तुम उसको प्रियतमा नहीं होती तो उसे क्रोध ही नहीं आता । अतः सौते के बीच अपने इस अवमान को देखकर तुम्हें अपने अन्दर छुपना का भाव नहीं होना चाहिये । जब मैंने बात बना ली है और तुम्हारे प्रति पति का क्रोध भी जाता रहेगा ।' यहाँ पर सहस्र का अर्थ है 'गन्धित हो' । इस प्रकार नायिका के सौभाग्य का स्थापन यहाँ पर भंग्य है । (५) उपपत्ति के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुमसे प्रकृत मम करनेवाली तुम्हारी दम्पकत्वमा की बात तो मैंने उसके पति के क्रोध से बचा लिया किन्तु मविष्य में तुम्हें सतर्क रहना चाहिये और कभी एक दन्तन की ऐसी बात नहीं करनी चाहिये । यहाँ पर उपपत्ति के विषय में और का अनुकूल व्यक्त होती है । (६) निकटवर्ती रसिकसमान के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'देखो मैं किंतु निपुण हूँ । ऐसी बातों का बनाना तो भरे शायें हाथ का खेल है । इस प्रकार विषयभेद से व्यंग्यभेद की स्थापना कई रूपों में की जा सकती है । विषयभेद भी स्वरूपभेद के समान अनेक प्रकार का हो सकता है । मन्तुल वष उदाहरण मात्र है । दूसरे प्रकार भी इसी मीति समझ लिये जाने चाहिये । इसी ज्ये मूल में व्यंग्यित शब्द का प्रयोग किया गया है । (हेमचन्द्र ने वाचानुगमन में कई एव अन्य भी उदाहरण दिये हैं—जैसे—विधि में दूसरी विधि, निषेध में दूसरा निषेध अतिनिषेध में विधि, अतिनिषेध में निषेध विधिनिषेध में दूसरी विधि, विधिनिषेध में दूसरा निषेध इत्यादि । इन सबके उदाहरण यही देखे जाने चाहिये । हाँगा यही है कि वच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों एक दूसरे से सर्वथा

ध्वन्यालोक

कविदास्ये प्रतिषेधरूपऽनुभवरूपी यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजेद्धाविलुत्तमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घ करोमि अण्णाण वि हआसे ॥

(धनु०) वही वाच्य निषेधरक होता है और व्यंग्य विधि निषेध दोनों से भिन्न । जैसे—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कृपा करके जाने से रक जाओ, क्योंकि तुम्हारे मुखचंद्र की चंदनी से अंधकार का समूह विलुप्त हो रहा है और हे हताग । तुम अन्य अभिसारि काओं के अभिचार में भी विघ्न कर रही हो ।'

लौचनम्

दे इति निपात प्रार्थनायाम् । आ इति तावच्छब्दार्थे । तेनायमर्थ —
प्रार्थय तावत्प्रमीद् निवर्तस्व सुखशशिज्योस्नाविलुत्तमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्न करोध्वन्यासामपि हतागो ॥

दे' यह प्रार्थनायक निपात है 'आ' वह तावत् शब्दार्थक निपात है । इससे यह अर्थ निकलता है—'प्रार्थये' इत्यादि ।

सारावती

ऊपर दो उदाहरण दिये गये हैं—एक में वाच्य विधिरक है और व्यंग्य निषेधरक, दूसरे में वाच्य निषेधरक है और व्यंग्य विधिरक । अब तीसरा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें वाच्य विधिरक है और व्यंग्य न विधिरक न निषेधरक —

नायिका के साथ नायक बैठा हुआ है । अकस्मात् नायक बोधवचन का बैठना है जिसमें अपने सुखमें अनुराग रखा दौड़ जाती है और वह गहरी श्वास भा लेता है । नायिका इस विधि को लक्षित कर कहती है कि 'तुम उसी अपना प्रियतमा के पास जाओ, मुझे ही लेना और गहरी श्वास लेना पड़ तुम्हें इस दाम्निष्य का दण्ड क्यों भोगना पड़े ।' यही पर वाच्यार्थ है—'मैं अकेली दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो, अतएव तुम इसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ ।' व्यंग्यार्थ है—तुम सबदा कदा खरत हो कि अन्य नायिका से तुम्हारा सम्बन्ध हटोकर ही हो गया, वस्तुतः तुम उसने भ्रम नहीं करत हो किन्तु आज तुम्हारे सुखदाग और गणगणन इत्यादि को देखकर मैं समझ गयी कि तुम मुझमें वाग्निविश्रम नहीं करते । तुम्हारा वाग्निविश्रम तो भग्न मूर्ति से है । तुम भरे पास पहले क आने वाली को पूरा जाने क लिये केवल दाम्निष्य क दिखाने के हतु ह। आते हा । तुम सर्वथा दाटनायक हा ।' इस प्रकार यहाँ पर सखिज्या के गहनतुम्हें अभिचार्य को व्यंग्यना होती है । अब कि वाच्यार्थ निषेधरक है वह व्यंग्यार्थ छिपेज्या का मन्वु न ता जाने का निषेध करता है जिसमें निषेधरक कदा न्य और न दूसरी किसी बात का विधान करता है । अब यह विधि निषेध दोनों से निघ्न है ।

उक्त परिभाषा के प्रतीक वही वही वाच्य निषेधरक होता है और व्यंग्य विधि निषेध

श्लोकनम्

अत्र इति । द्वितीयोद्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिषेध-सदनुमयात्मना रूपेण सदुल्लस्य वस्तुष्वनि सक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कार-ष्वनि, अलङ्काराणां भूयस्त्वान् । तत एवोक्तम्—सप्रपञ्चमिति । मृतीयस्त्विति । तु शब्दो व्यतिरेके । वस्तुलङ्कारावपि शब्दाभिधेयात्मव्यासात् तावत् । रम-भावतदाभासत्प्रशमा । पुनरं कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राप्यमाप्ति । तत्र ध्वननव्यापारादते नास्ति कल्पनान्तरम् । स्थलद्वयतिस्वामावे मुस्यार्थवाधादेर्लक्षणाविधन्धनस्यानारुद्धनीयत्वान् । भौचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्ते-

'आगे दिग्गत्या जावेगा' अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य क्रमेणोद्योतित पर' इति विवक्षितान्यपरवाच्य नामक द्वितीय प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधि निषेध तथा अनुभव आत्मा के रूप में संकलित करके वस्तुष्वनि का सक्षेप में सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार अलङ्कारष्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है । उल्लिख कहा है—सप्रपञ्च आगे चलकर दिखानेगे) । मृतीयस्त्विति । 'तु' शब्द-व्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वस्तु और अलङ्कार भी शब्दाभिधेयता को प्रकटित कर लेते हैं । इस मात्र सामान भासाभास भावप्राप्तियों की अभिहित नहीं हो सकने तथा वे आश्रावमानता के ही प्राय बनाकर शोभित होते हैं । इसमें ध्वनन व्यापार का छोड़ कर शब्द की गति के संकलित न होने के कारण मुस्यार्थवाध इत्यादि लक्षण निरूपण की आवश्यकता ही नहीं जा सकती । भौचित्य के माय प्रवृत्त होने पर त्वादिनी विल तासवता

तासवता

व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अवकार और रस । वस्तुव्यंग्य वाच्य से भिन्न होता है इसपर प्रकाश डाला जा चुका । अलङ्कार व्यंग्यता और अभिधा का भेद द्वितीय उद्योत की 'असंलक्ष्यक्रमोद्योत' (२-४) इस शक्तिवाची व्याख्या के अवसर पर विस्तारपूर्वक समझाया जावेगा । विधि और निषेध का सदुल्लेख करके वस्तुष्वनि का सक्षेप में बयन करना सम्भव था । अब उसका दिग्दर्शन करा दिया गया । वस्तुता के कारण अलङ्कारों का संकलन कर सकना यही पर सम्भव नहीं है । उदरव्यंग्यद्वयान्वित द्वितीय उद्योत में विवक्षितान्यपरवाच्य के द्वितीय भेद के वर्णन के अवसर पर उनका निरूपण किया जावेगा । तीसरा भेद है रमव्यंग्यता । रस तथा अलङ्कार की अवस्था रमव्यंग्यता में एक अन्य है । वस्तु तथा अलङ्कार में कभी कभी अभिधा होने की सम्भावना होती है, किन्तु रस कभी भी वाच्य नहीं हो सकता, यह सर्वदा भाव ही होता है । रस इत्यादि का प्राप्य ही है आश्रावण विधा जाता । उदरव्यंग्य विधी २१४ म आश्रावणोद्योत नहीं आती लक्षण उद्ये रस ही सदा ही नहीं जा सकती । इस व्यंग्यव्यंग्यता की रमी टीका टीका व्याख्या की जा सकती है जब कि ध्वनिनिदान की

लोचनम्

प्रथमिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति । अन्यासा च विष्णुः कोऽपि तव चेत्सितजामो भविष्यतीति का प्रयाशा । अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेयुमयत्रापि तावप्यादनुभवरूपे बल्लभाभिप्रायश्चाटवात्मा व्यहृत् इत्येव व्यवनिष्ठे । अन्ये तु तदस्थानाः सहृदयानामभिसारिका प्रतीय-मुक्ति' इत्याहुः । तत्र हताशो इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम् ।

रही है । इसलिये अपना परिचय देने के लिये ही 'हताशे' यह नर्मवचन है । औरों का भी विष्णु बरती हो और तुम्हारा भी ईप्सित लाभ हा जावेगा इसका भी क्या प्रयाशा ! चाहे मेरे घर को आजा या तुम्हारे घर को हम दोनों चर्चें, इस प्रकार दोनों ओर भी तात्पर्य होने से चाटुकारितारूप वन्द्य का अभिप्राय या कि अनुभवरूप (विधिविधेयरूप रहित) है व्यक्त होना है । यही सिद्धान्त यहाँ पर स्थिर होना है । दूसरे लोग तो—तटस्थ सहृदयों की यह अभिसारिका के प्रति उक्ति है यह कहते हैं । उसमें 'हताशे' यह सम्बोधन उचित है या अनुचित इसमें सहृदय ही प्रमाण है ।

तारावती

दोनों से भिन्न । इसका उदाहरण है 'दे वि हतासे ।' 'दे' यह निपात सङ्क अव्यय है जिसका अर्थ होता है प्रार्थना । 'आ' का अर्थ है 'तावत्' जिससे पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम मत्र जाओ क्योंकि तुम अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विष्णु डालोगी और तुम्हारी भी आशा पूरी न हो सकेगी ।' इस पद्य के सन्दर्भ की व्याख्या कई प्रकार से की गई है । निम्नलिखित व्याख्याओं पर लोचनकार ने विचार किया है—

(१) नायिका नायक के घर आई है और सहृदय में पवृत्त हो गया है । इसी अवसर पर सयोगस नायक गोधरखल्लन का अपराध कर बैठता है जिससे नायिका रुष्ट होकर जाने को उद्यत हो जाती है । तब नायक उक्त शब्द कहता है, जिसका अर्थवार्थ यह है—'तुम जैसी विश्वसुन्दरी को छोड़कर मैं दूसरी नायिका से प्रेम कैसे कर सकता हूँ ? यदि तुम मुझे छोड़कर जाओगी तो मैं अत्यन्त पीड़ित हो जाऊँगा और तुम्हें भी पछताना पड़ेगा । तुम्हारी भी आशा पूरी नहीं हो सकेगी और दूसरों का भी विष्णु कराओ । इस प्रकार यहाँ पर शिववचन की चाटुकारिता शक्य है और 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा भविष्य में पछताने की बात कहकर नायिका को आगाह किया गया है ।

उक्त अर्थवार्थ में दोष यह है कि इस अर्थ में मुख्य अर्थ नायिका को रोचना ही है जो कि वाच्य है । अर्थवार्थ नायक की चाटुकारिता उक्त वाच्यार्थ का अर्थ बन गई है । अतएव यह उदाहरण अपराध गुणोद्भवव्यय का हो जाता है शक्ति का उदाहरण नहीं हो पाता ।

सोपनम्

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया धीतोत्तरं साम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुमये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शानकैरपाङ्गवलनान्मिथीभवच्चक्षुषो-
भङ्गो मानकलिः सहासरमसस्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥

हृद्यत्रेर्व्यारोपात्मनो मानस्य प्रथमः । न चायं रसादिरयः 'पुत्रस्ते जावः'

'एक ही शय्या पर पराङ् मुख होने के कारण उत्तरकालिककार्यरहित होकर सन्दाप का अनुभव करते हुए, एक-दूसरे के हृदय में अनुभव के विषय रहते हुए भी गौरव को रक्षा करते हुये, दम्पति के धीरे से अपाङ्गवलन के कारण चक्षुषों के निलंबने से हास और क्षीप्ता के साथ कण्ठग्रह की सम्बन्धतापूर्वक मान-कलह नष्ट हो गया ।

यहाँ पर ईश्वरीरोपात्मक मान का प्रथम हो गया है । यह रस इत्यादि अर्थ 'तुम्हारे पुत्र

तारावर्ती

बाद में होगा । रस की उस दशा में जब बाढक तन्मय हो जाता है उसके आस्वाद में रति ही कारण होती है । जब हम राक्षय के मुख से ऐसे शब्द सुनते हैं कि—'उस लीला के नाम में एक आदू है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र ही' इत्यादि वाक्यों को सुनने से चित्तवृत्ति रति इत्यादि भावों में ऐसी तन्मय हो जाती है कि विभाव (नायक और नायिका) का ध्यान ही नहीं रहता, जिसमें औचित्य-अनीचित्य का निचय किया जा सके । उस समय विभाव अनुभाव इत्यादि वाचिचार संप्रदाय लुप्त हो जाता है और रसा-स्वादन ही मन्त्र रह जाता है । बाद में जब विभाव इत्यादि पर चिचार किया जाता है और यह धार होता है कि यह रति तो लीला के प्रति राक्षय की है तब इस शृङ्गार के प्रति हास्य का उदय होता है । शृङ्गार के प्रति हास्यचर्चया ही शृङ्गारमास के नाम से पुकारी जाती है । जो स्वभिवारीभाव रसाभास का अङ्ग होता है उसे भावामास कहते हैं । भावप्रति में ही भावप्रथम का भी समावेश हो सकता था, किन्तु यहाँ पर पृथक् परिगणन किया गया है । इसका कारण यह है कि कभी-कभी अब चित्तवृत्ति आस्वादरूपता को धारण करने लगती है उस समय भाव नहीं भाव प्रथम ही हृदय को आनन्द देने में कारण होता है । जैसे—

'नायक और नायिका ने एक दूसरे से मान किया है, दोनों एक ही धारणा पर डटे हैं, दोनों ने एक दूसरे की ओर से आरवट बटवट रखी है, लीटने के बाद के सारे कार्य बन्द हैं, दोनों के चित्तों में सन्दाप है, हृदय में एक दूसरे से अनुभव करने की इच्छा होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते हैं इसी समय दोनों के असाह्य हृदयों में प्रेम और दोनों की अर्धे निल गर्भ, दोनों की हँसी का गर्भ, दोनों घटवट एक-दूसरे के गले में चिबट गये और बन्द घटवटों का बटवट समाप्त हो गया ।'

ध्वन्यालोक

वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्य वग होई रोमो ददृष्ट्वा पिआण सावण अहरम् ।

मममरपदमग्वाह्णि वारिभवाम सहसु पृक्षिम् ॥

(अनु०) कहीं विषयनेत्र से भी वाच्यार्थ और व्यंग्याय क भेद का व्यवस्था की जा सकती है। जैसे—'अपनी प्रियता के प्राणपूर्ण अक्षर का देखकर जिसका काव उग्न नही होगा ? तुम्हारा स्वभाव ही कुठिल है, तुम मेरा मना करना तो कभी मानती हो नहीं। मैंने तुम्हें मना किया था कि हम फूल का नल मू वा क्योकि हममें मौला बैठा है तुमने नह मना और वह फूल मूष ही लिया। अब इस समय उमका दुःखरिणाम तुम्हें सहनी ही परेगा।

लोचनम्

एव वाच्ययद्गद्ययोर्धार्मिकपान्यप्रियतमामिमारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूप भेदाद्भेद इति प्रतिपादितम् । अनुना तु विषयभेदादपि स्वङ्गयस्य वाच्याद्भेद इत्याह—वचिद्वाच्यादिति । व्यवस्थापित इति । विषयभेदाऽपि विचित्ररूपो व्यतिष्ठमानः । महद्दयैर्न्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

कस्य वा न भवति रोमी दृष्टा प्रियाया सव्रगमधरम् ।

मममरपदमग्वाह्णि वारिभवाम सहस्वेदानम् ॥

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य में धार्मिक, मान्य, प्रियता और अभिसांगिका इनकी विषय की एकता होने पर भी स्वरूपभेद के कारण भेद माना जाता है यह प्रतिपादित कर दिया। अब ता विषयनेत्र से भी व्यङ्ग्य का वाच्य से भेद जाना है यह कह रहे हैं—कहीं कहीं वाच्य से इच्छा व्यंग्या किया गया है वह। आशय यह है कि अक्षरियन होनेवाला विचित्ररूप कौटा विषयभेद भी सहदयी के द्वारा व्यंग्यापित किया जा सकता है।

तारावती

का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। प्रथम उदाहरण में धार्मिक व्यक्ति के प्रति विधि वाच्य और निषेधविधि व्यंग्य है। द्वितीय उदाहरण में पथिक के प्रति शय्या पर जाने का निषेध वाच्य और विधि व्यंग्य है, तृतीय उदाहरण में नायक के प्रति भजनविधि और 'मैं रहस्य की समझ गइ हूँ वह सन्धिकेपे व्यंग्य है। चतुर्थ उदाहरण में अभिसांगिका के प्रति अभिसारनिषेध वाच्य और प्रियता की चातुर्कृति व्यंग्य है। इन सब उदाहरणों में एक ही व्यक्ति अभिसांगित से एक अर्थ समझा है और व्यंग्यनार्थ से दूसरा। अक्षर यहाँ पर वाच्य और व्यंग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि विषयनेत्र से भी वाच्य और व्यंग्य का भेद हो सकता है। विषयनेत्र का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ तो सभी श्रोतकों के प्रति एक ही होगा किन्तु व्यंग्यार्थ श्रोतकों के व्यंग्यता के अनुसार बदलता जावेगा। श्लोके में लिखा है कि कहीं कहीं वाच्य से विभिन्न विषय के रूप में 'व्यंग्या' का जा सकती है। कहीं पर वह प्रश्न उठता है कि 'व्यंग्या की जा सकने' का अर्थ या यह है कि स्वयं अपने लक्ष्य नहीं होता, केवल रूपन ही को जा सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है वे

लौचनम्

यथा मट्टेन्दुराजस्य—

यद्विभ्रम्य विलोकितेषु बहुशो नि रथेमती लौचते
यद्गात्राणि दरिद्राणि प्रतिदिनं लुनापिज्जनीनालबत् ।
दूषाकाण्डविदम्बकश्च निविष्टो यः पाण्डिमा गण्डयो
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैश्च वेपस्थिति ॥

जैसे मट्टेन्दुराज का— बीच बीच में एक एक कर हानेवाले दृष्टिगतों में जो कि नेत्र अगिरता को प्राप्त हो जात है, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जा कि उसके छारे बड़ झुलते लगे जा रहे हैं, दूषाकाण्ड को भी विरस्तृत करनेवाली घनी पीलिया जा कि उसके कपेरी पर व्याप्त है, यौवन को प्राप्त कृष्ण के प्रति यौवनवता वनिताओं की वच बहो वेपस्थिति है ।

चारावती

उभय हो जाता है । हमें भी उस समय उस भाव में आनन्द की प्रतीति होने लगती है । इसी अर्थ का नाम रस है । आस्वादन करना ही इसका एक मात्र प्राण है । यह रस लौकिक सुखाद से इस अर्थ में भिन्न होता है कि लौकिक सुख साध्य होते हैं किन्तु यह स्वयं सिद्ध स्वभावानन्दस्वरूप होता है । यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वयं स्फुरित होता है । इसीलिये मूल में कहा गया है वह प्रकाशित होता है ।

उप्युक्त विधि से यह तृतीय रसध्वनि वाक्यसामर्थ्य से आश्रित होकर स्वयं प्रकाशित हुआ करती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि रसादि की प्रकृति में अर्थ सहकार के साथ शब्द का ध्वन्न वापार ही हुआ करता है । विभाव इत्यादि वाक्यार्थ भी रसादिरूप चिच्छक्ति का उस प्रकार उत्पन्न नहीं किया करत जिस प्रकार पुत्रजन्म के समाचार से आनन्दानन्दक चिच्छक्ति उत्पन्न होती है । अतएव रसानुभूति में अर्थ का भी ध्वन्नन्यापार ही होता है । रस की वाच्यता दो ही रूपों में हो सकती है या तो रस, शृंगार, रति इत्यादि शब्दों का मयोग करके वा विभाव इत्यादि के अर्थवादन के द्वारा तात्पर्यात्मिक से । यदि हम रस को शब्दवाच्य मानेंगे तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति में अन्वय स्वतंत्रिक मानना पड़ेगा । 'जहाँ रसावाप्तम होता है वहाँ शृंगार इत्यादि शब्द अन्वय होते हैं' यह अन्वय है और 'जहाँ शृंगार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति भी नहीं होती' यह स्वतंत्रिक है । किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

[रस शब्द व्यक्तित्व पर आधारित कह दे मैं साथ में मरा हूँ 'मैं रति से युक्त हूँ' हुआ उभ्या व्या रही है' और साथ रति शब्दा इत्यादि के अनुभावों का अभिनय न करे तो सहृदयों का अधर्म्य रसावाप्तम नहीं हो सकेगा । इसके प्रतिरूप होता यह है कि रस इत्यादि शब्दों का न होने पर भी वैकल्य अनुभावों का हा वचन कर देने से रसावाप्तम हो जाता है ।]

ध्वन्यालोक

तथा हि वाच्यत्व तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वामावे रसादीना प्रतीति-प्रसङ्ग । न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीति । स्वशब्देन सा केवलमनुचते न तु तत्कृता । विषयान्तरे तथा तस्या रुद्रदर्शनात् । नहि केवलशब्दद्वारादिशब्दमात्रमात्र विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मतागपि रसवाच्यप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वामिधानमन्तरण केवलम्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीति । केवलाच्च स्वामिधानादप्रतीति । तस्मादन्वयम्यतिरकास्यामभिधेयसामर्थ्यां श्लिष्टत्वमथ रसादीनाम् । न त्वभिधेय कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभदो वाच्याङ्गिन एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहच प्रतीतिरिष्ये दशविष्यते ।

(अनु०) शक्यो रस प्रकार समक्षिये—रस शब्दादि को वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो रस शब्दादि शब्द के द्वारा निवेदित किये गये हों या विभाव शब्दादि के प्रतिपादन के द्वारा उनका प्रस्थापन कराया गया हो । यदि प्रथम रूप (रसादि का स्वशब्द वाच्य होना) माना जावेगा तो वहाँ पर रस शब्दादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होगा वहाँ पर रस शब्दादि की प्रतीति हो ही नहीं सकेगी । इसके प्रतिरूप रस शब्दादि के प्रतिपादन के अन्तर पर सर्वत्र रस शब्दादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता । वहाँ कहीं रस शब्दादि शब्दों का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी उनकी प्रतीति रसादि के प्रतिपादन के द्वारा ही हुआ करती है । रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुवादक होता है । उन शब्दों के द्वारा रस शब्दादि की प्रतीति होती ही नहीं । क्योंकि दूसरे विषय में वहाँ विभाव शब्दादि का अभाव होता है केवल रस शब्दादि शब्दों का ही प्रयोग होता है वहाँ रसादादन देखा जानहीं आता । केवल शब्द रसादि शब्दों के होने पर और विभाव शब्दादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में योही भी रसज्ञता प्रतीत होती हुई देखी ही नहीं जाते । अब चूँकि वहाँ पर रस शब्दादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर रस शब्दादि की प्रतीति नहीं होती अतएव अत्राप्यतिरेक से यह निश्चि होना है कि रस शब्दादि का सर्वदा वाच्यसामर्थ्य से आशय हा होता है रस शब्दादि किसी प्रकार भी वाच्य नहा हो सकते । इस प्रकार यह सिद्ध हा गया कि तासदा प्रभेद रस शब्दादि भी वाच्य से भिन्न हो होता है । यह बात आग चन्कर लिखता जावेगी कि साथ न हात हुए भी रस शब्दादि की प्रतीति वाच्य के साथ हाती हुई भी क्यों जान पड़ती है । यह अग दिखनाया जावेगा कि इसका प्रतीति वाच्य के साथ की जैसी होती है ।

वारावता

निम्न हुआ करते हैं । महिन मट ने ध्वन्यालोक के साथ सभी उदाहरणों को या हा अमूल्य बनाया है वा उनका समावेश अनुमान में करने की चेष्टा की है । किन्तु उनके बतनाये हुए अधिकांश हेतु देलामास की कटि में आ जाते हैं अत अमानसिद्ध हैं ।)

शोधनम्

सा केवलमिति । तथाहि—

यावे द्वारवती तदा मधुरिपौ तद्वत्प्रमथानतां
कालिन्दोत्तररुदवज्जलतामालिङ्गसोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुह्याप्यगद्गदगलधारस्वरं राघया
येनान्तजलधारिमिजलधरैरप्युत्कनुज्वितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभाववन्तानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चरुंगागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठानन्द केवल सिद्ध साधयति, उत्कमित्यनेन सूक्ष्मानुभावानुकरणं कर्तुं सोत्कण्ठा शब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानयंक्त, पुनरनुभव-प्रतिपादनं हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा । न तु उत्कृतेत्यत्र हेतुमाह विषयान्तर इति । यद्विधम्य इत्यादौ । न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदितिमात्रं । अदर्शनमेव ददयति—नहीति । केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादिति । काव्य इति । तत्र अत्र काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः । मनागपीति ।

सा केवलमिति । वह इस प्रकार—“वह मधुमदन मगवान् कृष्य द्वारा की चने गये तब यमुना तट पर गयी हुई और विहरणकाल में मगवान् कृष्य के द्वारा खींचे जाने के कारण मुझी हुई बज्जुलता का आतिङ्गनकर उच्यता से मरी हुई राधा ने काव्यमाह के कारण गद्गद शब्द से उत्स्वर में देखा जाना गया कि स्वतन्त्रियों का तो बदना ही क्या बल के अन्दर निरास करनेवाले बीबी ने भी उच्युत्साहना कृपना प्रारम्भ कर दिया ।”

यहाँ पर विभाव और अनुभाव अन्तान रूप में प्रतीत हो रहे हैं, और उच्यता चरुंगा गोचरता की प्राप्ति होती ही है । ‘सोत्कण्ठ’ शब्द केवल सिद्ध की ही सिद्ध कर रहा है । ‘उत्क’ इस शब्द के द्वारा एक अनुभावी का आनयन करने के लिये ही सोच्यता शब्द का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार अनुवाद भी निरर्थक नहीं है । ‘पुन अनुभाव क द्वारा प्रतिपादन करने में पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव उसके द्वारा नहीं होता’ इस विषय में बहुत बतला रहे हैं—‘विषयान्तरे’ इत्यादि । ‘यद्विधम्य’ इत्यादि श्यानी पर । जिसके अन्वय में भी जो हो जाय है वह उसका बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता । न देखे जाने की ही दृष्ट कर रहे हैं—‘न हि’ इत्यादि । केवल शब्द की स्पष्ट कर रहे हैं विभाव इत्यादि । काव्य इति । काव्य दुम्हारे मन में काव्य के रूप में जो उत्पन्न प्रसक्त होता है । ‘मनागपीति’ ।

द्वारवती

‘वह मधुमदन मगवान् कृष्य द्वारा की चने गये तब यमुना तट पर गयी हुई और विहरणकाल में मगवान् कृष्य के द्वारा खींचे जाने के कारण मुझी हुई बज्जुलता का आतिङ्गनकर उच्यता से मरी हुई राधा ने काव्यमाह के कारण गद्गद शब्द से उत्स्वर में देखा जाना गया कि स्वतन्त्रियों का तो बदना ही क्या बल के अन्दर निरास करनेवाले बीबी ने भी उच्युत्साहना कृपना प्रारम्भ कर दिया ।’

लौघनम्

रास्त्राद्यखे स्यायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भाव, अनीचित्येन तदामास, रावण-
स्थव सीतायां रते । यद्यपि तत्र हास्परमरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि मनेन्द्रास्य' इति
वचनत् । तथापि पाश्चात्येय सामाजिकाना स्थिति । तन्मयीभवनदशाया तु
रतेरेवास्याद्यतति शृङ्गारतैव माति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र
इव म तत्राग्नि याते ध्रुतिम्' इत्यादौ । तदमौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्ग भावा
भासश्चित्तवृत्ते. प्रथमे एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, अत एव
साम्दृष्टीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ । यथा—

वृत्ति की आस्वादनीयता हाने पर रस होता है, व्यभिचारिणी के आस्वादनीय होने पर भाव
होता है, अनीचित्य के साथ प्रवृत्त हाने पर रसामास और भावाभास हाते हैं । जैसे रावण
की सीता में रति (आस्वादनीय होकर रसामास हो गई है) । यद्यपि वही पर हास्पररूपना
ही है क्योंकि कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य हाता है । तथापि सामाजिकों को यह बाद की
रिपति है तन्मय हाने की दशा में तो रति की ही आस्वादनीयता होनी है, इस प्रकार 'दूरा
कर्षण मोहमन्त्र के समान उम (सीता) क नाम के वर्णगोचर होने पर' इत्यादि में पौर्वापर्य
के विवेक की अवधारणा से शृङ्गारता ही शोभित होती है । अत यह शृङ्गाराभास ही है ।
उसका अङ्ग भावामास होता है । यौकि रसव्यञ्जना के लिये प्रारम्भ की हुई चित्तवृत्ति का
प्रथम ही विणेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है इसीलिये उसके द्वारा सप्रहीत भी यह
भावप्रगण एवक् गिना गया है जैसे—

सारावर्ती

स्वीकार कर लिया जाव । अभिधा का यहाँ प्ररन हो नहीं उठता वय कि 'आनन्द आ रहा
है' यह कहने से या सुनने से किसी का आनन्द नहीं आ जाता (विभिन्न वणनों और अभिनयों
से आनन्दानुभूति असम्भव हाती है आ कि ध्वनि का हा रूप है ।) अभिधेयाथ व वाध
नहीं होता इसलिए यही पर, रणना नहीं हो सकती ।

रसध्वनि में रसध्वनि, भावध्वनि, रसामासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय, भावगान्ति,
भावसन्धि और भावगच्छता ये सभी भेद सम्मिलित हैं । स्यादिना चित्त शून्य अब औचित्य
प्रवृत्ति के साथ आस्वादरूपता का धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं, जब व्यभिचारिणी
चित्तवृत्ति आस्वादनरूप हा जाता है तब उसे भावध्वनि कहते हैं । अब वही चित्तवृत्तियों
अनौचित्य प्रवृत्त होता है तब प्रथम रसामास और भावाभास ध्वनियां हाती हैं । जैसे राम
का सीता के प्रति प्रथम रसध्वनि कहा जावेगा और रावण का सीता के प्रति प्रथम रसामास
ध्वन्यवेग । यद्यपि इस प्रकार का रसामाससम्बन्धी प्रथम हास्य हो कहा जावेगा । क्योंकि कहा
गया है कि 'शृङ्गार से हास्य उत्पन्न हाता है ।' किन्तु रसामास का प्रथम तो सामाजिकों का

सोचनम्

मूत्रात्रिमोत्रनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये मामर्ष्यं शक्ति-
विशिष्टमभिविक्तो वाचकमाकृत्यमिति द्वयोरपि शब्दापेक्षोप्यनन व्यापातः ।
एव ही पञ्चावुपक्रम्यापेक्षो दूषितः द्वितीयस्तु कथञ्चिद्दूषित कथञ्चिद्गोहृतः ।
जननानुमानध्यापारासमिप्रायेण दूषितः ध्वननासिद्धा येगाद्रीकृतः ।

यम्बुग्रापि तान्ययंशक्तिमेव ध्वनन मन्यते, म न वस्तुताववेदी । विमा-
चानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तान्ययंशक्तिमेव संमर्गे वा पर्यवस्येत् न तु
रस्यमानतामारं रसे दृश्यत् बहुता । इति शब्दो हेत्वर्थे । इत्यपि हेतोन्ती-
योऽपि प्रकारो वाच्यादिषु एवेति मन्वन्धः । महेवेति । इवशब्देन विद्यमानोऽपि
क्रमो न संसृजत इति दर्शयति महे इति । द्वितीयोपाने ॥ ४ ॥

अनुमान उपाये दूषे रचितमन् से विलक्षण होने के कारण अनुमान से व्यतिरिक्त, ध्वनन
करने में सामर्थ्य अर्थात् शक्ति अर्थात् विशेषताओं से युक्त वाचकमाकृत्य । इस प्रकार शब्द
और अर्थ इन दोनों का ही व्यापार ध्वनन होता है । इस प्रकार दो पक्षों का उचित कार्य
मयन का ध्वनन का दिवा, द्वितीय क्रमोपकार दूषित का दिवा और त्रितीयकार उद्घातन
का दिवा । जनन और अनुमान के अतिरिक्त से ध्वनन का दिवा और ध्वनन का अतिरिक्त
से उद्घातन का दिवा ।

तो वही पर भी तान्ययंशक्ति को ही ध्वनन मानना है वह वाचकता को नहीं समझता ।
विषय और अनुभाव के अतिरिक्त वाक्य में त्रितीयकार तान्ययंशक्ति मेव में वा सस्यो
में परवर्तित होगा, आत्मान ही जिसका मार है उसका क रस में परवर्तित नहीं होगी ।
अधिक करने की क्या आवश्यकता । इति शब्द हेतु अर्थ में आया है । वही पर समन्वय इस
प्रकार का है—'म हेतु मे भी द्वितीय को प्रकाश वाक्य में मिल ही होता है ।' 'महेवेद' ।
'इह' शब्द से विषयन में क्रम दर्शित नहीं हो रहा है यह बात दिव्या रहे है—अपे पर-
कार । अर्थात् दिव्य दर्शन में ।

सातवर्गी

विषय इत्यदि के द्वारा प्रशस्तन न दिवा गया हो केवल शब्द इत्यदि शब्दों का उदाहरण
हा वही पर समझता को विन्तु प्रशक्ति नहीं होती । जैसे 'शब्द इत्येव कथं' इत्यदि
मात्र दुर्ग की शक्ति में सभी शब्दों का नाम मिलना गया है विन्तु सातवर्गी विषय की
नहीं होती । त्रितीय अभाव में कई वाचक उपाय हो जाये लो वह उस वाचु में कार्य नहीं
माला का माला ।

वही पर जनन-अतिरिक्त के द्वारा सिद्ध दिवा गया है कि रस इत्यदि शब्दों का प्रयोग
रसावधान में मिलित नहीं होता अर्थात् विषय अनुमान के द्वारा जनन का उपाय हा रसा-
वधान में मिलित होता है । जनन का अर्थ है सत्ता और व्यतिरिक्त का अर्थ है अभाव ।

लोपनम्

इत्यतो यया ह्यो आयते यया । नापि लक्षणया । अपि तु सहृदयस्य हृदय-
 सबाह्वलादिमावानुभावप्रतीती तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राप्य
 मिदस्वभावमुलादिविज्ञान परिरक्षुरति । उदाह—प्रकाशत इति । तेन तत्र
 शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति । विभावाद्यर्थोऽपि न पुनरन्महर्ष-
 न्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वनन-
 मत्रोप्यते । स्वगन्धेति । शब्दारादिना शब्देनाभिधास्यापारवशादेव निवेदितत्वेन ।
 विभावादीति । तात्पर्यशक्तयेत्यर्थ । तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानता-
 सार रस प्रति निराहुवंत ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति ।
 वयत्र दुःखा हे' इतने जैसा हर्ष होता है वैसा नहीं है । लक्षणा के द्वारा भी नहीं । अन्ति
 सहृदय के हृदयतत्त्वा के बल पर विभाव और अनुभाव को प्रतीति में तमयता के आ जाने
 से आत्मात्मेवर होते हुए ही रस्यमानता को ही एकमात्र माय के रूप में रखनेवाला सिद्ध
 समान्य शब्द इत्यादि से विज्ञाप्य सुनिश्चित होता है । यज्ञ कहते हैं—प्रकाशित होता है ।
 इससे बड़ी पर अर्थसहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार होता है । विभावादि अर्थ भी पुत्र
 समान्य व्याप से उस चित्तवृत्ति का उत्पन्न करता है इस प्रकार अर्थ का भी जननातिरिक्त
 व्यापार ध्वनन ही कहा जाता है । स्वगन्धेति । अर्थात् शब्द शब्द से अभिधा व्यापार
 का ही निवेदित होने के कारण । विभावादि । अर्थात् तात्पर्य शक्ति से । वहाँ पर रस्यमान
 तत्त्वार (रस) के प्रति स्वशब्द के अन्वय-व्यतिरेक का निराकरण करते हुए ध्वनन के ही वे
 दोनों (अन्वय व्यतिरेक) होते हैं यह दिखाना रहे हैं—न च सर्वत्रेति ।

वारावती

यहाँ पर ईश्या और रोष आश्वासन में निमित्त नहीं है किन्तु उनका प्रभाव ही निमित्त
 है । (इसी प्रकार मावन्द्य, भावमर्षि और भावगण्डता के विषय में भी समझना चाहिये ।
 यह है लक्षण के विचार का संपन्न परिचय ।)

इस रसात्वादन से वयत्र होनेवाला आनन्द अभिधावृत्ति से सगृहीत नहीं हो सकता ।
 अभिधावृत्ति के द्वारा भी आनन्द वयत्र हुआ करता है और वह इस प्रकार का हुआ करता
 है जैसा कि 'हृत् प्रमथ्य' तुन्दारे पुत्र वयत्र हुआ ।' यह करने से भावमर्षि को होता है ।
 रसात्वादन का आनन्द उससे विज्ञाप्य होता है क्योंकि उसने करने-पराये का भाव विरोहित
 हो जाता है । बाध इत्यादि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती । किन्तु जिस समय
 इन काल में किसी अस्तमित्य के प्रति वयत्र होनेवाले आश्रयगत किसी भाव का परिशीलन
 करते हैं और मूर्च्छित्यपन तथा अस्तमित्यगत चेष्टा इत्यादि को वशीलन के रूप में और आश्रय
 गत चेष्टाओं को अनुभाव के रूप में प्रतीति करते हैं उस समय में यह आश्रयगत भाव अपने
 द्वारा ही भूत शक्त हुआ सा मूर्च्छित्यपन है । उस समय हमारा अन्तःकरण उस भाव से

ध्वन्यालोक

काव्यस्यात्मा स पद्यार्पणतया चादिकवे पुता ।

श्रीशङ्खद्विवियोगोत्थः शोकः श्लोकव्यवहारतः ॥ ५ ॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चधारण. काव्यस्य स पद्यार्पणः सारभूतः । तथा चादिकवेः वाङ्मोकेः निहृतमहधरविरहकारकौशाग्रन्दनजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः । शोको हि कृष्णस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनोऽपि रसभावमुत्पन्नैवोपलक्षणप्राधान्यात् ।

(अनु०) 'वही अर्थ काव्य की आत्मा है' इसमें वही प्रमाण है कि प्राचीन काल में शोच के भेदों के परस्पर वियोग से उत्पन्न हुआ आदि-रसि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया ॥ ५ ॥

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च से सुन्दरता को प्राप्त काव्य का वही (प्रतीयमान) अर्थ सारभूत है उसमें यह प्रमाण है कि सारे रूप सद्भार के वियोग से काल शोचों के आरन्द से उत्पन्न हुआ आदि-रसि वाङ्मोकि का शोक ही श्लोक-रूप में परिणत हुआ । निम्नन्देह शोक कृष्ण का स्थायीभाव है । प्रतीयमान के अन्य भेदों को देखने पर भी रस, भाव के द्वारा ही उल्लेख किया गया है क्योंकि प्रपञ्चता उसी की है ।

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्वदेव' इत्यायता ध्वनिस्वरूपं म्याख्यातम् । अयुता काव्यात्मत्वमितिहामस्याज्जन य दर्शयति—काव्यस्यात्मेति । स एवेति । प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रमान्ते नर्ताय एव रमण्यनिरितिमन्तव्यम् । इतिहासखण्डान् प्रमान्तवृत्तिप्रत्यवलाञ्छ । तेन रम एव वस्तुन आत्मा । वस्तुवत्प्रकारध्वनी तु सयंघ, रम प्र त पर्यंघसंज्ञे इति चाध्यादुरादृष्टी तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' मामान्देनोक्तः । शाक इति । श्रीशङ्ख द्विवियोगेन सहधरोहननोद्भूतेन साहचर्यध्वमनोस्थितो यः शोकः म्यायिभाषो निरपेक्षमात्रवादि-प्रलम्भश्लोचनोचितरसिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथामूठविभावतदुत्पा-

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्वदेव' इतने से परनिष्कण की व्याख्या कर दी । इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यात्मत्व दिखाना गृहे है—काव्यस्यात्मेति । 'वही' इस शब्द के द्वारा समस्त प्रतीयमान के प्रमाण होते हुये भी इतिहास के रूप पर और प्रकरणगत वृत्तिप्रत्य के अर्थ के रूप पर पूर्व व रमण्यनि ही समग्री जानी चाहिये । इसमें रस ही काव्य में आत्मा है, वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि तो रस के ध्वनि ही पर्यन्तित हाता हैं इसप्रकार काव्य की अपेक्षा के दोनों उन्मृष्ट हाती हैं इस अभिप्राय से सामान्य रूप में कह दिया गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है । शाक इति । शङ्ख क द्विवियोग से अर्थात् सहधरोहनन से उत्पन्न साहचर्य-रस से उठा हुआ जो शोक स्थायीभाव (वृत्) निरपेक्ष भाव के कारण विदग्धमाश्लोचनोचित रसिस्थायिभाव से निरत ही है । वही इस प्रकार के विभाव तथा समये उठे हुये आरन्द

लोचनम्

हृष्यप्रानुभावविभावावबोधतोत्तरमेव तन्मयीभवत्तुस्या तद्विभावालि-
माबोचितचित्तवृत्तिवापनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचरणागोचरोऽप्यो रमाना स्फु-
रखेवामिवावचिन्वौ मुक्यनिद्राद्यतिग्लान्यालक्ष्यप्रमस्मृतिचित्तकादिसन्धानावेऽपि।
पुत्रं स्मृतिरेकानाव प्रदस्यान्वयानाव दशंपति—यथाप्रीति। तद्विति स्वराब्द-
निवेदितवम् । प्रतिपादनमुत्तेनेति । शब्दप्रयुक्त्या विभावादिप्रतिपत्त्येभ्यः ।

यहाँ पर अनुभाव विभाव के बंधन के बाद हा तन्मय होने को युक्तिके उस विभाव और
अनुभाव के योग्य विद्युत्ति की वासना से अनुरञ्जित अपनी सचेदनस्या अन्वचरणा का
विनमूत्र अर्थ ही रस की आनावना स्मृति होता है, यद्यपि यहाँ पर अनित्य, विद्या,
अन्तस्य, निद्रा, धृति ग्लानि, आत्म्य, मन, स्मृति, विरक्त इत्यदि किमी शब्द का प्रयोग
नहीं किया गया है। इस प्रकार अतिरेक का अभाव दिव्यलक्ष्य अन्वय का अभाव दिव्यलक्ष्य
रहे हैं—यथाप्रीति। 'तु' का अर्थ है स्वराब्दनिवेदितव । प्रतिपादनमुत्तेनेति । अर्थात् शब्द के
द्वारा प्रयुक्त की हुई विभाव इत्यदि को प्रतिपत्तिके द्वारा ।

पारायणी

वैते मन्त्रेणुगाव का निम्नलिखित उदाहरण—'कृष्य का यौवन परम हो रहा है और
उपर युवतियों भी मरे हुये यौवन से अभ्यर्षित हैं। अब कृष्य को देखकर यौवनवती
वनिताओं का रग-रग ही बढ़त जाता है। बीच बीच में रुक-रुक कर वे कृष्य को देख लेती
हैं जिससे उनके नेत्र अस्तिर हो जाते हैं। जैसे—कटी हुई कनटिनी मूडगी जाती है जैसे ही
उन वनिताओं के अह भी मरते चले जा रहे हैं। उनके बालों पर हृष्यप्रानुभाव पड़ने भी
पैठ रही है जो कि ऐसे हुई वस को पड़ने को भी लज्जित करवाती है।'

यहाँ पर कृष्य आत्मन है वनिये अप्रमद है, चञ्चल नेत्रों से रुक रुक कर देखना
इत्यदि अनुभाव है, कृष्य का यौवन वरुण विभाव है। इन विभाव और अनुभावों का बोध
हो जाने के बाद निवृत्ति में जो तन्मयता आ जाती है और निवृत्ति अनुभाव और विभाव
के योग्य जिस वासना से अनुरञ्जित हो जाती है उसके द्वारा स्वनकारानन्द विनमर रस का
सुराव होने शक्य है। यद्यपि यहाँ पर भी अनित्य, विद्या, अन्तस्य, निद्रा, धृति, ग्लानि,
आत्म्य, मन, स्मृति, विरक्त इत्यदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु इन सबकी
प्रतीति विभाव और अनुभाव के बंधन पर ही हो जाती है।

इस प्रकार यहाँ पर अतिरेकव्यति 'बड़ी मूर्खर इत्यदि शब्द नहीं होने वही समनुवृत्ति
नहीं होते' में दोष दिव्यलक्ष्य दिया गया कि वक्तव्य में मूर्खर इत्यदि शब्दों के न होने पर
भी समनुवृत्ति हो जाती है, अब अन्वयव्यति का अभाव दिव्यलक्ष्य जा रहा है—कर्म में
बड़ी-बड़ी रस, मूर्खर इत्यदि शब्दों का प्रयोग मा लिंगा है। यहाँ पर मा उनकी प्रतीति
तिलोरूप से विभाव इत्यदि के प्रतिपादन के द्वारा हो जाती है, शब्दों का प्रयोग ही केवल
उन शब्दों का अनुवाद करने के लिये ही होता है। जैसे—

शारावली

यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि यहाँ पर प्रकरण प्रतीयमान मात्र का है तथापि आदि कवि के लोककल्प इतिहास के दृष्टान्त से तथा कृत्तिकार आनन्दवर्धन की व्याख्या के आधार पर 'स पर' का अर्थ रसध्वनि हो ठहरता है। अतएव वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है यही अर्थ समझना चाहिये। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि यही पर वाच्यरूपता को धारण करता है नही पर वे रसध्वनिपर्यवसायी होती हैं। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी वाच्यार्थ का अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं अतः सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है।

[कारिका न० ४ में 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव ' लिखकर वाच्यार्थान्तरिक व्यङ्ग्यार्थ का परिचय दिया गया था, इसमें वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीनों प्रकार की ध्वनियों का ज्ञानी थी। उसी व्यङ्ग्यार्थ का ध्वनिकार ने वस्तुतः कारिका में काव्य की आत्मा बतलाया। केवल प्रमाण या उदाहरण के रूप में शोक की श्लोकत्वपरिणति का उल्लेख किया जिसका अर्थ रसध्वनिपरक हो सकता था। किन्तु कारिका और उसके प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्वनिकार तीनों प्रकार की ध्वनियों का काव्य की आत्मा मानते हैं। आनन्दवर्धन ने इस कारिका की व्याख्या उपलक्षणपरक की। उनका आशय यह है कि 'ध्वनिकार ने उदाहरण के रूप में जो शोक की श्लोकत्वपरिणति दिखलाई है उसका अर्थ यह नहीं है कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा होती है। रसध्वनि तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी रसध्वनि के समान ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं।' इसके प्रतिवृत्त अभिनव गुप्त ने रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनि समुद्र के दो वर्ग हैं—एक ओर तो वे लौंग हैं जो ध्वनिमात्र को काव्य की आत्मा मानते हैं और दूसरे वे लौंग हैं जो केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानने के पणाली हैं। आनन्दवर्धन प्रथम वर्ग में हैं और अभिनवगुप्त द्वितीय वर्ग में किन्तु दोनों में अधिक भेद नहीं है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अनेक स्थानों पर रसध्वनि की प्रधानता प्रतिपादित की है।

जब कौशिकी के सहचर का रूप बदर दिया गया और उसका परस्पर साहचर्य मङ्ग हो जाने के कारण उन्हें जो शोक दुःखा उसे हम विपलम्भ के स्वाधीभाव रति का सञ्चारीभाव शोक नहीं कह सकते। कारण यह है कि जबकि पुनः सम्मिलन की आशा रहती है तभीतक हम उगे रतिव्यापी में सन्निविष्ट कर सकते हैं। सहचर की हत्या के बाद अलम्भन के विच्छिन्न हो जाने से वह शोक रति की सीमा के बाहर हो गया। अतः वह शोक स्वाधीभाव था। ध्वनिकार का भी कि जी के चित्त में सामनारूप में जो शोक विद्यमान था उसे रस की वरगुण सामग्री प्राप्त हो गई। मृत कौशिकी आलम्भन था और उसके विद्योय से काजर कौशिकी का प दी। कौशिकी का आनन्द इत्यादि अनुभाव था और विषाद इत्यादि उच्छारीभाव थे। इनकी सहायता से अनुभावा के आस्तारन के द्वारा कौशिकी के शोक के साथ काल्पीक जी का

लोचनम्

शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रमयानकाः ।

वीमत्सान्द्रुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य
 तथैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन । अभिधेयमेव सामर्थ्यं
 सहकारिताक्षिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च
 पुत्रजन्महर्षभिक्षयोर्गक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवामौजनाभावविशिष्टपीनत्वानु-
 'शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स और भङ्गुत सशाखे ये आठ
 रस नाट्य में माने गये हैं ।'

यहाँ पर । इस प्रकार स्वशब्द के साथ रस इत्यादि का व्यतिरेकामात्र और अन्वयामात्र
 को जराति के द्वारा दिखानाकर उसी प्रकार उपसंहार दिखायते हैं—'यतश्च' से लेकर 'कथ-
 शिव' यहाँ तक । ('अभिधेयसामर्थ्यादिमत्त्वं' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—कर्मधारय के
 आधार पर और तत्पुरुष के आधार पर । एक के द्वारा शब्द आता है और दूसरे के द्वारा
 अर्थ) अभिधेय ही है सहकारिताक्षिरूप सामर्थ्य अर्थात् शब्द के रसध्वनन करने में विभाव
 इत्यादि । अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ का सामर्थ्य अर्थात् पुत्रजन्मअन्य हर्ष से भिन्न स्वभाव होने
 के कारण जननव्यतिरिक्त और दिन में मौजन न करने की विशेषता से युक्त पीनत्व के द्वारा

सारावली

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, राधा आलय हैं, विहरण काल में झुकी हुई बञ्जुल लता
 उचीन है, वाष्पमवाह, गद्गद कण्ठ, तारस्वर में गायन अनुभाव हैं । इन विभाव और
 अनुभावों की प्रतीति में किसी प्रकार की मलिनता नहीं है । इनके द्वारा रतिभाव की प्रतीति
 होती है । यहाँ पर औत्सुक्य सञ्चारीभाव का प्रत्यायन अनुभावों के द्वारा ही होता है ।
 'उत्कण्ठा से मरी हुई' यह विशेषण अनुभावों के बलपर प्रकट की हुई उत्कण्ठा का अनुवादक
 भाव है । यहाँ पर अनुवाद अर्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभावों का प्रयोग तो उत्कण्ठा
 का आत्सादन करने के लिये किया गया है और 'सोत्वण्ठ' तथा 'उक्त' शब्दों का प्रयोग
 राधा की उत्कण्ठा से बलचरों की उत्कण्ठा को सङ्गति भिन्नाने के लिये किया गया है । यदि
 अनुभावों का अनुवाद करने के लिये सोत्वण्ठ तथा उक्त शब्दों का प्रयोग न किया गया होता
 तो बलचरों के श्लिष्ट पृथक् अनुभाव लिखने पड़ते बिससे एक तो पुनरुक्ति होती दूसरे तन्मयता
 उत्पन्न नहीं हो सकती थी । शब्द के द्वारा अनुवाद करने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होता ।

यहाँ पर अनुभावों के द्वारा भी क्रिमी भाव की अभिव्यक्ति हो और तदावक शब्द का
 उत्पादन भी कर दिया गया हो, उस अभिव्यक्ति में अनुभाव ही कारण होते हैं शब्दजन्य
 आनन्दानुभूति नहीं हो सकती । 'शब्द केवल अनुवादक होते हैं' इसमें यही प्रमाण है कि
 अन्य स्थानों पर भावजन्य आनन्दानुभूति तो होती है किन्तु वहाँ पर शब्द का उत्पादन नहीं
 होता । जैसे 'यद्दमम्य तिलो'कितेषु - ' इत्यादि श्लेषे उदाहरण में । इसके मटिदूत यहाँ पर

छोषनम्

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—‘यावत्पूर्णे न चैतेन लघ्वन्नेव घमभ्यमुम्।’ इति ।
अगम इतिच्छान्दसनाहागमेन । स प्वेत्येषकारणेद्रमाह—नान्य भारमेति ।
तेन यदाह मट्टनायक —

शब्दप्राधान्यमाधित्य तत्र शास्त्र पृथग्विदुः ।
अर्धतरवेन युक्तं तु घटन्त्याख्यातमेतयोः ॥
द्वयोरुणत्वे व्यापारप्राधान्ये कान्यधीमवेत् ॥

इति तदपास्तम् । व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रमनास्वभावस्तथापूर्व-
मुत्तमम् । अथाभिधेय व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यतेत्यावेदितं प्राक् ।

यही हृदयदर्पण में कहा गया है—‘जब तक यह इसके द्वारा पूर्ण नहीं होता तब तक
उसका धमन नहीं करता ।’ ‘अगम’ यह वैदिक ‘अट्ट’ के अगम के द्वारा बना है । ‘बही’
इस ‘ही’ के द्वारा यह कहते हैं कि और आत्मा नहीं है ।’ इससे जोकि मट्टनायक ने
कहा है ।

शब्द की प्रधानता का आशय लेकर पृथक् शास्त्र को जानते हैं, अर्धतरल से युक्त को
तो आख्यान कहते हैं, इन दोनों के गौण हो जाने पर तथा व्यापार की प्रधानता होने पर
कान्यमुक्ति हो जाती है ।

इसका निराकरण हो गया, यदि व्यापार ध्वननात्मक आत्मात्मक स्वभाववाला है तो कोई
नर्द वात नहीं करी ; यदि अमिषा ही व्यापार है तबकि इनकी प्रधानता नहीं होगी वह पहले
ही बतला चुके ।

छारावती

महाहित होने लगता है । इसीलिये हृदयदर्पणकार ने कहा है—‘जब तक कोई व्यक्ति किसी
भाव से पूर्ण रूप से भर नहीं जाता तब तक पप के रूप में वह उसे उद्गीर्ण नहीं कर
सकता ।’ ‘अगम’ में अट्ट का अगम छान्दस है ।

[पाणिनि व्याकरण में ‘न माक्योगे’ सूत्र से ‘मा’ के योग में अट्ट नहीं होता, किन्तु यही
पर अट्ट का अगम कर दिया गया है । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन कविषो
के अन्त करण में वेदमन्त्रों का स्वतः आधिभौव हो जाया करता था उसी प्रकार कविषर
वाम्नीकिक के अन्त करण में इस छन्द का स्वतः प्रस्ताव हो गया । इस प्रकार इस छन्द का
महत्त्व वेदमन्त्र से कम नहीं है । वेदमन्त्र व्याकरण के शास्त्र में पूर्णरूप से नहीं रहते, उनमें
केसो विधि दर्शा जाती है उसी को सिद्ध कर लिया जाता है । इसीप्रकार यहाँ पर भी
व्याकरण के अनुशासन का अर्थकर्मण्य करके अट्ट का अगम कर दिया गया है । यद्यपि यही
पर योग्यभाग के द्वारा हे अम ! अर्थात् एतमीरहित इस सम्बोधन को मानकर के भी काम
चल सकता है तबकि यहाँ पर छोषनकार को यह पप वेदमन्त्र की कोटि में रक्षना है इत्य-
दिये छान्दस अट्ट माना गया है ।]

तारावली

जहाँ जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ रसास्वादन होता है यह भ्रम है और जहाँ जहाँ रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ रसास्वादन भी नहीं हो सकता यह व्यर्थिक है। किन्तु ये दोनों बातें यहाँ पर टाक नहीं सकती। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसास्वादन रस इत्यादि शब्दों के प्रयोग हान पर भी नहीं होता और इन शब्दों के प्रयोग न होने पर भी हो जाता है। अतएव रसास्वादन में रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग कारण नहीं हो सकता भव दूरी का वाचक—जहाँ जहाँ अनुभाव इत्यादि के द्वारा आक्षेप होता है वहाँ रसास्वादन हो सकता है, जहाँ इस प्रकार का आक्षेप नहीं होता वहाँ रसास्वादन हो नहीं सकता यह दोनों बातें ठीक हैं। अतएव रस वाच्य नहीं स्वामिधेयमामर्थ्याक्षिप्त हो पाता है।

स्वामिधेयमामर्थ्याक्षिप्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है—(१) समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् अभिप्रेय या वाच्यार्थ ही वह शक्ति है जिसे बल पर शब्द रस का अर्थ कहता है। आशय यह है कि शब्द की शक्ति होती है अभिप्रेय या वाच्यार्थ। रस के प्रसङ्ग में वाच्यत्व होता है विभाव इत्यादि। इन विभावोक्ति का आशय लेकर शब्द प्रयोग—रसामिव्यञ्जन में वाच्यार्थ का अन्वयिता निश्च हो जाती है। (२) वैयधिकरण तत्पुरुष—अभिप्रेय का सामर्थ्य—वाच्यार्थ की शक्ति है गुण और अलङ्कारों से युक्त तथा रस के अनुरूप वाचकसमुदाय। यह अभिप्रेय सामर्थ्य रस इत्यादि का ध्वनन किया करता है। इस व्युत्पत्ति से रसामिव्यञ्जन में शब्दसद्व्यक्ति की व्याख्या हो जाती है। यह ध्वनन आधार रस इत्यादि का जनक नहीं होता जैसा कि पुत्रजन का समाचार पिता के हृदय में हृष का जनक हुआ करता है, और न रस इत्यादि का अनुमान ही करता है जैसा कि दिन में मोहन न जाने पर भी शूल होना रात्रिभोजन का अनुमान कराया करता है। अतएव ध्वननभार शब्द और अर्थ दोनों का हो सकता है। यहाँ पर रस की वाच्यता के दो पक्ष उठाये गये—(१) रस शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकता है, (२) रस विभाव इत्यादि के प्रसङ्ग में के द्वारा वाच्य हो सकता है। प्रथम पक्ष का स्पष्टन कर दिया और द्वितीय पक्ष का एक रूप में स्पष्टन कर दिया और एक रूप में स्वीकार कर लिया। विभाव अनुभाव इत्यादि रस के जनक या अनुभावर होते हैं इस अर्थ में स्पष्टन कर दिया और ध्वनन कर रहे इस रूप में स्वीकार कर लिया। [प्रतिहार राज के अनुभावर उद्धर ने रसास्वादन के प्रसङ्ग माने थे—स्वाध्यायवाच्यता, रसाक्षेप सशक्ति विभाव या अभिप्रेय के द्वारा ध्वनन। इस प्रकार यह स्वाध्यायवाच्यता ध्वनिमिद्वान्त के प्रतिफल है। इसका उत्तर कुन्तल ने बड़े ही मनोरञ्जक ढङ्ग से किया है। उन्होंने लिखा है कि—हमने तो कभी रस का स्वाध्याय वाच्यता सुनी नहीं। यह तो बड़ा अच्छा है भी इत्यादि शब्दों का नाम लिया और स्वाध्याय का अर्थ और गुणावाच्यता प्रसङ्ग रास्य, सुख, समृद्धि सम्पत्ति इत्यादि को लेकर इन शब्दों

सारावली

यदि अर्थिभाष्यक है तो उसका छन्दन पहले ही बिधा जा चुका है' यह छन्दन भी ठीक नहीं। क्योंकि आस्वादनव्यापार को सभी लोग नहीं समझ सकते उनके लिये उसके बज्जाने में नवीनता विद्यमान है ही। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के बचनों की अधिक पर्यालोचना करना उचित नहीं समझता। यह है दोषितिकार के ध्वन का अनुवाद।

उपर लोचन और दोषितिकार दोनों टीकाओं का आशय मस्तुत किया गया है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक कौश्ल का हो सकता है जो कि मारा गया है, दूसरा शोक कौश्ल का हो सकता है जो कि अपने सङ्घर के विरह से कातर है और तीसरा शोक इस शब्द का सांगोद अवलोकन करनेवाले कविवर काव्यीक का हो सकता है। सङ्घटन सामानिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। कौश्ल का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि कौश्ल आलम्बन है और आलम्बन का भाव रसरूपता को धारण हो नहीं कर सकता। अब रही कौश्ल के शोक की बात। उसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक किदागून्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा इसी में है कि हाथ पैर टीले पद जावें और चेतना शिथिल हो जावे। श्लोकरूप में परिणति सक्रियता का परिणाम है जो शोक जैसे निष्क्रिय भाव में सम्भव नहीं है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जावे तो उसमें भी वैसी ही निष्क्रियता या नावेगी और शोक को श्लोकरूप में परिणति असम्भव हो जावेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक में सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक में रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही लोचनकार का आशय है। इसीलिये उन्होंने लिखा है— आस्वाद के वायुक्त शोक ही कल्प रस को आगता है क्योंकि उचलित होना उसका स्वभाव है।

मट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गौण मानकर व्यापार को प्रधानता में काव्यमृदा माना था। इसपर लोचनकार ने लिखा कि यदि मट्टनायक का व्यापार को प्रधानता से अस्मिन्माय अर्थनाश से है तो उसमें कोई नई बात नहीं और अर्थिभाष्यकार का रण्डन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दोषितिकार ने लिखा था कि 'आम्बान्न की प्रक्रिया सत्रजनसरेष नहीं है अतः उसका बज्जाना आशयक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि मट्टनायक अर्थिभाष्यकार को नहीं मानते। लोचनकार का यहाँ पर आशय है कि यदि अर्थिभाष्यकार की प्रधानता मान ली जावे तो मट्टनायक हमारे ही मन्त्र के ही मन्त्र हैं, वे कार्य देनी नवीन बात नहीं कहते किमती हम न मानते हैं। दोषितिकार ने लोचन के उक्त अर्थिभाष्य को न समझकर ही ध्वनन किया है। शब्द का काम ही यह है कि जो बात

लोचनम्

ऋन्दाघनुभावचर्चणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपद्य करुणारसरूपतां शौकिकशोकम्यतिरिक्त्वा स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारा प्रतिपद्यो रसपरिपूर्णकुम्भोद्यजनवक्षितवृत्तिनि ध्यन्दस्वभाववाग्बिद्यापादिवद्य समयानपेक्ष-त्वेऽपि चित्तवृत्ति-यञ्जकत्वादिति नयनाहृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दछन्दो-वृत्तादिनिपन्थितश्लोकरूपता प्राप्त ।

मा निपाद्य प्रविष्टा स्वमगम शाश्वती समा ।

यत्कौशमिधुनादेकमवधी काममोहितम् ॥ इति ।

इत्यादि अनुभाव की चर्चणा के द्वारा हृदय संवाद तथा तन्मय होने के क्रम से आस्वाद्यमानता को प्राप्त होकर शौकिक शोक से भिन्न करुण रसरूप को जिसका कि सार अपने चित्त की द्रुति का समास्वादन ही है, प्राप्त होकर रस से मरे हुए घटे के छनकने के समान और चित्तवृत्ति के प्रवाह स्वभाववाले वाग्बिद्या इत्यादि के समान संकेत की अपेक्षा न करते हुये चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होने के कारण रस नीति से बिना ही बनावट के अर्थात् बिना ही शुद्धपूर्वक विचार किये हुये 'आवेशरस (वह शोक) समुचित शब्द छन्द वृत्त इत्यादि से नियमित होकर श्लोकरूपता को प्राप्त हो गया ।

'हे निपाद्य ! शान्त बर्षों में तुम प्रतिष्ठा को न प्राप्त हो ओ जो कि कौशमिधुन में काममोहित एक को तुमने मार डाला है ।'

तारावती

का उच्चारण करते ही प्राप्त कर लेंगे । उद्भट ने कुमारसम्भव के उदाहरणों से जो स्वार्थ वाच्यता दिखालाई है उसका भी उद्धर दे दिया गया कि ऐसे स्थानों पर भी रसानुभूति विभावानुभाव इत्यादि के द्वारा ही होती है । स्वार्थ अनुवादक मात्र ही हो सकते हैं ।]

कुछ लोगों ने ठिया है कि 'अभिधेयसामर्थ्यापिप्त' का अर्थ है तात्पर्यार्थिक । तात्पर्यार्थिक ही ध्वननव्यापार है ।' यह व्याख्या करनेवाले वस्तुतत्त्व से सर्वथा अनभिद्य हैं । विभाव अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्यार्थिक का पूर्वज्ञान या तो भेद में हो जाता है या संसर्ग में । (जैसे 'गम् भनव' इस वाक्य में तात्पर्यवृत्ति या तो अन्य क्रियाओं और कर्मों से भेद बट जाती है या कालपन क्रिया के प्रति गो का कर्मत्व बट जाती है ।) यह वृत्ति रस को अनुभूतिगम्य नहीं बना सकती जिसका सार आस्वादन करना ही है । इतना पर्याप्त है अधिक विस्तार को क्या आवश्यक ? मूल में 'इति वृत्तयोऽपि प्रमेणे वाच्यद्वित्र एव' इस वाक्य में 'इति' का अर्थ है हेतु । इसप्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'उक्त कारणों से वृत्तों के भेद रसपनि भी वाच्य से भिन्न ही होगी है । 'वाच्येन स्वस्य सदेव प्रतीति' इस वाक्य में 'इ' शब्द का अर्थ है—'असत्कृत्यकमव्यय में विद्यमान भी कम लपित नहीं होता इस बात का विवेचन दूसरे उद्योत में किया जायेगा ॥४॥

चौथी कारिका में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गई । अब इतिहास के बढ़ाने से भी

ठारावती

यदि अमिमात्मक है तो उसका अर्थ्यन पहले ही किया जा चुका है' यह अर्थन भी ठीक नहीं। क्योंकि आस्वादनव्यापार को सभी लोग नहीं समझ सकते, उनके लिये उसके इतनाये में नवीनता विद्यमान है ही। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के वचनों की अधिक पर्याप्तोचना करना उचित नहीं समझता। यह है दौधितिकार के कथन का अनुवाद।

उत्तर लोचन और दीपिति दोनों टीकाओं का आशय प्रस्तुत किया गया है। वहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक कौशिक का हो सकता है जो कि मारा गया है, दूसरा शोक कौशिक का हो सकता है जो कि अपने सहचर के विरह से कातर है और तीसरा शोक इस घटना का साक्षात् अरुणाकन करनेवाले कविवर बाल्मीकि का हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर आस्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। शीघ्र का शोक काम्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि शीघ्र आत्मन है और आत्मन का भाव स्वरूपता को धारण ही नहीं कर सकता। अब रही कौशिक के शोक की बात। उसका जो शोक स्वरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक जियाण्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा वही में है कि हाथ पैर पीठे पड़ जायें और घेतना शिथिल हो जावे। श्लोकरूप में परिणति सक्रियता का परिणाम है जो शोक जैसे निष्क्रिय भाव में सम्भव नहीं है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जाये तो उसमें भी वेदो ही निष्क्रियता आ जायेगी और शोक को श्लोकरूप में परिणति असम्भव हो जायेगी। मुनि का शोक शून्य शोक नहीं है किन्तु उस शोक में सहानुमति का भी मिश्रण है। यही सहानुमति का मिश्रण शोक में रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही छाबनकार का आशय है। इसीलिये उन्होंने लिखा है—'आस्वाद के उपर्युक्त शोक ही कथ्य रस को आत्मा है क्योंकि उच्छ्लिष्ट होना उसका स्वभाव है।'

मट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गौण मानकर व्यापार को प्रधानता में काम्यरूपता माना था। इसपर छाबनकार ने लिखा कि यदि मट्टनायक का व्यापार को प्रधानता से अमिमाय श्वजनावृत्ति से है तो उसमें कोई नई बात नहीं और अमिमायव्यापार का अर्थ्यन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दौधितिकार ने लिखा था कि 'आस्वादन की प्रक्रिया स्वजनसदेव नहीं है अतः उसका बगलाना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि मट्टनायक श्वजनाव्यापार को नहीं मानते। लोचनकार का यहाँ पर आशय है कि यदि श्वजनव्यापार की प्रधानता मान ली जाये तो मट्टनायक हमारे ही मत के ही जायेंगे, वे कोई नयी नवीन बात नहीं कहते जिसको हम न मानते हों। दौधितिकार ने लोचन के उक्त अमिमाय को न समझकर ही अर्थ्यन किया है। शब्द का काम ही यह है कि जो बात

लोषनम्

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति दुःखेन लोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यामतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्यायिमावात्मककरुणारससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्य-; स्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दबैलक्षण्यकारकः ।

मुनि का शोक है वह नहीं समझना चाहिये । ऐसा होने पर उसके दुःख से वह भी दुःखी हुये इस हेतु को लेकर रस का आभा होना निरवकाश हो जावेगा । दुःखसंतप्त की यह दशा नहीं होती । इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकस्यायिमावात्मक करुण रस के उच्चलन का स्वभाव होने के कारण वही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत स्वभाव सा है तथा (उसका यह स्वभाव ही) दूसरे शब्द (बोधो) से विज्ञापना करनेवाला है ।

तारावली

शोक स्वरूपता को प्राप्त हो गया और क्रमशः तन्मय हो गया । वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वाद केवल चित्त को द्रव्यशीलता के द्वारा ही किया जा सकता था । जिस प्रकार बड़े के अधिक मर जाने से रस छलकने लगता है अथवा जिस प्रकार चित्त के भावनाविभोर हो जाने से विज्ञाप प्रलय इत्यादि होने लगते हैं क्योंकि चित्तवृत्ति का स्वभाव ही उचलित होना होता है; मरण करनेवाला विचारपूर्वक अपने दुःख को प्रकट करनेवाले शब्दों का प्रयोग नहीं करता और न उस प्रलय का वाच्यार्थ ही किसी प्रकार का भाव होता है; किन्तु उस प्रलय के द्वारा असङ्केतित होते हुये भी उस भावना को अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार शोक को भावना के अधिक मर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त से निरन्त्रित होकर कविवर वास्तविक को चित्तवृत्ति श्लोकरूप में परिणत हो गई । इस रचना में विचारपूर्वक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया था, भावनाविभोर होने के कारण उनका प्रस्तुत स्वतः हो गया था । यद्यपि उस रचना में कोई शब्द शोकवाचक नहीं था यद्यपि वह श्लोक शोक को अभिव्यक्त कर रहा था । श्लोक का अर्थ यह था—'हे निशद ! जानेवाले शायद वनों में तुम प्रतिष्ठा को मत्त प्राप्त हो, जो कि कौशिक के बोड़े में काममोहित एक को तुमने मार डाला है' वहाँ पर वह नहीं समझना चाहिये कि कविवर वास्तविक को शोक हुआ । यदि ऐसा समझा जावेगा तो वह बान जाती रहेगी कि रस ही काव्य की आत्मा है । शोकामिभूत व्यक्ति की यह दशा नहीं होती अर्थात् वह न वो दार ही देने लगता है और न श्लोक ही बनाने लगता है । आस्वाद के अनुकूल स्यायोभावात्मक शोक ही करुण रस होता है और उसका स्वभाव ही होता है उचलित होना । यह शोक ही काव्य की आत्मा होता है अर्थात् यह स्वभावतः काव्य का सारभूत तत्त्व होता है । उसका सारभूत तत्त्व होना भी उसे अन्य शाब्दरूपों से पृथक् करनेवाला होता है । आशय यह है कि जब चित्त इस प्रकार को भावना से भर जाता है तब वह एक नहीं सकता और कविता के रूप में

तारावती

'स एव' में 'एव' का अर्थ है कि 'काव्य की भीर कोर आमा नहीं है।' इससे मूढनायक के इस कथन का निराकरण हो गया—'जो शास्त्र शब्द की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है वह और ही प्रकार का शास्त्र (वैदिक शास्त्र) होता है । जो अर्थ शत्रु में युक्त होता है उसे आस्वान कहते हैं और इन दोनों के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता में काव्यसंज्ञा प्राप्त होती है । इस पर मेरा प्रश्न यह है कि कौन सा व्यापार प्रधान होता है ? यदि आत्मका मन्तव्य आत्वादनस्वभाववाले व्य-वनाव्यारार की प्रधानता से है तो हम इसका खण्डन पहले ही कर चुके ।

[यहाँ पर दोषिधिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि शोक एक प्रकार की चित्तशुद्धि होती है । उस चित्तशुद्धि का परिणाम शब्द और अर्थरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये दोषिधिकार ने लिखा है—यहाँ पर परिणाम सांख्यो का बैसा नहीं है । जिसप्रकार सांख्यशास्त्र साकार्यवाद को मानता है जिसका अर्थ यह है कि कारण सदा कार्य में सन्निहित रहा करता है और भवसर पर पदकू सत्ता में भा जाता है । उनका कहना है कि असत् को सृष्टि नहीं होती । इसप्रकार का परिणामवाद यहाँ पर अभीष्ट नहीं है किन्तु यहाँ पर ऐसे परिणाम से मन्तव्य है बैसा कि कहा जाता है 'वृष पुष्य और फल के रूप में परिणत हो गया ।' जिस प्रकार फल केवल कार्य होता है और जो जिसके तत्काल पूर्व होता है वह उसका कारण माना जाता है, इसी अर्थ में यहाँ पर शोक का परिणाम श्लोक माना गया है । इसी विचित्र परिणति के कारण तो स्वयं मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपना आश्चर्य अपने शिष्य माद्व्रात्र के सामने प्रकट किया । छोवन में जो यह लिखा है कि 'मुनि का शोक नहीं समझा जाना चाहिये' यह कथन ठीक नहीं है । स्वयं छोचनकार ने लिखा है कि कौशिक शोक का आत्मन-विभाव है । अतएव यह कहा ही नहीं जा सकता कि शोक कौशिक के अन्दर था । मदीप में लिखा है कि 'आत्वादन सामाजिको को हाता है, अतएव सामाजिकों में ही रस की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिये ।' इससे निम्न होता है कि आत्मन में रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती । (कोई दूसरा सामाजिक यहाँ पर विद्यमान नहीं है ।) अतएव और कोई धारा न हाने के कारण मुनि में ही शोक की कल्पना करनी पड़ेगी । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मुनि का दुःखित मानने पर उनका शोक दुःख से युक्त होगा और यह आत्वादनात्मक काम्य का रूप नहीं धारण कर सकेगा । इसका उत्तर यह है कि रस तो आनन्द विभव है उसके आभा मानने में क्या बाधा हो सकती है ? यद्यपि शौकिक शोक उद्देशक होता है तथापि जब उसे अनौचित्यमात्र प्राप्त हो जाता है तब उसकी आनन्दरूपता समीचीन माननी पड़ेगी । शोक अभी रस कहा जाता है जब उसमें आत्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । मूढनायक की कारिकाओं को उद्धृत कर जो कि छोचनकार ने उसका खण्डन किया है 'यदि व्यापार ध्वननात्मक है तो उसमें कोई नवीनता नहीं आई और

तारावर्ती

व्यभिचारीभाव की भी चर्चणा इस रूप में होती है कि यद्यपि केवल उसमें ही रसास्वादन की परिस्माप्ति नहीं होती और न उसे रस की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाती है जैसी कि स्वायीभाव की चर्चणा के पदवसान में उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है, तथापि वतने से ही यह व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाता है। जैसे—

‘वह नायिका मल को दूसरे नक्ष के अप्रमाण से गिस रही थी, चञ्चल वल्य को बार बार श्पर से श्पर हटा रही थी और पैर के नाखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिससे नूपुरों का शिञ्जाशब्द बषा ही मधुर तथा गम्भीर माह्य पक रहा था।’

यहाँ पर लज्जा भाव को ध्वनि काव्य का प्राण है। रस और भाव शब्द से रसात्मक और भावात्मक का भी संग्रह हो गया। क्योंकि यद्यपि इनमें अत्रान्तर वैचित्र्य होता है तथापि एकरूपता तो होती ही है। ‘रस और भाव प्रधान होते हैं’ कहने का अर्थ यह है कि चर्चणा का पदवसान रस और भाव में ही होता है। इसीलिये ये प्रधान होते हैं। यद्यपि केवल वस्तु तथा अलङ्कार में काव्यरसास्वादन की विमान्ति नहीं होती तथापि दूसरे शास्त्रबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विलक्षणता होती ही है। इसीलिये उचित होने के कारण उन्हें भी काव्य का प्राण कह दिया गया है।

[ध्वन्यालोक की अधिकतर प्राचीन पाठकों में निहत्तसहचरीविरहकाव्यर ‘यह पाठ पाया जाता है और इसी के अनुसार श्लोक में ‘निहत्तसहचरीति विभाव उक्त्वा सहचरी हननोद्भूतेन’ से पाठ पाये जाते हैं। इन पाठों से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने कौश्ली का वध किया था। किन्तु वाल्मीकि रामायण देखने से अवगत होता है कि वध नर कौश्ली का हुआ था कौश्ली का नहीं। वाल्मीकि रामायण में एकम् अथो’ इस पुत्रिज का निर्देश किया गया है तथा श्लोक में कौश्ली के राने की बात बहो गयी है (इन्द्रा कौश्ली शीताम्) इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में स्पष्ट ही ‘पुमांस’ शब्द आया है (उष्मात्तु मिथुनात्के पुमांस पाप निक्षय) इसी आधार पर दोषितिकार ने निहत्तसहचरिविरहकाव्यर ‘यदा कौश्ल्यात्तन्वनित्र’ से पाठ कर दिये हैं। दिव्याञ्जन नाम की पादटिप्पणी में लिखा है ‘अनेक पुस्तकों में निहत्त सहचरी’ यही पाठ पाया जाता है और श्लोक से भी सहचरी का मारा जाना सिद्ध है। अथ सवत्र टेटक का प्रमाद नहीं मान सकते यद्यपि अभिधा से कौश्ल का मारा जाना ही सिद्ध होता है किन्तु अज्ञता से एक अर्थ और निकलता है—राम और सीता के मिथुन में राशयञ्जी निषाद ने सीता का अपहरण किया जो कि मरण से भी अधिक पीड़ा देनेवाला था। इस कारण राम सीता के वियोग से कातर होकर जनरयान में श्पर-व्पर विलम्ब करने लगे। इस अर्थ की अज्ञता होने के कारण कौश्ली का मारा जाना ही उचित प्रतीत होता है। ध्वन्यालोक अज्ञानावृत्ति का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है। अतएव उसी अज्ञानार्थ के आधार पर कौश्ली का मारा जाना उचित दिया गया है।’

लोचनम्

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति । विविधं तत्तदभिन्नप्रतीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रपञ्चेन यच्चारुशब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवम्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतद्विरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—‘सर्वत्र तद्धि काव्यम्यवहाराः स्यादिति’ । निहतसहचरोतिविभाव उक्तः । आकन्दित-शब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणागोचरत्वेनैति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुभूता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा (काव्यत्व का) व्यवहार नहीं होता । आत्मा के होते हुये भी कहीं ही जोष का व्यवहार होता है यह पहले ही कहा जा चुका है । उससे यह बात निरेवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—‘तो सर्वत्र काव्य व्यवहार हो आवेगा ।’ ‘निहत-सहचरो’ इस शब्द से विभाव कहा गया है; आकन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ ‘चर्वणागोचर होने के रूप में’ इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये ।

तारावली

श्लोक में प्रायः अनुभूत और मयुक्त हो उनकी व्यवस्था और प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्प्रान्त व्यक्तियों के सामने रस देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वजनसर्वेष नहीं होती, उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है । अतः यदि वही मट्टनायक ने भी किया तो उसपर अभिनव गुप्त को आपत्ति ही क्या हो सकती थी ? हाँ भरन यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया मट्टनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं । यदि मट्टनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई मनीनता नहीं रह जाती । यही लोचनकार का आशय है ।]

मूल में ‘विविध वाच्य...परिणतः’ इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विविध प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसमयता के कारण, जो कि विविध तत्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले तत्व होते हैं वाच्य, वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चारुता आती है । वाच्यचारुता का अर्थ है अर्थालङ्कार, वाचकचारुता का अर्थ है शब्दाङ्कार और रचना-चारुता का अर्थ है गुण । अर्थात् इन तीनों तत्वों की चारुता रसानुभूत होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यमय अर्थवर्णी होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और विशेष रूप से रसध्वनि) आत्मा का रूप धारण करता है । अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा को सृष्टा होते हुए

ध्वन्यालोक

सरस्वती स्वादु तदयं वस्तु निःस्पन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरत् प्रतिभाविशेषम् ॥ १ ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःस्पन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । यनारिमञ्जतिविचित्रकविपरम्परावाहिनिससारे कालिदामप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चपाथा महाकवय इति गण्यन्ते ।

(अनु०) आत्मादपरिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रकट कर देनेवाली महाकवियों की भारती अलोकसामान्य प्रतिभा विशेष परिस्फुरित होनेवाली प्रतिभा की रसो विशेषता को अभिव्यक्त किया करते हैं जिसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती ॥ ६ ॥

बिना रसध्वनि और भावध्वनि रूप वस्तुतत्त्वं का पहले वर्णन किया जा चुका है उसी के प्रवाह को महाकवियों की भारती प्रकट किया करते हैं जिससे चतुर्दिक् स्फुरित होनेवाली कवियों की प्रतिभा प्रकट हो जाती है और उसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती । यही कारण है कि इतने बड़े ससार में, जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त विविधता के साथ निरन्तर चलती ही रहती है, महाकवियों की श्रेणी में दो तीन या पाँच बड़े कवि ही आते हैं ।

लोचनम्

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्शय स्वसविकसिद्ध-
मन्यतदिति दर्शयति—सरस्वतीति । वाङ्मया मगवतीत्यर्थः । वस्तुतत्त्वेनार्थ-
शब्द तावशाब्देन च वस्तुशब्द व्याचष्टे—निःस्पन्दमानेति । दिव्यमानन्दरस-
स्वयमव प्रस्तुतानेत्यर्थः । यदाह मटरनायकः—

रस प्रकार इतिहासमुख से प्रतीयमान की काव्यात्मता दिखलाकर वह स्वसवेदना सिद्ध भी है यह दिखला रहे हैं—सरस्वती इत्यादि । अर्थात् वाणीरूपा मगवती । वस्तु शब्द से अर्थ शब्द की और तत्त्व शब्द से वस्तु शब्द की व्याख्या कर रहे हैं—निःस्पन्दमाना इत्यादि । अर्थात् दिव्य मानन्द रस को स्वयं प्रस्तुत करती हुई । जैसा कि मटरनायक ने कहा है—

तारावती

ऊपर कविवर वाल्मीकि के श्लोक की श्लोकरूप में परिणति का उदाहरण देकर इतिहास के आधार पर सिद्ध किया जा चुका कि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्मा होता है । प्रस्तुत कारिका में यह निखलाया गया है कि प्रतीयमान अर्थ को काव्यात्मता स्वसवेदन सिद्ध भी है और जो वस्तु स्वसवेदन सिद्ध होती है उस पर किसी को अनुसर्पित दा ही नहीं सकता । प्रस्तुत कारिका का अर्थ यह है कि महाकवियों की वाणी उसी रसध्वनि, भाव ध्वनि, इत्यादि रूप प्रतीयमान अर्थ को प्रवाहित किया करते हैं । सामान्य व्यक्ति वाच्यार्थ के द्वारा ही व्यवहार किया करते हैं किन्तु महाकवियों की वाणी में व्यङ्ग्यार्थ का तोरव झलकना रहता है जिससे सामान्य वस्तु की अपेक्षा कवियों की विशेष प्रकार की प्रतिभा प्रकट होती है । इसके लिये महाकवियों को श्रम नहीं करना पड़ता अपितु वह प्रतिभा

छोवनम्

श्लोकं व्याचष्टे—विविधं । विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीपरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रथम्येन यच्चाख्यव्याख्यालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननमन्नावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतद्विरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—‘सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति’ । निहतसहचरोतिविभाव उक्तः । आक्रन्दित-शब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणगोचरत्वेनेति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के स्वयंज्ञनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा (काव्यत्व का) व्यवहार नहीं होता । आत्मा के होते हुये भी कहाँ ही जोर का व्यवहार होता है वह पहले ही कहा जा चुका है । उससे वह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—‘तो सर्वत्र काव्य व्यवहार ही जायेगा ।’ ‘निहत-सहचरो’ इस शब्द से विभाव कहा गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ ‘चर्वणगोचर होने के रूप में’ इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये ।

तारावली

श्लोक में प्रायः अनुभूत और प्रयुक्त हो उनकी व्यवस्था और प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्प्रान्त व्यक्तियों के सामने रस देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वमनमयेव नहीं होती, उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है । अतः यदि वही मूढनायक ने भी क्रिया तो उसपर अभिनय गुण को आपत्ति हो क्या हो सकती थी ? हाँ मरन यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया मूढनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं । यदि मूढनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेंगे हैं तो उनके व्यापार में कोई नवीनता नहीं रह जाती । यही छोवनकार का आशय है ।]

मूल में ‘विविध वाच्य...परिणतः’ इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विचित्र प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसप्रवणता के कारण, जो कि विचित्र तत्त्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले उदाहरण होते हैं वाच्य, वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चाक़ता आती है । वाच्यवाक्यता का अर्थ है अर्थात्लङ्कार, वाचकचाक़ता का अर्थ है शब्दालङ्कार और रचना-चक़ता का अर्थ है गुण । कहाँ पर इन तीनों तरकों की चाक़ता रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यमया अर्थवती होती है और उस काव्य का वही अर्थ (स्वहृदयार्थ और विभिन्न रूप से रसधरि) आत्मा का रूप धारण करता है । अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा की सृष्टा होते हुए

लोचनम्

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमयत्तं वक्ष्यम् । अभिव्यक्तं परिस्फुरन्त
मिति । प्रतिपत्तन् प्रति सा प्रतिमा नानुमीयमाना अपि तु वदावेगेन भास
मानत्वर्थं । यदुक्तमस्मदुपाध्यायेन मट्टतौतेन—'नायकस्य कवे प्रोक्तु
समानोऽनुभवस्ततः ।' इति । अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या विरोधो
रसावेशवैद्यमसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनि — 'कवेरन्तर्गतं भावम्'
इति । येनति । अभिव्यक्त्येन स्फुरत्या प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगग
नेति यावत् ॥ ६ ॥

इतसे हिमालय का समस्त वस्तुगतता बतला दी गई है । 'परिस्फुरित हाने गठे को
अभिव्यक्त करती है अर्थात् प्रतिपत्ताओं के प्रति वह प्रतिमा अनुमानव्यवस्था नहीं जाती है
अपितु रसावेश से प्रकाशमान होती है । जैसा कि हमारे उपाध्याय मट्टतौत ने कहा है—
'उससे नायक, कवि और आठा का समानानुभव होता है ।' प्रतिमा अपूर्व वस्तु निर्माण में
समय प्रज्ञा को कहते हैं । उसकी विशेषता का अर्थ है रसावेश के वैद्य का सौन्दर्य उपा
तद्रूप काव्यनिर्माणक्षमता । जैसा कि मुनि ने कहा है— 'कवि के अन्तर्गतभाव को
'चित्तसे' अर्थात् अभिव्यक्त होनेवाले तथा स्फुरित होनेवाले प्रतिमाविशेष को निमित्त बनाकर
महाकवित्व की गणना होती है ॥ ६ ॥

तारावती

समय पृथगरूपी गाय से प्रकाशमान रत्न और औषधियाँ दुही गईं उस समय दुहने में निपुण
सुमेध दुहनेवाला या और सब बवतों ने हिमालय को बध्ना बनाया था' हिमालय को बध्ना
कहने का बालिगास का आशय यही है कि हिमालय ही सारभूत प्रधान रत्नों और औषधियों
का पात्र है । जिस प्रकार बछड़े का ही उत्तम दूध मिलता है वसी प्रकार काव्य रसिक को
ही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है योषी को नहीं ।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्यरसिकोक्त उस प्रतिमा का अनुमान प्रमाण
के आधार पर नहीं जान सकते किन्तु उनके हृदयों में रसमिनिवेश होता है और उनमें
आस्वास्न की क्षमता होती है । अतएव वह रस सङ्ग्रहों के हृदयों में स्वयं प्रतिभासित होने
लागता है । कवियों के समान रसिकों में भी सङ्ग्रहण अवैध होती है । श्लोकित्ये अभिनव
गुप्त के उपाध्याय मट्टतौत ने लिखा है—'कविता को सबसे बड़ी सफलता यही में है कि
उसके द्वारा यह प्रतीत हाने लगे कि किसी मात्र को नायक ने जिसनी शम्भोला के साथ
अनुभव किया हागा कवि को भक्ततामा ने भी उमे वनती ही शम्भोला के साथ अनुभव किया
और वह पाठकों दर्शकों अथवा श्रोताओं को भी उमी गहराई तक पहुँचाने में समर्थ हो सक्ता
है । प्रतिमा शब्द का अर्थ है अपूर्व वस्तु के निर्माण में समान बुद्धि । उसकी विशेषता है रस
के साक्षात्कार के लिए अनुक्त निर्नलता के द्वारा सौन्दर्यवय काव्यनिर्माण करने की शक्ति ।

लौचनम्

ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेद प्रतिपादित न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतबलुक्तं भवतीत्याशङ्क्याम्युपगमनैवोत्तरमाह—
प्रतीयमानस्य चेति । अन्यभेदो वस्त्वलङ्कारात्मा । भावप्रज्ञेन व्यभि
चारिणोऽपि चण्यंमात्स्य तावन्मात्रविधान्तावपि स्याद्विचित्रापर्यवसानोचित-
रसप्रतिष्ठाननवाप्यापि प्रागन्व भवतीत्युक्तम् । यथा—

नस नत्तामेग विधृषन्ती विवर्तयन्ती बलय विलोलम् ।

आमन्त्रमासिचितनूपुरेण पादेन मन्द सुवमाञ्जितन्ती ॥

इत्यत्र लज्जामा । रसभावच्छेदेन च तदामासतःप्रसामावपि सगृहीता-
वेव, भवान्तरवैचित्र्यमपि तदेकरूपत्वात् । प्राधान्यादिति । रसपर्यवसाना
दित्यर्थः । तावन्मात्रविधान्तावपि चान्यशाब्दवैषम्यकारित्येन वस्त्वलङ्कार
ध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुद्भूतमितिभावः ॥ ५ ॥

आत्मा प्रतीयमान रूप है उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है एक रसरूप
ही नहीं और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है । यह उदाहरण करके लौचन
के साथ उतर दे रहे हैं—प्रतीयमानस्य च इत्यदि । अन्य भेद वस्तु तथा आङ्कुर रूप है ।
मात्राब्द के प्रयोग से यह कहा गया है कि वरचणोत्तर स्निग्धरीमत्र की भी प्रत्यक्षता
होती है । यद्यपि चण्ये मे ही चर्चया की विधानि नहीं होती और स्याद्विचित्रया परवसान के
बोध्य रस को प्रतिष्ठा उसे नहीं भी प्राप्त होती है । जैसे—

‘नर से नराय को विपरीत हुए, चषण्ड वच्य को शर उतर हान्ते हुए, मन्द
पिङ्गल से परिपूर्ण नूपुरोत्तमे पैर से धीरे धीरे मूनि को कुरेती हुई ।’

यहाँ पर लज्जा का । रस और मात्र शब्द से उनके अन्तर्गत और उनके अन्तःसगृहीत
ही हो गये हैं, क्योंकि अन्तर वैचित्र्य होने हुये भी उनमें एकरूपता होती ही है ।
‘मात्रान्वय’ का अर्थ है रसरसतान के कारण केवल अपने में विभक्ति न होने पर भी तथा
दूसरे अन्तरों से वैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण अन्वय होने से वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि
का भी अन्वय बतला दिया है ।

तारावती

(प्रल) प्रतीयमान अर्थ वाच्य की आत्मा है, उसके तीन भेद किये गये केवल रस ही
नहीं । इस उदाहरण से रस का ही आत्मा बतलाया गया है, कि प्रतीयमान अर्थवाच्य की
आत्मा क्या कहा गया है ? (उतर) इसी अन्तः का उतर देने के लिये अलङ्कार ने लिखा
है कि ‘यद्यपि प्रतीयमान के अन्य भेद देखे जाते हैं तथापि उनमें प्रमुख रस तथा मात्र ही
होते हैं, अन्तःसगृहण के रूप में वही का उल्लेख किया गया है । अन्य भेद होते हैं वस्तु
तथा आङ्कुरों की ध्वनि । रस से एक मात्र ध्वनि करने का अन्वय यह है कि कहीं-कहीं

ध्वन्यालोक

सोऽर्थो यस्मात्कवल काव्याथतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवा सावय स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीति स्यात् । अथ च वाच्य वाचकलक्षणमात्रकृतध्रमाणा काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुक्तानां स्वरध्रुत्वादिलक्षण मिवाप्रगीताना गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावयं ।

(अनु०) इन दोनों में भेद श्लोचिये है कि स्वरूप ध्वनि का गान केवल काव्यय द्वारा वेत्ताओं को ही होता है । यदि यह स्वरूप अथ वाच्यरूप होता तो उसको भी प्रतीति वाच्य और वाचक के परिज्ञान मात्र से ही हो जाया करती । किन्तु देखा यह जाता है कि जिस प्रकार गाथविद्या न जाननेवाले (न तो स्वयं ही गानविद्या की योग्यता रखनेवाले और न दूसरों के गान का मन समझने वाले) स्वरध्रुति इत्यादि गान विद्या के अङ्गों के लक्षण नहीं जान पाते वही प्रकार जिन्होंने वाच्य और वाचक के जानने में ही अपना सारा समय नष्ट किया है और वसा में परित्यक्त करते रहे हैं तथा वाच्यार्थ को सीमा से परे काव्यतत्त्वार्थ की निरन्तर चर्चणा से जो लोग विमुक्त रहे हैं उन लोगों को अर्थार्थ वा कभी साक्षात्कार ही ही नहीं सब ठा ।

लोचनम्

योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यतिरेकज्ञानवस्तुचर्चणा तत्र विमुक्तानाम् । स्वरा यदजादय सप्त । श्रुतिनाम शब्दस्य ब्रह्मलक्षण्यमात्रकारि यद् रूपा तर तत्परिमाणा स्वरतदन्तरात्मोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिधा । आदिशब्देन ज्ञाप्यशक्यमात्राग भाषाविभाषान्तरमापादेशीमार्गा गृह्यन्ते । प्रकृत गीत गान येषां ते प्रगीता , गानु वा प्रारब्धा इत्यादिकर्मणि च । प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते ॥७॥ है । काव्य वा तत्त्वज्ञान को अर्थ उसकी भावना अर्थात् निरन्तर वाच्य से विन्नरूप में निरन्तर चर्चणा उसमें जो विमुक्त हैं । शब्द इत्यादि सात स्वर होते हैं । श्रुति उसे कहते हैं जिसका परिमाण उतना ही हो जितना शब्द की विरक्षणतामान उन्नत करनेवाला रूपान्तर होता है और जो स्वर तथा उसके मध्यवर्ती दोनों के भदों के द्वारा कल्पित की हुई २२ प्रकार की जाती है । आदि शब्द से जाति अङ्क मात्रा तथा विभाषा अन्तरमाया देशा मार्ग इत्यादि का ग्रहण होता है । प्रगीत शब्द का अर्थ है प्रकृत गीत अर्थात् गान है जिनका अर्थ जिन्होंने गाना प्रारम्भ किया है इस अर्थ में आदिशब्द में एक प्रारम्भ हो जाता है, प्रारम्भ स वही पर फलपर्यन्तता लक्षण होती है ॥ ७ ॥

सारावली

प्रतीति नहीं जाती अर्थात् उसके अर्थगमन के लिए काव्यतत्त्ववेत्ता होना आवश्यक है । आलोक कार का कहना है कि जिस प्रकार सङ्गीत के स्वर को गाथर्व विद्या जाननेवाले ही जान पाते हैं वही प्रकार अर्थार्थ को भी काव्यतत्त्ववेत्ता ही जान पाते हैं । यह भी एक प्रमाण है जो वाच्य और अर्थार्थ के भेद को सिद्ध करता है । कारिका में वेपथ इस विद्या का दो बार

सारावली

पता होता है कि टीकाकार रामसोतापरक व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते आये होंगे और सर्वसाधारण में यह धारणा बन गई होगी कि कौश्लमिथुन में एक को मारने का अभिप्राय सीता का अग्रहरण रूप कार्य है जिसके लिये कवि ने रावण के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इसी सामान्य धारणा के कारण किसी लेखक ने जान-बूझकर वृत्तिग्रन्थ को भी बदल दिया और छोचन में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिया। वही परमगाथा या शांति दूसरे लेखकों ने भी किया। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि ध्वनिका का मन्तव्य शोक की श्लोक रूपता में परिपत्ति का कथन करना ही है उसमें ही या पुरुष किसी का भी मारा जाना समान महत्त्व रखता है। रामायण को क्या के आधार पर दोषितिकार का माना हुआ पाठ ही ठीक रहा है।

दोषितिकार ने व्यङ्ग्यार्थ को प्रतिपत्ति के लिये 'मानिवाद' इस श्लोक का एक टीका के आधार पर एक नया अर्थ दिया है—'हे मानिवाद ! (लक्ष्मी के निवास भगवान् रामचन्द्र जी) तुमने निरन्तर वर्षों में प्रतिष्ठा प्राप्त की। क्योंकि ब्रह्मा (कुटिलगामिनी वैकसी रागसी) के पुत्र रावण और उसकी पत्नी मन्दोदरी ने काममोहित रावण का वध किया।' किन्तु इस भाष्य के मानने में कई आपत्तियाँ हैं—एक तो अर्थ करने में यह अभिप्रेयार्थ ही हो जाना है, इसको व्यङ्ग्यता जाती रहती है। दूसरी बात यह है कि इस अर्थ में राम के उपाह्व के प्रति वाल्मीकि जी की चिन्तित का विरकारण तो प्रतीत होता है किन्तु रावणवध के कारण शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती। तीसरी बात यह है कि यदि अस्तुत और अमस्तुत का उपमानभेदभाव स्थापन किया जावे तो राम को निवाद को उपमा देनी पड़ेगी जो कि सर्वथा अनुचित है। यदि कामाग्र होने के कारण रावणवध का औचित्य सिद्ध किया जावे तो मिथुन का उल्लेख अर्थ हो जावेगा और यदि मिथुन का उल्लेख कामान्धता का साधक हो तो रामकर्तृवध अनुचित हो जावेगा। अतएव यह अर्थ सर्वथा अमान्य है। रामायण से पुत्रवध या मारना ही सिद्ध होता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये कौश्ल का पुस्तक अतिप्रिय माना जा सकता है। कवि का साध्य केवल विवेक से ही है।

आचार्य श्री विवेकचर जी ने नई व्याख्या का सहारा लिया है—'निहतसहचरीविरह कातरकौश्लमन्दजनित' की व्युत्पत्ति रहने इस प्रकार की है—'निहत सहचरीविरहकातर आसी कौश्ल निहतसहचरीविरहकातरकौश्ल, तदुद्देश्यक कौश्लिकृतौष्यम् आत्रन्द तत्रजनित' श्लोक यह समाधान तो अच्छा है किन्तु इससे पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। उक्त व्याख्या से आलोचक का तो समर्थन हो गया, छोचनकार ने 'निहतसहचरीणि विभाव उक्त' लिखा है। इसके लिये आचार्य जी ने 'निहतसहचरीत्यादिग्रन्थेन' यह कर दिया है। किन्तु इस ग्रन्थ से केवल विभाव ही नहीं बनलाया गया है अनुभाव का भी उल्लेख किया गया है दूसरी बात यह है कि 'सहचरीहननोद्गत' में आचार्य जी को पाठभेद का ही सहारा लेना पड़ा है। अतः मेरी समझ में सर्वत्र पाठभेद स्वीकार कर लेना ही अच्छा है।]

सारासरी

यहाँ पर आलोचकार की सम्पादन कृष्ण बटिल सी हो गई है। आलोचकार का आशय यही सात होता है कि जिस प्रकार केवल पुस्तकों से सङ्गीतशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन कर लेने से सङ्गीत का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता उसके लिये सङ्गीत रसास्वादन के अभ्यास और श्रुति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार साम्प्रदायिक के ज्ञान के लिये परिश्रम करनेवाले व्यक्ति कभी साम्प्रदायिक साक्षात्कार नहीं कर सकते इसके लिये साम्प्रदायिक का अभ्यास नैपुण्य अपेक्षित होता है। यहाँ पर दो पाठ प्राप्त होते हैं—किसी किसी पुस्तक में 'मगीतानां' पाठ है और किसी किसी में 'अमगीतानां' यह पाठ है। दोषितिकार ने 'मगीतानां' इस पाठ को ही शुद्ध माना है और उसका अर्थ 'उत्कृष्ट कोटि का गान' वरके उसकी सङ्गीत दो प्रकार से विभाजित है—(१) केवल गानवर्षविद्या के लक्षण को जाननेवाले जिस प्रकार उत्कृष्ट कोटि के गीतों के स्वर श्रुति इत्यादि स्वरूप को नहीं जान पाते। (२) जिस प्रकार गानवर्षविद्या के जाननेवाले स्वर श्रुति इत्यादि को समझ लेते हैं उसी प्रकार शब्दावधानमान से ही लोग काव्य के रस को नहीं जान पाते। यह स्थिति एक पृथक् है और इसमें 'अमगीत' शब्द की सङ्गीत ठीक नहीं बैठती। इसके प्रतिशूल लोचनकार ने 'मगीतानां' शब्द में बहुव्रीहि समास मानकर दोनों शब्दों की सङ्गीत बैठा दी है। मगीत शब्द का अर्थ है जो लोग प्रकृत रूप में गानविद्या को जानते हैं और अमगीत शब्द का अर्थ है—'जो लोग रस विद्या को नहीं जानते।' यदि केवल 'मगीतानां' पाठ माना जावे तो यहाँ पर एक प्रत्यय कर्ता में मानना पड़ेगा। पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'क' प्रत्यय कर्म में हुआ करता है किन्तु यदि कर्म का अभी मारम्भ हो किया गया हो तो कर्ता अर्थ में भी क प्रत्यय हो जाता है। 'आदिकर्मणि क कर्त्तरि च' पा० ६० ११।७।११ अतएव मगीत शब्द का यहाँ अर्थ हो सकता है 'गानविद्या का मारम्भ करनेवाला।' इस प्रकार लोचनकार के मत में 'अमगीतानां' तथा 'मगीतानां' दोनों शब्दों का अर्थ 'गानविद्या का पूर्ण ज्ञान रखने वाले' यही होता है। वस्तुतः लोचनकार का ही मत ठीक है क्योंकि मरुतु में 'शब्दावधानसासनमान' और 'काव्यरत्नस्य' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। अमगीत में भी दोनों का प्रतिरूप होना चाहिये। अतएव गानवर्षविद्या का अर्थ है 'गानविद्या का शुद्ध ज्ञान रखनेवाले।' और 'अमगीतानां' का अर्थ है 'जिन्होंने गीत के रसास्वादन का ठीक परिचय प्राप्त नहीं किया है।' जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को गानविद्या का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार जो साम्प्रदायिक नहीं हैं उन्हें भी केवल साम्प्रदायिक के ज्ञानमान से ही साम्प्रदायिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मारम्भ से कर्तव्यवत्ता सम्पन्न होती है।

बोधनम्

धाग्धेतुर्दुग्धं पृतं हि रसं पद्मालतृष्णया ।

तेन नास्य समः स स्याद् दुग्धते योगिभिर्हि सः ॥

मदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या यो योगिभिर्दुग्धते । अत एव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य चरुं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोग्धक्षे ।

मास्वन्ति रत्नानि महौपधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुदुर्धरित्रीम् ॥

बन्धोरूपो धेनु (सद्वद्रूपी) बच्चे को पृष्णा से रस (दिव्य) रस को प्रवाहित करती है । अतः इसके समान वह नहीं हो सकता जो योगियों द्वारा दुहा जाता है ।

रस (रस) के आवेश के बिना ही बन्धुकार के साथ जो योगियों द्वारा दुहा जाता है ।
अथवा—

'दुहने में रस सुमेरु के दोग्धा रूप में स्थित रहने पर त्रिस (हिमालय) को सब पर्वतों ने बन्धु रूप में बन्धित कर पृथु के द्वारा बतलार हुई पृथ्वी से प्रकामान्तरण और महती शक्तियों को दुहा ॥'

तारावली

रसं हो पुरित होती है । कारिका में वापी के लिये सरस्वती शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है कि कवियों को वापी देवी के समान पूजनीय होती है । कारिका के 'अर्ध' शब्द का आशय है ब्यहृपार्थ अर्थात् रस बस्तु और अलङ्कार, और बस्तु शब्द का अर्थ है सार । रसमकार अर्धबस्तु शब्द का अर्थ है ब्यहृपार्थ का सार । श्लोकिये आलोककार ने अर्थ के लिये बस्तु शब्द का प्रयोग किया है और बस्तु शब्द के लिये सत्त शब्द का प्रयोग किया है । कारिका का निःसन्देहाना शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसका आशय यह है कि महाकवियों को वापी दिव्य आनन्द रस को स्वयं प्रवाहित करने लगती है । जब कवि का अन्तःकरण किसी मात्रा से भर जाता है और वह आनन्द हृदय में समा नहीं सकता तब रस, प्रवाहित होने लगता है । आनन्द योगियों को भी जाता है, किन्तु योगियों के आनन्द की अपेक्षा कवियों के आनन्द में एक मौनिक अन्तर है जिसको मूढादक ने इस प्रकार समझाया है—'कविभारती एक दुधारू गव है । जिस प्रकार गव अपने बच्चों की गुहा गान करने के लिये अपने दूधों से स्वयमेव दूध बढ़ाने लगती है उसी प्रकार रसिकों को रसमन्थिनी गुणा शान्त करने के लिये कविभारती रसरूपी दूध को स्वयमेव प्रवाहित करने लगती है । योगीश्वर रामानुजाचार के लिये साधना का बड़ा सहकर जिस आनन्द रूपी दूध को दुहते हैं उसको अपेक्षा रसिकों के लिये स्वयं मन्तुत दुग्धा कविभारती का रसरूपी दूध बड़ी अधिक वन्द्य होता है ।' योगीश्वर जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसमें रसमेव नहीं होता अर्थात् उन्हें बन्धुकार के साथ योगसाधना से वह आनन्द प्राप्त होता है । वसुकी स्वयं मन्तुत आनन्दरूपी दूध से दुहना ही क्या हो सकती है ? श्लोकिये कविदास ने कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन करते हुये लिखा है—'राज्य पृथु के अवशेष से जिस

छोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतस्फुरति तथापादमित्थमिति वितोषतो निरूप्यमाण सहस्रशास्त्री भवति । यथोक्तमस्मत्परमगुरमि श्रीमदुत्पलपादै —

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनयस्तन्मया स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोहसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तु यथा ।

स्योक्तस्यैव सधानवेक्षितगुण स्वाग्मापि विद्मेश्वरो
नैवाल निजबैभवाय तदिय तप्यग्यमिज्ञोदिता ॥ इति ॥

इस मीति से यद्यपि यह स्वय ही इनके लिये परिस्फुरित होता है तथापि यह इसी प्रकार का है यह विशेष रूप से निरूपित किये जाने पर सहस्र शास्त्रियों में विमर्क हो जाता है । मैसा कि हमारे परम गुरु श्रीमान् उत्पल रात्रदेव ने कहा है—

‘विभिन्न उपायों से भार्यना किया हुआ मी तन्वी के निकट स्थित मी बाल्य लोकमान्य रूप में न पहिचाना हुआ जित प्रकार रमण के लिये नहीं होता, इसी प्रकार स्वाग्रूप में स्थित मी विद्येश्वर न देखे हुये गुणोंवाले होकर लोक के सम्य अपने वैभव के लिये नहीं ही समर्थ होते हैं इसलिये वह इस प्रकार की उसको मत्यभिज्ञा कही गई है ।’

धारावती

का अर्थ होगा—‘महाकवि को इस प्रकार के श्रव्यार्थ और व्यञ्जक शब्द का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिये । यदि दोषपट्टी मानी जावेगी तो ‘सद्दये’ इस शब्द को जोड़कर इसका अर्थ हो जावेगा—महाकवि के इस प्रकार के अर्थ और शब्द का प्रत्यभिज्ञान सद्दयों द्वारा किया जाना चाहिये । सभी लोग ऐसे ही शब्द और अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करने का प्रयत्न किया करते हैं । इस प्रकार सद्दयों के प्रयत्न की वान सद्व्यव दह को सिद्ध कर दिया गया कि श्रव्यार्थ की प्रधानता में सद्दयों के हृदय ही प्रधान है और उसकी प्रधानता लोपसिद्ध हो जाती है । साथ ही नियोगार्थक यद् प्रत्यय के प्रयोग से कविनिष्ठा मी प्रकट हो जाती है ।

यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा शब्द को मलीमति समझटना चाहिये । प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है जिमी पुरानी वस्तु को पहिचान लेना । यहाँ पर कहा गया है कि ‘महाकवि को चाहिये कि श्रव्यार्थ और व्यञ्जकशब्द को पहिचान ले ।’ अब प्रश्न यह उठता है कि जब कवि स्वय ही शब्द और अर्थ का जनक है तब वह उसे मलीमति पहिचान ले यह करने का क्या आग्य है । इसका उत्तर यह है कि कवि श्रव्यार्थ और व्यञ्जकशब्द का अन्व नहीं होता अपितु हम प्रकार शब्द और अर्थ स्वय स्फुरित हुआ करते हैं । द्विती ने कहा है —

‘जिमी प्रतिभाशाली कवि का काव्य सयोगवग कमी ही बन जाता है ।’

आगत यह है कि काव्य का स्फुरण स्वय ही होता है, प्रयत्नपूर्वक गमकी रचना कमी

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतावशैरेव केवलम् ॥ ७ ॥

(अनु०) प्रतीयमान अर्थ को सच्चा सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रमाण यह है—

वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशासन और अर्थशासन अर्थात् व्याकरण और कोश के द्वारा ही नहीं जाना जाता, किन्तु वह केवल काव्यतत्त्ववेत्ताओं के द्वारा जाना जाता है ॥ ७ ॥

लौचनम्

इदं चेति । न केवल 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि चाख्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावन् । वेद्यत इति । न तु न वेद्यते, येन न स्यादिति भावः । काव्यस्य तत्त्वभूतो

'इदं च' इत्यादि । केवल 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' इत्त कारिका से सूचित स्वरूप और विषयभेद ही नहीं होते भिन्नसामग्रीवेद्यत्व मो वाक्यव्यतिरिक्तत्व में प्रमाण है । वेद्यते इति । निवेदित नहीं किया जाता है यह बात नहीं है जिससे इसकी सच्चा सिद्ध न हो यह आशय

सारावती

काव्यपरिशोद्धको के लिये भी सत्साधन के निमित्त प्रतिमा की आवश्यकता है । इसीलिये भरत मुनि ने भाव की परिमाणा करते हुये लिखा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को जो मादित करता है उसे ही भाव कहते हैं ।' दो चार या पाच छह महाकवियों के होने की बात कहने में आलोककार का आशय यह है कि महाकविपद को प्राप्ति के लिये सुरम्यशोद्ध प्रतिमा-विशेष की व्यक्ति-भेदित हो नहीं किन्तु अनिवार्य है । राजशेखर ने लिखा है :—

मुक्तके कवयोऽनन्ता मरण्ये कवय शतम् ।

महाप्रबन्धे तु कविरैको द्वौ यदि वा त्रय ॥

सारस्वती के कर्तृत्व का आशय यह है कि अर्थवस्तु की सघटना सारस्वती स्व ही कर देनी है, इसके लिये कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । स्वयं ग्रन्थकार ही चतुर्थ उद्योत में कहेंगे :—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु मुक्तवे

सारस्वत्येवैषा घटयति कथेष्ट मगवती ॥

चतुर्थ कारिका 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव ...' में यह दिखलाया जा चुका कि वाक्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद होता है और विषयभेद भी होता है । ५ वीं कारिका में इतिहास के प्रमाण से शब्दार्थ की सच्चा सिद्ध को गई और छठी कारिका में उसे स्वतन्त्रनासिद्ध बतलाया गया । प्रस्तुत कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि वाक्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की महक सामग्री में भी भेद होता है । कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्यार्थ की प्रतीति शब्दानुशासनज्ञानमात्र से हो जाती है इस प्रकार केवल उठने से ही व्यङ्ग्यार्थ की

अभ्यासलोक

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपादाने कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जन ।

तदुपायतया तद्दर्थे वाच्ये तदास्त ॥ ९ ॥

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया । नहि दीपशिखामन्तरेणलोक सम्भवति । तद्द्वयव्यञ्जकमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्ये ऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शित ॥ ९ ॥

(अनु०) अब यहाँ पर यह दिखानाया जा रहा है कि यद्यपि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक की प्रधानता हाथी है फिर भी कविगण वाच्यवाचक वा ही पहले उपादान करते हैं । यह जो ठीक ही है—जिस प्रकार लोगों को भावश्यकता तो किसी वस्तु के अवलोकन की होती है और प्रयत्न करते हैं दीपशिखा के लिये । क्योंकि दीपशिखा वस्तु प्रत्यक्ष वा उपाय है, इसी प्रकार कवियों को अभीष्ट होता है व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन किन्तु उसका उपाय होने के कारण उन्हें वाच्य अर्थ के लिये भी प्रयत्न करना पड़ता है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार आलोक वा इच्छुक होते हुए भी कोई व्यक्ति दीपशिखा में प्रयत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है, उसके अभाव में आलोक हो सकना सम्भव नहीं है—इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति की इच्छा रखनेवाले कवियों को भी वाच्यार्थ के लिये उद्योग करना पड़ता है । यहाँ पर प्रतिपादक (वला) कवि का व्यङ्ग्यार्थ के प्रति किस प्रकार का व्यापार होता है यह दिखलाना गया ॥ ९ ॥

सौचनम्

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्वाच्यस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरदोऽयं प्राधान्यं साध्यं हेमचन्द्रिनिदर्शयति—इदानीमित्यादिना । आलोकनमात्रात् घनितावदनारविन्दार्थं विलोकनमित्यर्थे । तत्र घोषायो दीपशिखा ॥ ९ ॥

निरस्तदेह प्रथम उपादान विषय हुआ होने के कारण वाच्य, वाचक तथा वाच्यवाचकमार्ग वा ही प्रधानता हाता है यह जागृता करके उपायों का ही प्रथम उपादान हाता है हम अभिप्राय से प्राधान्य को सिद्ध करने में यह हेतु विशुद्ध है यह दिखला रहे हैं इदानीम् इत्यादि के द्वारा । आलोक का अर्थ है आलोकन अर्थात् साक्षात् दान अर्थात् घनितावदनारविन्द इत्यादि का अवलोकन । उसमें उपाय है दीपशिखा ॥ ९ ॥

सारावती

हम घनि शब्द की व्युत्पत्ति कर्तृवाचक मध्य के द्वारा (घनतीति घनि) यह करेंगे तब व्युत्पत्ति करनेवाला अन्वय शब्द घनि का अर्थ होगा । अब हम इसकी व्युत्पत्ति कर्तृवाच्य द्वारा (घन्यत् यद्) करेंगे तब इसका अर्थ होगा 'जो घनित किया जावे' अर्थात् अन्वयार्थ ।

वारावती

प्रयोग किया गया है। पूर्वाभ के प्रयोग का आशय यह है कि व्यंग्यार्थ को शब्दानुशासन और अर्थानुशासन के धान के बल पर नहीं जाना जा सकता। इससे यह दृढ़ता हा सकती थी कि जो वस्तु शब्दार्थानुशासन के आशय से अवगत नहीं होती उसकी सत्ता हा सन्दिग्ध हा जाता है। इसी तरह उच्यार्थ में 'वेद्यते' कृपा का पुन प्रयोग कर यह बतला दिया गया कि काव्य शरवेष्याओं को उसकी प्रतीति होती है अत उसका अन्वय नहीं हो सकता। केवल साम ग्रीमेद से वस्तु को भिन्नता सिद्ध होती है। साहित्यदर्पण में एक ही कारिका में वाच्य और व्यङ्ग्य के भेदक तन्वों को गिना दिया गया है—

शब्दस्वरूपसव्यानिभिरकार्यप्रतीतिक्राणानाम् ।

आशयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिपद्यते व्यङ्ग्ये ॥५-२॥

यहाँ पर काव्यशरवेष्या कहने से यह नहीं समझना चाहिये कि अधिकारी-भेद का इन कारिका में उल्लेख है। यहाँ पर आशय केवल इतना ही है कि वाच्यार्थदान में करणमूल सामग्री शब्दार्थानुशासन धान है और व्यंग्यार्थ धान में सामग्री सद्ददयता इत्यादि है। 'काव्य के शरमूल अर्थ की भावना से जो लोग विमुक्त हैं' इस वाक्य में भावना का अर्थ है— 'वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की निरन्तर चर्चणा करना।'

आलोचकार ने गन्धर्व विद्या जाननेवालों का दृष्टान्त दिया था। उसकी व्याख्या करते हुये छोचनकार ने स्वर भृति शब्दादि परिभाषिक शब्दों का परिचय दिया है। अत अनपेक्षित होते हुये भी इन परिभाषाओं का सक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। विस्तृत विवे चन सङ्गीत की पुस्तकों में प्राप्त होगा। प्राणवायु और शरीररग्नि के संयोग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। यह नाद विभिन्न नादियों से अभिव्यक्त होता है और नादीभेद से इसके २२ प्रकार हो जाते हैं। इन्हीं प्रकारों को भृति कहते हैं। इन भृतियों से ७ स्वर उत्पन्न होते हैं। भृति शब्द का सामान्य अर्थ है जो सवगगोचर हो और स्वर शब्द का अर्थ है—जो श्रोता के चित्त को निरपेक्ष भाव से स्वतः अनुरजित कर दे। ये स्वर ७ होते हैं—बद्ध, च्यम, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में 'सरिगमपधनी' भी कहते हैं। भृतिर्था परस्पर भेदनात्र करनेवाली होती हैं, उनका परिमाण बही होता है त्रिजने कालांश में उनका उच्चारण होता है। ये स्वरों में भी व्यक्त होती हैं और स्वरों के मध्यभाग में भी व्यक्त होती हैं। यदि समस्त स्वर पृथक् रहें तो उनमें पूर्णतया अनुरजन नहीं हो सकता। अतएव इनके समूह की रचना की जाती है। स्वरसमूह को ग्राम कहते हैं। ग्राम दो प्रकार के होते हैं—बद्ध ग्राम और मध्यम ग्राम। ये ग्राम २२ भृतियों से उत्पन्न होते हैं। इनकी २१ मूडनायें होती हैं और इन ग्रामों के मेल से १७ भृतिर्था उत्पन्न होती हैं इन भृतियों के ६३ अंश होते हैं। इनसे प्रापराय, माषा, विभाषा, आन्तर माषा, देगीमर्ग शब्दादि हंसे हैं बिनका चर्चन सङ्गीतशास्त्र का विषय है।

ध्वन्यालोक

प्रतिपाद्यम्यापि त दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थे सम्प्रतीयते ।

वाक्यार्थपूर्विका तद्व्यतिपत्तस्य वस्तुन ॥ १० ॥

यथाहि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाक्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्य-
स्वार्थस्थ प्रतिपत्तिः ।

(अनु०) प्रतिपाद्य (भाता) को इति से भी वहाँ दिखला रहे है—

जिस प्रकार पदार्थगण के द्वारा वाक्यावगम होता है वही प्रकार वाक्यार्थगण के
द्वारा ही उस वस्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है ॥ १० ॥

जिस प्रकार पदार्थ के माध्यम से वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार वाक्यार्थ की
प्रतीति के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है ।

छोषनम्

प्रतिपत्ति भावे क्विप् । 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थं ।
अनेन श्लोकेनाप्यन्तसद्वदयो यो न भवति तस्यैव स्फुटसर्वेषु एव क्रम ।
यथाप्यन्तसद्वद्वृत्तौ यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रम । काष्ठाप्राप्त-
सद्वदयमात्रस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्यैव सद्यपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभाव-
स्मृत्यादिवदसर्वेषु इति दर्शितम् ॥ १० ॥

'प्रतिपत्' शब्द में मात्र में क्विप् मत्व्य है ; 'उस वस्तु का' का अर्थ है व्यङ्ग्यरूप सार
का । इस श्लोक से अत्यन्त सद्वदय को नहीं होता है उसके लिये क्रम स्फुटरूप में सर्वेषु
ही होता है । जिस प्रकार अत्यन्त शब्द और वृत्त को जाननेवाला को नहीं होता उसके
लिये पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम होता है । जिसका सद्वदयमात्र परकाशा को प्राप्त हो
सुका हो उसके लिये ही वाक्य वृत्त में कुशल के समान विद्यमान भी क्रम अभ्यस्त विषय में
अनुमान और न्यायि स्मृति इत्यादि के समान असर्वेषु ही होता है यह दिखला दिया
गया है ॥ १० ॥

तात्पर्यं

किया जाता है वह जने ही गौण नहीं बनाता । जैसे उदक इत्यादि के वरान के छिप पर
इत्यादि का वरानन विद्या जाना है । वही उदक इत्यादि पर इत्यादि को गौण नहीं बना सकता
है । नही ता प्रधान और अवधान की स्वरथा ही निराधार हो जाय । अतएव पर इत्यादि
का प्रतिनिधिष्य करत है उदक इत्यादि नहीं । इस पर केरा निवेदन है कि जिस वस्तु का
उदक्य होता है वही वस्तु प्रधान मानो जा सकती है ; पर के बिना भी जल गिर रह सकता
है किन्तु जल का नाम केवल पर से नहीं बहता । दूसरी बात यह है कि पर जल की दृष्टि
से गौण न भी हो किन्तु जलार्थ की दृष्टि से ता वह गौण ही होता है । आगे यही है कि
पर व्यापमान होता है, अतः वह उदक्यादि को कभी प्राप्त नहीं कर सकता ।]

ध्वन्यालोक

एव वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भाव प्रतिपाद्य प्राधान्य तस्यैवेति
दर्शयति—

सोऽर्थात्तद्द्वयनिर्मास्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यततः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्द्वयनिर्मास्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तात्रेव
शब्दार्थौ महाकवे प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यज्ञाभ्यामेव नुप्रयुक्तान्वा महाकवि-
त्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

(अनु०) इस प्रकार वाच्यव्यतिरेकी व्यङ्ग्य वा सत्ता प्रतिपादित करके उठी वा प्राधान्य
होता है यह दिखाते हैं—

‘वह अर्थ और उस अर्थ की व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाले किसी शब्द को प्रधान
पूर्वक परता जाना चाहिये, क्योंकि वे शब्द और अर्थ महाकवि के हाथे हैं’ ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्य अर्थ और उसकी व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाला कोई शब्द सभी शब्द
नहीं । वे ही शब्द और अर्थ महाकवि द्वारा ज्ञात किये जाने योग्य हैं । महाकवियों को
सुप्रयुक्त व्यङ्ग्यव्यङ्ग्य से ही महाकवित्व पद का लाभ होता है वाच्यवाचकरचनामात्र से नहीं ।
लोचनम्

प्रथमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नमामग्राज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रथमिज्ञेया-
निरवर्धयि कृत्य । सर्वो हि तथा यतते हृतीयता प्राधान्ये लोकाभिद्वय प्रमाण-
मुत्तमम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्त । प्रथमिज्ञेय शब्देनैवमाह—

काव्य तु जातु जायेत कस्यचिप्रतिभावत ॥’

एवमित्ति । अर्थात् स्वरूपभेद से और भिन्नमानमीमेव हानि से । (कारिका में) ‘प्रथ-
मिद्वयी’ शब्द में अहं अथ ये वृत्त्य प्रत्यय हो जाता है । सभी लाभ वैसा ही प्रधान करते हैं
इस प्रकार इस इतने रूपन के द्वारा लोकाभिद्वय प्रमाण बनना दिया । नियोगार्थक कृप्य प्रथय
के द्वारा शिक्षाक्रम इतना दिया गया । प्रथमिज्ञेय शब्द से यह कह रहे हैं ‘प्रथिमाज्ञानो किसी
कार्य का समी ही कोई काव्य उत्पन्न होता है ।’

तारावली

ऊपर दो रूपों में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद बतलाया गया था स्वरूप भेद और
एकरूपानमीभेद । इस कारिका में व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यङ्ग्यमामग्री जानों को प्रथमपूर्वक
पहचानने का परामर्श दिया गया है । वही पर ‘प्रथमिज्ञेय’ शब्द को समझ लेना चाहिये ।
यह शब्द ‘प्रति’ अर्थात् ‘अभि’ उतमार्थपूर्वक ‘जा’ धातु से ‘अहं’ अर्थ में ‘अहं कृत्यवृत्त्यर्थ’ इस
एक से पर प्रथय होकर बना है । अतः इस शब्द का अर्थ हुआ ‘व्यङ्ग्यार्थ और व्यङ्ग्य शब्द’
दोनों प्रथमिज्ञान के योग्य हैं । ‘महाकवे’ इस शब्द में बड़ी दो प्रकार से ही सकती है—
एक तो कर्ता में बड़ी दूसरे दोषवर्ती । यदि वही पर कर्ता में बड़ी मानी जायेगी तो इस वाच्य

ध्वन्यालोक

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेष्वङ्गव्यवस्थास्य प्राधान्य
वया न व्यलुप्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थप्रतिपादनम् ।

यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ
न विभाव्यत विमततया ।

तद्रूपचेतसा सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।

शुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्या झटित्यवयवमात्मते ॥ १२ ॥

(अनु०) अब यह दिखानाया जा रहा है कि यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ कोष के
बाद होती है फिर भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता विस प्रकार छुप नहीं जा जाती—'जिनप्रकार
पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य से हो वाक्यार्थ वा प्रतिपादन करते ह्ये व्यापार की निष्पत्ति में
पूषक रूप में प्रतीत नहीं हाता" ॥ ११ ॥

आशय यह है कि पदार्थ अपने सामर्थ्य (आकांक्षा योग्यता और सन्नधि) के द्वारा
वाच्यार्थ वा प्रकाशित करते हुए भी व्यापार की निष्पत्ति में पूषक रूप में प्रतीत नहीं हाता ।

"इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुक्त अर्थात् उसी से सन्तुष्ट न होनेवाले सहस्रों को देखी
शुद्धि में जो कि तत्त्वार्थ को शीघ्र ही देख लेती है वह व्यंग्यार्थ एकदम जा जाता है ॥ १२ ॥

शोधनम्

न व्यलुप्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुमरणरणकरत्वारता मध्ये
विश्रान्ति न कुर्वन्ति इति प्रमत्थ सतोऽप्यलक्षण प्राधान्ये हेतु । स्वसामर्थ्य-
माकाङ्क्षायोग्यतासन्निधय । विभाव्यत इति । विशाब्देन विमत्कतोता ।

व्यलुप्यत इति । प्रधानता के ही कारण तत्पर्यन्त अनुसरण में औत्सुक्य को शीघ्रता करते
हृद मध्ये में विश्रान्ति नहीं करते हैं यह क्षम के होते हुए भी लक्षित न करना प्रधानता में हेतु
है । स्वसामर्थ्य का अर्थ है आकांक्षा, योग्यता और सन्नधि । विभाव्यत इति । वि शब्द से विम

शारदावती

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि अक्षरक वाक्य में होता है और निरर्थक बर्ण
इत्यादि भी व्यञ्जक होते हैं । उक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का इष्टान्त उसे ही स्थान पर सङ्गत
हाता है जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । जहाँ पर निरर्थक बर्ण इत्यादि
से ही व्यंग्यार्थ अवगत हो जाता है वहाँ पर शब्द इत्यादि का प्रत्यक्ष होना ही व्यंग्यार्थ में
कारण होता है । अतः वहाँ के लिये यह इष्टान्त नहीं है (पदार्थ वाच्यार्थ के लिये देवो
च० ३) ॥ १० ॥

११ वीं और १२ वीं श्लोकों का अन्वय एक पूर्ण अर्थ होता है ११ वीं श्लोक में
इष्टान्त है १२ वीं श्लोक में दाशान्त है । इसीलिए दोनों श्लोकों का एक ही अर्थ है

लौचनम्

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतौ निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञान, न तु छन्दोवेदमित्येतावन्मात्रम् । महाकवेरिति । यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते । पूर्व व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-
न्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्न-
मित्युक्तम् ॥ ८ ॥

इसलिये घात का भी अनुसन्धानात्मक निरूपण यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा है, केवल इतना ही नहीं कि 'यह वही है' । महाकवेरिति । जो यह भासा करता है कि मैं महाकवि बन जाऊँ । इसप्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य बतलाते हुये व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का भी प्राधान्य कह दिया गया है; इस प्रकार 'ध्वनित करता है' 'ध्वनित किया जाता है' और 'ध्वनन' ये तीनों ही उपपन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सारावली

नहीं हो सकती । किन्तु फिर भी उस काव्य को वास्तविकता का ठीक रूप में निरूपण करने से वह संयोगवत्ता भी उत्पन्न हुआ काव्य सहस्र शाखाओं में विभक्त हो जाता है । यही प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है । इसका परिचय देते हुये लौचनकार के परम गुरु श्री उत्पलरामदेव ने लिखा है—

त्रिम प्रियतम को बुलाने के लिये हूँ सम्बोधन आत्मवृत्तान्तनिवेदन प्रभृति उपायों से विभिन्न प्रकार से मार्चना को घी, वह प्रियतम भा भी गया और निकट भी बैठा है । किन्तु नायिका यह नहीं समझ रही है कि यह वही प्रियतम है जिसको अपने निकट बुलाने के लिये मैंने इतनी चेष्टायें की थी । वह उसे साधारण व्यक्ति के समान ही समझ रही है । अतः वह अरने उस प्रियतम से रमण करने में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकती । इसी प्रकार यद्यपि सभी व्यक्ति जानते हैं कि विश्व का स्वामी परब्रह्म परमेश्वर सभी संसार को आत्मा है तथापि जबतक उस परमात्मा के गुणों का साक्षात्कार नहीं होता तबतक उसने वैभव का प्रभाव किसी प्रकार पक नहीं सकता । इसलिये उसका परिचय कहाने को मैंने चेष्टा की है ।'

इसी प्रकार कुछ शब्दों में रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त करने की जगता ही है । अर्थात् शब्दों में इस प्रकार की विशिष्ट अर्थ के घोटन की शक्ति स्वतः विद्यमान होती है और हम मध्य उस शक्ति से परिचित भा होते हैं; किन्तु उस ओर हमारा ध्यान प्रायः नहीं जाता । हमका अनुसन्धान और परिचय ही महाकवि का कान है । ऐसे शब्द प्रतिभा के बल पर स्फुरित हुआ करते हैं । किन्तु जबतक इनको रमणीयता की ओर ध्यान नहीं जाता तबतक काव्यनन्द की उत्पत्ति नहीं होती । अतः जो महाकवि अपने ही काव्य का रसात्वादिन बनना चाहते हैं अथवा जो परिशीलक महाकवि बनना चाहते हैं उन्हें धारिये कि स्वतः स्फुरित होनेवाले भी व्यञ्जक शब्दों की विशेषताओं का परिचय प्राप्त करें । इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द दोनों की प्रधानता बतलाने से व्यञ्जनानुत्ति की भी प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है । ध्वनि शब्द का प्रयोग इन तीनों अर्थों में किया जा सकता है । जब

सारांश

शब्द की शक्ति की उत्पत्ति में बढ़ते ही चले जाते हैं। व्यंग्यार्थ प्रधान होता है इसलिये सहृदय लोग उस तरह पहुँच जाने के लिये उजावले हो जाते हैं और गीतता करते हुए मध्य में पड़नेवाले वाक्याय पर रूढ़ते नहीं और न उसे छिपित ही कर पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ ही उनका अर्थात् है अतएव वही प्रधान होता है।

अनुत्तु कारिका में 'अधिसामर्थ्य' के द्वारा वाक्यायबाध का दृष्टान्त दिया गया है। अतः अधिसामर्थ्य को समझ लेना चाहिये। वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

वाक्य स्वाधेयताकाशासत्तियुक्त एतेष्वयम् ।

अर्थात् वाक्य एसे पदसमूह को कहते हैं जिसमें योग्यता आकांक्षा और आसक्ति विद्यमान हो। पद की यह तीन विशेषताएँ वाक्यार्थबोध में कारण होती हैं और इन्हीं की यहाँ पर पद सामर्थ्य से अभिहित किया गया है। कारिकावली में धातुता को निम्नलिखित परिभाषा दी हुई है—

पदार्थे तत्र तदसा योग्यतापरिकीर्तिता

अर्थात् एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध योग्यता कहलाता है। योग्यता को दूसरी परिभाषा यह भी गई है—

'योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः ।'

अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना 'योग्यता' कहलाता है। जैसे 'अग्नि से सौंघना है' इस वाक्य का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि सौंघना क्रिया का रूप अग्नि नहीं हो सकता। अतः इनका सम्बन्ध बाधित है और इन शब्दों में परस्पर मिलने की योग्यता नहीं है। यदि किसी पद के अभाव में एक पद के अर्थ की पूर्ति न हो तो उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा होती है। जैसे 'क्रिया' की 'कारण' के साथ आकांक्षा होती है। यदि शाय, धाता दायी बैठ इत्यादि दस पाँच शब्द जोड़ दिये जायें तो उनसे बाई वाक्य नहीं बन सकेगा क्योंकि उनमें परस्पर आकांक्षा नहीं है। आसक्ति का अर्थ होना है निकटता। यदि शब्द साथ-साथ न चले जाकर बिल्कुल से चले जायें तो निकटता न होने के कारण उनमें वाक्यायबाध नहीं हो सकता। अब शब्द समूह में ये तीनों तरह विद्यमान होते हैं तभी वाक्यायबाध होता है। किन्तु वाक्यायबाध में शब्द तथा उनके इन सन्धियों का पूरक बाध नहीं होता। वाक्यार्थ परन्तु प्रकृत हो जाता है शब्दार्थ की द्वारा प्रधान भाव नहीं जाता। विभाषण में कि का अर्थ है विभक्त्यर्थ में अतः भावने का अर्थ है भाव होना है। अर्थात् पदार्थ वाक्याय में विभक्त्यर्थ में प्रकीर्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द अर्थ ही किन्तु प्रकृत नहीं हो पाता। कुछ लोगों ने इस सम्बन्ध की यह व्याख्या की थी कि वैध्याकरण शास्त्र पदार्थ का मानते ही नहीं। उनके मन में अर्थ ही ही वाक्य का अर्थ होता है, पदों का अर्थ कुछ माना नहीं होता। अतएव वहाँ पर पदार्थ और वाक्यार्थ का अर्थ ही नहीं होता। किन्तु यह व्याख्या विपरीत है। ध्वन्यालोक ने शब्द रूप में विभाषण शब्द का प्रयोग किया है, तिमका अर्थ है अर्थ होता है किन्तु विभक्त्यर्थ में प्रकीर्त नहीं होता।

तारावती

अब हम सशायक लुप्त मयय करगे (ध्वननम्) तब इसका अर्थ हागा ध्वनित करनेवाला
 व्यापार अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति इस प्रकार दोनों ही भय सङ्गत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

कुन्नक ने शब्द और अर्थ को विलक्षणता तथा लोकोत्तरता की ओर सकेत किया है ।
 उनका कहना है—

शब्दो विवर्तितैवायवाचकाऽन्येषु सत्सन्धि ।

अथ सहृदयाद्वादकारि-स्वस्पन्द सुन्दर ॥ १-९ ॥

अर्थात् एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं किन्तु कवि ऐसे शब्द का ही प्रयोग
 करता है जो उसके विवर्तित अर्थ का कह सके । इसी प्रकार कवि का अर्थ भी इस
 प्रकार का होता है जो सहृदयों को आह्लाद दे सके और स्वयं स्फुरित होने के कारण
 सुन्दर प्रतीत हो ।

यहाँ तक व्यंग्य व्यङ्ग्यक और व्यञ्जनावृत्ति दोनों की प्रधानता सिद्ध की जा चुकी । अब
 यह प्रश्न उठता है कि जबकि व्यंग्यवाचक के पहले हो वाच्यवाचक भाव का परिधान भवि
 वाच्य है तब प्रथम उपादान के कारण वाच्यवाचकभाव की प्रधानता ही सिद्ध होती है ।
 व्यङ्ग्यवाचकभाव का तो उपादान बाद में होता है उनको प्रधानता कैसे हो सकती है ?
 इसका उत्तर यह है कि लोक में उपाय पहले होते हैं और उहाँ के लिये पहले उद्योग किया
 जाता है । उपाहरण के लिये यदि अपनी प्रियता के मुख कमल को देखना हो तो पहले दीप
 गिहिका का अन्वेषण किया जावेगा । इसी प्रकार वाच्यवाच्य उपाय है और व्यंग्यार्थ उपेय है ।
 अतएव वाच्यवाच्य में पहले प्रवृत्ति होती है । आलोक का अर्थ है प्रकाश । किन्तु दीपगिहिका
 और प्रकाश का अमेद सम्बन्ध है । अतएव आलोक के लिये दीपगिहिका का अन्वेषण किया
 जाता है यह वाक्य प्रस्तुत प्रकरण में अधिक सङ्गत नहीं होता । इसीलिये लोचनकार ने
 'आलोकनमालोक' 'बलितापदनारविन्दारिविलोकनम्' यह अर्थ कर दिया है । अतएव इसका
 अर्थ हो जाता है—'दिश्यायसन्निकर्षत्रय चाधुव प्रत्यय ।

यहाँ पर पूर्वपक्षी ने अनुमान प्रमाण के बल पर वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध कोयी ।
 प्रतिष्ठा का अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'वाच्यवाचकभाव प्रधान होता है क्योंकि
 उसका उपादान पहले किया जाता है । यहाँ पर वाच्यवाचकभाव प्रथम है, प्रधानता साध्य है
 और प्रथम उपादान हेतु है । किन्तु यह अनुमान प्रक्रिया ठीक नहीं है क्योंकि हमने विरुद्ध
 देखाया है । यहाँ पर प्रधानता साध्य है, उसका अभाव है अप्रधानता । प्रथम उपादानरूप
 हेतु उसी अप्रधानता को सिद्ध करता है प्रधानता को नहीं ; क्योंकि अप्रधान उपाय का उपा
 दान पहले हागा है उपेय प्रधान का बाद में । अतएव यह हेतु विरुद्ध है और वाच्यार्थ की
 प्रधानता को सिद्ध नहीं कर सकता ।

[उपाय उसे कहते हैं जिसका किसी उद्देश्य से उपादान करके मो परित्याग कर दिया
 जाय । मदिम भट्ट का कहना है कि 'यह कदा ना सकता है कि जिसके लिये जिसका उपादान

ध्वन्यालोक

यत्रार्थो वाच्यविशेष वाचकविशेष शब्दो वा तमर्थं स्वहृत्, स काव्य-
विशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचास्त्वहंतुम्य उपमादिभ्योऽनुपमा-
दिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

(अनु०) यहाँ पर 'अर्थ' शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाच्य अर्थ और 'हृत्'
का अर्थ है विशेष प्रकार का वाचक । यहाँ पर वाच्य अर्थवाचक उक्त प्रथानीभूत-
कार्य को व्यक्त करते हैं उन वाच्यविशेष का ध्वनि कहते हैं । ध्वनि को हम परिभाषा के द्वारा यह
दिखानाया गया है कि ध्वनि का विषय वाच्यार्थ वा वाचका से उत्पन्न होनेवाले अर्थ
इत्यादि से भी भिन्न है और वाचक की वाक्य से उत्पन्न अनुपमा इत्यादि से भी भिन्न है ।
छाँचनम्

सद्भावमिति । सत्ता साधुभाव प्राधान्य चेत्यर्थं । द्वय हि प्रतिपि
पादयिषितम् । प्रकृत इति लक्षणम् । उपशोध्यन् उपशोय गमयन् । तमर्थमिति
चायमुपयोग । स्वशब्द आत्मवाचा । स्वशार्थश्च ती स्वार्थी, ती गुणीकृती
घाम्याम्, यथामध्येन तनार्थो गुणीकृतात्मा शब्दो गुणीकृताभिधेय तमर्थं
मिति । 'सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु इति यदुक्तम् । स्वहृत् इति द्विवचने
नेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जक तथाप्यर्थस्यापि मह
कारिता न युज्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जक स्यात् ।
विवक्षितान्यपरवाच्य च शब्दस्यापि भवत्येव । विनिश्चयान्दामिधेयतया विना
तस्यार्थस्याप्यप्रकृत्यादिति सर्वत्र शब्दार्थयोर्ममयोऽपि ध्वनन इत्याहार । तत्र
यद्गदनायकैः द्विवचनं दूषितं तद्गजनिमीलिकयैव । अर्थं शब्दो वेति

सद्भावमिति । अर्थात् सत्ता या साधुभाव अथवा प्राधान्य का । दानो का प्रतिपादन करना
यहाँ पर अभीष्ट है । 'प्रकृते शब्द का अर्थ है उपयोग का प्राप्त करने हुये । 'तमर्थम्' इसके
लिये (अर्थात् 'तम्' शब्द से परामर्श करने के लिये) यह उपयोग है । स्व शब्द आत्मवाचक
(अर्थ के स्वरूप का बतलानेवाला) है । 'स्वाय' शब्द का अर्थ है 'स्व' और अर्थ दानो
मिच्छते वे दानो शिन दो के द्वारा गीत बना दिये जायें । हमसे यथासंभव से अर्थ अपनी
अत्मा का गीत बना देनेवाला होता है और शब्द अपने अन्विषय को गीत बना देनेवाला
होता है । उस अर्थ को अर्थात् 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' में जो शब्द बनी गई थी ।
'स्वहृत्' अर्थात् वाक्य करते हैं । 'स्वहृत्' हम द्विवचन से यह कहा है—यद्यपि अविवक्षित
वाच्य में शब्द ही व्यञ्जक होता है तथापि अर्थ ही को साकारिता दूटना नहीं नहीं तो न
जाने हुए अर्थवाला शब्द भी समझा व्यञ्जक हो जाये । और विनिश्चयान्दामिधेयतया में शब्द का
भी सहकारिता होने ही है क्योंकि विनिश्चय शब्द के द्वारा अभिधेयता के अभाव में उस अर्थ में
भी व्यञ्जकता नहीं होती । हम प्रकार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन-कारण होता
है । हम प्रकार अन्वाचक ने जो द्विवचन का अर्थन किया है वह गजनिमीलिका (रित्त
संघे समस्त सम्पन्न पर दूट करना) ही है । 'अर्थं शब्दो वा' अर्थने 'वा' का अर्थ अर्थात्

तारावती

वाच्यार्थ की अपना व्यंग्यार्थ की प्रधानता पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—कवि के दृष्टिकोण से और सङ्घटन के दृष्टिकोण से। प्रस्तुत कारिका में कवि के दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि कवि व्यंग्यार्थ का अग्रम बराने के लिये ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यंग्यार्थ ही कवि का चरमलक्ष्य होता है, अतएव कवि की दृष्टि में उसी की प्रधानता होती है ॥ ९ ॥

दूसरा दृष्टिकोण पाठक श्रोता या दर्शक का होता है। उसके दृष्टिकोण से भी व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। फिर यह वाच्यार्थज्ञान में क्यों प्रवृत्त होता है इसी शब्द का उचर एव १० वीं कारिका में दिया गया है। मानपादक और प्रतिपाद्य ये दो शब्द हैं। प्रतिपादक शब्द होता है और प्रतिपाद्य अर्थ होता है। किन्तु यहाँ पर इन दोनों शब्दों का इन अर्थों में प्रयोग नहीं हुआ है। जिस प्रकार ९ वीं कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है कवि, उसी प्रकार इस कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है परिशीलक, जिसके लिये कवि प्रतिपादन करता है। इस अर्थ को न समझकर कुछ व्याख्याकारों ने प्रतिपाद्य का अर्थ वाच्यार्थ किया है जो बराबर नहीं हो सकता। ध्यान रखना चाहिये कि वाच्यार्थ कभी प्रतिपाद्य नहीं होता। वह तो व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन का माध्यम मात्र होता है।

‘प्रतिपाद्यत्व’ का पर्याय होगा—प्रतिपाद्यत्व। प्रतिपाद्यत्व पर ध्यान से भाव अर्थ में किन्तु प्रत्यक्ष होकर प्रतिपाद्य बना है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। जिस प्रकार वाच्यार्थ का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम शब्दों का अर्थ न जान लें उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी हमें तब तक नहीं हो सकती जब तक हम वाच्यार्थ को न जान लें। इस दृष्टिकोण में जिस अर्थप्रस्तुत का उत्पादन हुआ है उससे यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग अल्पज्ञ सङ्घटन नहीं होने लगे हैं वे इस क्रम का पता चला है कि पहले वाच्यार्थ होता है और शब्द में व्यंग्यार्थ होता है। जिस प्रकार बम पड़े लिये लोगों को पहले शब्दों का अर्थ जानना पड़ता है तब उन्हें वाच्यार्थ का ज्ञान होता है। किन्तु जब भाषा पर विशेष अधिकार हा जाता है तब शब्दों के अर्थ की ओर बिना ही ध्यान दिये एक दम वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जिन लोगों में सङ्घटन की कमी है उन लोगों को वाच्यार्थज्ञान के बाद कल्पित से व्यंग्यार्थ प्राप्त होता है। किन्तु जो लोग विशेष रूप से सङ्घटन हैं उनको वाच्य को ज्ञान के साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। उन्हें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के शीर्षपर्य्य हम का पता नहीं चलता। इसके लिये दूसरा उदाहरण यह हो सकता है कि जिस प्रकार पहले हेतु (पुष्पा) के दर्शन होते हैं, बाद में साध्य (अग्नि) से उसकी व्यति का अन्वय किया जाता है और तब निरूपणार्थ के द्वारा साध्य (अग्नि) का अनुमान लगाया जाता है। पहले पड़न का लोग अनुमान लगाते हैं उन्हें इस क्रम की प्रतीति होती है। किन्तु अन्वय हो जाने के बाद पुष्प का देखते ही अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उस समय अन्वय शब्दों द्वारा ही क्रम सञ्चित नहीं होता है।

शारावली

इस शब्द का प्रयोग किया गया है वाच्यध्वनिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता भी बतलाएँ गई है और उसका साधुभाव अर्थात् प्राधान्य भी बतलाया गया है। श्लोक ने पिछले प्रकरण में दोनों के प्रतिपादन की इच्छा की है। अब इस प्रतिपादन वा ध्वनि सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है उसका प्रस्तुत प्रकरण में क्या उपयोग है यह बात इस कारिका में बतलाएँ गई है—“जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द, स्वार्थ को उपसर्जन (गौण) बनाकर उस अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं वह कान्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है।” यहाँ पर ‘उस अर्थ को’ इस शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसी का परिचय पिछले प्रकरण में दिया गया है। इस परिभाषा में ‘स्वार्थ’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें द्वन्द्व समास है। ‘स्व अर्थात् आत्म स्वरूप और अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ’। इनका क्रमशः अन्वय लगता है और इनका अर्थ हो जाता है कि जहाँ पर अर्थ अपनी आत्मा का (अपने को) गौण बना देता है और शब्द जहाँ पर अपने अभिव्येयार्थ को गौण बना देता है वहाँ कान्य ध्वनिकान्य होता है। ‘उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं’ का आशय यह है कि जिस अर्थ का विवेचन ‘सत्सत्ता स्वानु उदर्यवन्तु’ इस कारिका में किया जा चुका है। इस परिभाषा के दो एक शब्दों पर विशेष मन्नास डालने की आवश्यकता है —

(१) व्युत्क.—‘दोनों अभिव्यक्त करते हैं’ में दिवचन का आशय यह है कि अविवक्षित वाच्यध्वनि में जहाँ पर अभिव्यक्ति शब्द के आधार पर होती है अर्थ का सद्भार भी अपेक्षित होता है क्योंकि वहाँ पर दिना अर्थ ध्वनि के ध्वनि निष्कल हो नहीं सकती, अन्यथा निरर्थक शब्दों से भी ध्वनि निकलने लगेगी। इसी प्रकार विवक्षितान्वयवाच्य में जहाँ पर अर्थ के आधार पर अभिव्यक्ति होती है, शब्द का सद्भार भी अपेक्षित होता है। क्योंकि जबतक वह अर्थ विविध प्रकार के शब्द से अभिहित नहीं होगा तबतक वह अर्थ व्यक्त हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ध्वननव्यापार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित व्यापार होता है। यही दिवचन का अभिप्राय है। इस आशय को म समझकर भट्टनायक ने दिवधन दूषित बतलाया है। यह उनका दावदान उसी प्रकार का है जैसे क १ हार्थ स्वभाव से ही अर्थे झगकाया करता है। इसी प्रकार भट्टनायक का स्वभाव ही छन्दन करने का बन गया है। जिस प्रकार हार्थ का अर्थ झगकाना उसी विचारशीलता का परिचायक नहीं बल्कि वा सत्ता उसी प्रकार भट्टनायक वा छन्दन करना भी उनका विचारशीलता का परिचायक नहीं है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि दिवचन का ही प्रयोग करना या तो ‘अर्थ शब्दों का’ क्या होता। सीधा ‘अर्थशब्दों’ के प्रयोग से काम चला सकता था और उस विधा का दिवचन भी उचित हो जाता। इसका उत्तर यह है—‘अर्थ अथवा शब्द’ में अथवा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि वर्षों शब्दों के सद्भाव की सर्वत्र अपेक्षा होती है फिर भी प्रधानता जिसकी होती है ध्वनि उसी की बनी जाती है। यही बात वाच्यप्रकाश को निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट होती है—

सोचनम्

विमलतया न भास्यत इत्यर्थं । अनेन विद्यमान एव क्रमो न सवेद्यत
हृत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटामिप्रायेणासद्येव क्रम इति व्याचक्षते तत् प्रत्युत
विस्दमेव । वाच्येऽर्थे विगुलौ विश्रान्तिनिबन्धन परितोषमलममान आत्मा
हृदय येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः । सहृदयानामेव तद्व्यं
महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—अवभासत
इति । तेनात्र विमलतया न भासते, नतु वाच्यस्य सर्ववैवानवभासः । अत
एव तृतीयोद्योते घटप्रदापदुष्टान्तबलाद्बद्धघटप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न
विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ॥ ११, १२ ॥

कता बतन्तर्गर्हं है । अर्थात् विभक्त होने के कारण शत नहीं होता है । इससे विद्यमान ही
क्रम सवेदनागोचर नहीं होता यह कहा गया है । इससे आ कि स्फोट के अभिप्राय से न
विद्यमान होते हुए भी क्रम' यह व्याख्या करते हैं वह ठा प्रत्युत विरुद्ध ही है । वाच्य अर्थ में
विगुल अर्थात् विधान्ति के कारण परितोष को न प्राप्त करनेवाली है आत्मा अर्थात् हृदय
त्रिनिका इस प्रकार इससे 'सचेतनाम्' इसी का अर्थ अभिव्यक्त किया गया है । तो यह सहृदयों
की ही महिमा हो यह वाच्य का कोई अतिशय नहीं है, यह आत्मा करके कर रहे हैं—
अवभासत इति । इससे यहाँ पर विमलतया भासित नहीं होता वाच्य का सर्वथा ही अवभासन
हो गया नहीं होता । अतएव तृतीय उद्योत में घट प्रदीप के दृष्टान्त के रूप पर जो यह कहेंगे
कि व्यंग्यप्रतीतिकाल में भी वाच्यप्रतीति विघटित नहीं होती उसके साथ इस प्रथम का विरोध
नहीं है ॥११, १२॥

सारायती

दिदा गया है । इन कारिकाओं में यह बताया गया है कि जिस प्रकार शब्दों का अर्थ जान
लेने पर ही वाक्यार्थदान होता है । किन्तु शब्दार्थ अपनी शक्ति से ही वाक्यार्थ का प्रति
पादन कर देता है, वाक्यार्थरूप व्यापार को निश्चिति में शब्दार्थ की विलज्जल प्रतीति नहीं
होती । यह बात मान्य हो नहीं सकती कि शब्दार्थ और वाक्यार्थ का पृथक् पृथक् बरतुर्ग्ये हैं
और एक के बाद दूसरे आते हैं इसी प्रकार यद्यपि यह नियम है कि वाक्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ
प्रतीत होता है तथापि जो सहृदय हैं और त्रिनिका आत्मा वाक्यार्थदानमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं
होते उनकी विवेकशील बुद्धि में व्यंग्यार्थ का अवभास एकत्र ही जाता है । उन्हें यह पता ही
नहीं चलता कि वाक्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हुई है । यही इन दोनों कारिकाओं
का आशय है ।

वास्तविकता यह है कि क्रम का प्रतीक न होता ही - व्यंग्य की प्रधानता में प्रभाव है ।
जो बहुत प्रधान होता है हम उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और उसके लिये जो
सामग्री जुगुते हैं उस पर रुकते नहीं, उस ओर ध्यान भी नहीं देते । किन्तु अपनी अमोह

सारावली

वह शीजिये चाहे ध्वनि । कुछ शीजियोने कहा है कि 'यदि चास्ता प्रतीति ही वाच्य की आत्मा है तो जहाँ पर मयझ इत्यादि के द्वारा होने सुन्दरता की प्रतीति हो जाये और उसे - भी वाच्य कहेंगे ।' इस पर मेरा यह कहना है कि जब हम शब्दार्थगत वाच्य को जाना वा निरूपण कर रहे हैं तब मयझ इत्यादि के द्वारा सुन्दरता प्रतीति को वाच्य को जाना करने का मसन ही नहीं उठता ।

(३) स ध्वनिरिति । यहाँ पर ध्वनि शब्द का पूर्वोक्त तीनों अर्थों में प्रयोग हुआ है । ध्वनि के अन्दर अर्थ भी आ जाता है, शब्द भी और ध्वारण भी । अर्थ का वाच्य और ध्वारण दोनों प्रकार का आता है । जब हम इसका स्मरण तब 'ध्वनित्वाति ध्वनि' इस प्रकार ध्वनित्वाच्य में करते हैं तब उमका अर्थ ही जाता है वाच्यार्थ । शब्द का समावेश भा इसी स्मरण में ही जाता है । जब 'ध्वन्यते' यह वर्णवाच्य में -शब्द । की जाती है तब इसका अर्थ हो जाता है ध्वन्यार्थ । जब ल्युट् प्रत्यय के द्वारा स्मरण की जाती है 'ध्वनन्निनि' तब इसका अर्थ हो जाता है शब्द और अर्थ का ध्वारण । इन सबका समुदाय ही प्रधान होने के कारण वाच्यरूप होता है और वही को मुख्यरूप में ध्वनि कहते हैं । यह बात हम कारिका में बतलाई गई है । आस्य यह है कि वाच्य में शब्द भी होता है वाच्यार्थ भी होता है ध्वन्यार्थ भी होता है, शब्द और वाच्यार्थ के गुण तथा अलङ्कार (रीति और वृत्ति) भी होते हैं और अलङ्कार आस्य में होता है । इन सबका समूह ही मुख्य वाच्य कहा जाता है । इसी को ध्वनि कहते हैं । समुदाय को बनानेवाले पृथक् तत्त्वों की अपेक्षा समुदाय को प्रधानता होती है और उसमें भी अन्य तत्त्व अल्पक होते हैं जिनका सहारा देना ध्वन्यार्थ प्रकृत हुआ करता है । ध्वन्यार्थ ही प्रधान होकर ध्वनि का रूप धारण करता है । 'मुख्यरूप में वाच्य कहा जाता है' में मुख्य शब्द का अर्थ यह है कि वाच्यत्व अन्यत्र मा हा सकता है किन्तु अन्य प्रकार का वाच्य अमुप्य ही कहा जायेगा ।

ऊपर ध्वन्यार्थ की सत्ता, उसकी प्रधानता और ध्वनि के स्वरूप का विशेसन किया जा चुका । अब उन एषों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है जो कि आचार्य में ध्वनि का उल्लेख करने के लिये दिखाने लये थे । अभाववादियों के प्रथम पक्ष का बान्ता वा कि— 'शब्द और अर्थ वाच्य के शरीर होते हैं शब्दगत वस्तु अनुप्रास इत्यादि के नाम से प्रसिद्ध हैं और अर्थगत चास्ता उटना इत्यादि होती हैं इसी प्रकार सपटनाभर्म माधुर्य इत्यादि तथा उनसे सम्बन्धित वृत्तियों और रीतियों को है । उनसे भिन्न ध्वनि नाम को यह कैत ही नहीं कहा है ।' हम मयन एषा का निराकरण तो ध्वनि की समुदाय परिमाण द्वारा ही हो गया । उपर्युक्त विशेसन से यह बात सिद्ध हो गई कि वाच्यत्व की चास्ता में हेतु उपमा इत्यादि और वाच्य की चास्ता में हेतु अनुप्रास इत्यादि से इस ध्वनि का विशेष भिन्न है । कारण यह है कि गुण और अलङ्कारों का माय वाच्य और वाच्य ही होते हैं किन्तु ध्वनि का माय ध्वन्य और अल्पक है । यह दोनों में भेद है । इस प्रकार ध्वनित्वाच्य के प्रथम एषा का निराकरण

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयो-
जयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिमिः कथितः ॥ १३ ॥

(भनु०) इस प्रकार वाच्यव्यतिरेकित व्यंग्यार्थ की सत्ता और उसकी प्रधानता का प्रति-
पादन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्रकृत में उसका उपयोग क्या है ?

‘वहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण)
बनाकर उस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस
नाम से अभिहित किया जाता है ॥ १३ ॥

सारावती

‘वाच्यार्थविमुखात्मना’ का अर्थ है—जिनकी आत्मा अर्थात् हृदय वाच्य अर्थ में विमुख
होना है अर्थात् जिन्हें वाच्य अर्थ में सन्तोष नहीं होता और सन्तोष न होने का कारण यही
होता है कि उनकी दृष्टि में अर्थ की विभ्रान्ति वाच्यार्थ पर ही नहीं होती । वस्तुतः ‘सचे-
तसां’ की ही यह व्याख्या है । सहृदय कहते ही उसे हैं जिसकी दृष्टि वाच्यार्थ तक ही सीमित
नहीं रहती अपितु उससे परे भी उसके प्रतीयमान अर्थ को देखने में समर्थ हो जाती है । अब
यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का प्रतीत होना सहृदयों की ही विशेषता
है क्योंकि सहृदयों को ही व्यंग्यार्थबोध होता है, जो सहृदय नहीं होने उन्हें उस अर्थ को
प्रतीति होती ही नहीं । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति सहृदयों
की ही विशेषता उद्घरती है । इसीलिये ‘अवभासते’ इस क्रिया का प्रयोग किया गया है
इसका आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ का अवभास उसी काव्यप्रवण के साथ ही या उससे
बाद ही होता है और उसका आस्वादन भी उसी समय होता है । अतएव अन्वय व्यतिरेक
वाच्य का भी बन जाता है । विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ रूप काव्य के होने पर ही
प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति और आस्वादन होते हैं और उनके न होने पर काव्यप्रस्तास्वादन
भी नहीं होता । इस प्रकार काव्यप्रस्तास्वादन के प्रति शब्दार्थरूप काव्य की भी कारणता
सिद्ध हो जाती है । सहृदय रसास्वादन में निमित्तकारणमात्र होता है । उपादानकारणता
वाच्य और अर्थ रूप काव्य में ही रहती है ।

यहाँ पर केवल इनकी बात नहीं करें शब्दार्थ वाच्यार्थ से तथा वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से
एक-दूसरे का प्रतीत नहीं होते । यह नहीं समझना चाहिये कि वाच्यार्थ की वि-
कृत प्रतीति ही नहीं होती । इसलिये मृशोप उद्योत का ३३ वीं कारिका में यह कहा जावेगा कि घट और
प्रतीक के इष्टान्त से व्यंग्यार्थ के प्रतीतिवाल में भी वाच्यार्थ विपटित नहीं होता । इस प्रकार
इन दोनों रुन्दों का परस्पर विरोध नहीं है ।

छोचनम्

विकल्पामिधानं प्राधान्याभिप्रायेण । काव्यञ्च तद्विसेषयासी । काव्यस्य वा विशेष । काव्यप्रवृत्त्याद्गुणानुद्धारोपस्कृतशब्दार्थपृष्टपार्ता ध्वनिदक्षणश्च आम्-
त्युक्तम् । तन्नैतद्विषयकानां श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिध्यदहार स्यादिति । यच्चोक्तम्-
'चास्त्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यात्मा स्यादिति' तदप्यज्ञोक्तम् एव । नाग्नि सत्त्वय
विवाद इति । यच्चोक्तम्—'धारण प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणा-
दपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थमयकाव्यामाभिधान-
प्रस्तावे क एष प्रमद्व इति न किञ्चिदेतत् । स इति । अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो
वा । अर्थापि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति
व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकाया तु प्राधान्ये समुदाय एव
काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादिन् ।

विकल्पामिधानं तो प्राधान्य के अभिप्राय से है । वाच्य तथा उभयी विशेषता अथवा काव्य की
विशेषता । काव्यप्रवृत्ति से गुण और अलंकार से उपकृत शब्द और अर्थ की पीठ पर आनेवाला
ध्वनि उगल वाला आत्मा है यह कथा है । हमने यह निरवकाश ही भाषा कि 'श्रुतार्थापत्ति
में भी ध्वनि का व्यवहार हो जावे । और जो कहा है—'तो चास्त्व प्रतीति ही काव्य का
आत्मा हो जावे' उमे हम अङ्गीकार करते ही हैं । निम्नदेह यह नाम में ही विवाद है और जो
बद क्या है—यदि चास्त्व की प्रतीति काव्य की आत्मा है तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से भी
हनेवाला (वद प्रतीति) वैसी (काव्य की आत्मा) हो जावेगी । उस पर (यह कहना है
कि) शब्दार्थमय काव्य की आत्मा के निरूपण के प्रस्ताव में यह प्रमद्व ही कौन है ? हम
मकर बद क्यों बत नहीं । स इति । अर्थ अथवा शब्द अथवा व्यापार । अर्थ भी वाच्य भी
(हो सकता है) 'जो ध्वनि कम्ता है' इस व्युत्पत्ति से, इस प्रकार शब्द भी । अथवा व्यंग्य
अर्थ 'ध्वनित' इस व्युत्पत्ति से अथवा शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' इस व्युत्पत्ति
से । कारिका के द्वारा तो प्रधानतया काव्यरूप समुदाय ही मुख्यरूप में ध्वनित होता है यह
प्रतिपादित किया है ।

तारावती

सारांश यह है कि वाच्यार्थ कारण है और अभ्यर्थ कार्य । कार्य प्रधान होता है और
कारण उपबन्धन । कारण का सत्ता पहले होती है और कार्य की बाद में अतएव 'पहले होने
के कारण वाच्यार्थ प्रधान है' यह हेतुविरह हेत्वभास का उदाहरण हो जाता है ॥११॥ १०॥

ध्वनि का परिचय करना इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है । ११ वीं कारिका में ध्वनि
की परिभाषा दी गई है १२ वीं कारिका तक उसकी मूलिका तैयार का गई है । ध्वनि सिद्धान्त
को समझने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वाच्यव्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का
'सद्भाव' समझ लिया जावे । 'सत्' शब्द का ही अर्थों में प्रयोग होता है—'सद्भावे, सद्भुभावे
व सदिधेऽन्यनुत्तरे' अर्थात् सत् का अर्थ है सत्ता और सद्भुभाव । यहाँ पर दोनों अर्थों में

तारावती

तो ध्वनि का उपकारकमात्र हाता है अतएव वह गुण अलङ्कार इत्यादि काव्य वा भाग ध्वनि का अङ्ग ही होता है अर्थात् अथवा प्रधान ध्वनि ही हाती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा।

यहाँ पर आलोचकार ने एक परिवार श्लोक भी दिया है। परिवार शब्द का अर्थ है—परिकरोति प्रकृत्यायमभिवाधानेनापकरोतीति परिकार 'अर्थात् प्रकृत अर्थ में अधिकता का आधानकर जो उसका लकार करता है उसे परिवार कहते हैं। परिवार के लिए कारिका के उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो अर्थ अपेक्षित होता है किन्तु कारिका में उसका कथन नहीं किया गया होता उसका अन्वय अर्थात् प्रक्षेप करने के लिये जो श्लोक होता है उसे परिवार श्लोक करते हैं। यहाँ पर जो परिवार श्लोक लिखा गया है उसका आशय यह है—ध्वनि-व्यय और म्यन्नक के सम्बन्ध से निवृद्ध होती है। भन वाच्य और वाचक के आधार पर होनेवाले गुण और अलङ्काररूप चाकना के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है।'

(यहाँ पर कहने का आशय यही है कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार में नहीं हो सकता। इस विषय में द्वितीय उद्योत की ५ वीं कारिका पर टिप्पण के ये विचार दृश्य हैं—कटक केन्द्र इत्यादि यद्यपि शरीर से ही समवेत रहते हैं तथापि उनसे विभिन्न चित्तवृत्तियों के औचित्य का सम्बन्ध मिलती है अतएव चेतन आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। वह इस प्रकार—कुण्डल इत्यादि से उपेत भी भवशरीर अचेदन होने के कारण शाश्वत नहीं होता क्योंकि वहाँ अलङ्कार्य ही ही नहीं। कटक इत्यादि से युक्त भवशरीर हारवावह हो जाता है क्योंकि अलङ्कार्य अनुचित है। शरीर का तो कुछ भी अन्तर्भाव नहीं होता अतएव क्लृप्त आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। क्योंकि यह अभिमान होता है कि मैं अलङ्कृत हूँ। सभी प्रकार एकावली में गुण और अलङ्कार में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रतिषेध किया गया है। रसिक ने अलङ्कारसवरस में भी श्रवणार्थ की ही आत्मरूपता प्रतिपादित की है और उसपर जयरथ ने टीका करते हुए लिखा है—'गुणों के विषय में ये रसम्याङ्गिका धर्मा और अलङ्कारों के विषय में 'उपकृत्यति तत्तत्' इत्यादि न ति अपनर्ह गई है। इस प्रकार शब्दाय रूप अङ्ग में अतिगवता के आधान के द्वारा गुणों और अलङ्कारों की रसोपगमायना होती है। रसानुरूप श्रवण अर्थ को अलङ्कृत करनेवाले अलङ्कारों की अलङ्कारता मुख्य वृत्ति से हाती है। क्योंकि उनका निदम्बन अलङ्कारों की सत्ता के अधीन हाता है क्योंकि अलङ्कार्य के रूप में श्रवण रसायामा की ही प्रतिष्ठा की गई है। इत्यादि।)

श्रवणार्थ का दृष्टि से अलङ्कार का प्रकार के द्वाये हैं। एक तो वे अलङ्कार हाये हैं जिनमें श्रवणार्थ की श्रवण तथा सुन्दर प्रशानि हाता है आर दूसरे वे अलङ्कार होते हैं जिनमें श्रवणार्थ की प्रतीति नहीं हाती। जैसे अलङ्कार केवल श्रवणार्थ का उपभूत करनेवाला हाते हैं। वहाँ पर यह प्र न उदाहरण हाता है कि जिन उपमा इत्यादि अलङ्कारों में श्रवणार्थ की विषय प्रतीति

लौचनम्

विमक्त इति । गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावभावात् । अस्य च तदन्यम्यङ्गपम्यङ्गकभावमात्राद्यास्य तेष्वन्तभाव इति । अनन्यत्रभावो विषय-शब्दाय । एव तद्व्यतिरिक्तः कोऽप्य ध्वनिरिति निराकृतम् ।

विमक्त इति । गुण और अलङ्कारों का प्रायः वाच्यवाचकभाव है और इसका उससे निम्न अन्यम्यङ्गकभाव हा सार होने के कारण इसका उनमें अन्तभाव नहीं होता । विषय शब्द का अर्थ है अन्यत्र न होना । इस प्रकार उससे भिन्न यह ध्वनि क्या है, इसका निराकरण हा गया ।

सारावली

शब्दप्रमाणवेदाप्रो व्यक्तयन्तरं यत् ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सङ्करिता ॥

(२) काव्य विशेष-यस शब्द में एक तो समानधिकरण अर्थात् 'काव्य च विशेष्य' द्वारा अधिकरण अर्थात् 'काव्यस्य विशेष' ; काव्य और उसका विशेषता अथवा काव्य की विशेषता ये दोनों अर्थ यहाँ पर हो सकते हैं । आसय यह है कि जिस ध्वनि का काव्य का अर्थवाचकता ग्या है वह ऐसे शब्द और अर्थ की पीठ पर जाना चट्टिये जिनमें गुण भी विद्यमान हो और अलङ्कार भी (तथा जिनमें रीतियों और वृत्तियों का अनुसरण किया गया हो) काव्य विशेष शब्द के प्रत्यय करने का यही आशय है ।

बुद्ध होने का करना है कि यहाँ पर अन्य प्रमाणों के द्वारा द्वितीय अर्थ की प्रमा (दर्शयन्तुम्) हो जाने और यह किशो अर्थ की कल्पना के बिना उदाहरण नहीं हा रहा हा तो उसकी उदाहरण के लिए जिस अर्थान्तर की कल्पना की जाती है उसे अर्थान्तर कहते हैं । शब्द के अन्तर पर यहाँ इस प्रकार का उदाहरण समझ का जाती है उसे श्रुत्यर्थान्तर कहते हैं । यह मोक्षार्थ का मत है । जैसे माया शब्द देवदत्त दिन में नहीं सञ्जा । न खाने और भोजे शब्द होने का सामान्य अधिकार नहीं इन सञ्जा शब्दों को खाने नहीं यह मन्त्र शब्द होना जैसे देवदत्त की प्रमा से श्रुत्यर्थान्तर के द्वारा उसका रात्रिभोजन सिद्ध होता है । ध्वनिशब्दों के मत में यहाँ पर भी ध्वनि कही जायेगी । इस विषय में नेत्र (लौचनवाचक का) उदाहरण यह है कि अब हम काव्यविशेष की ध्वनि कहते हैं और काव्यविशेष का अर्थ है काव्य और उसकी विशेषता अथवा काव्य का विशेषता अर्थात् गुण और अलङ्कार से उपर्युक्त शब्द और अर्थ का अनुसरण करनेवाले काव्य की विशेषता हा ध्वनि कहलगा है और उसे ही काव्य की प्रमा काय है । इस प्रकार श्रुत्यर्थान्तर का सन्निवेश ध्वनि में कभी नहीं हा सकता ।

दूसरे उद्योतों में कहा जा रहा है कि 'यदि ध्वनि का यही रूप है और शब्द काव्य का अर्थवाचक मानते हैं तो उनका हा आशय यह हुआ कि वाक्य की प्रतीति ही काव्य की प्रमा सिद्ध हो ग्ये ।' नारा निराकरण है कि श्रुत्यर्थान्तर को काव्य की प्रमा मानने में हमें कुछ अनुमति नहीं है । यह भी केवल मनकल्प का विचार है । यह मत उसे अस्वीकार्य

लोचनम्

गुणीकृतामेति—आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्वार्थो व्याख्यात । न चैतदिति । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम् । प्राधान्यञ्च यद्यपि ज्ञप्ति न चकास्ति 'बुद्धौ तत्त्वाव-
मासिन्यां' इति नयेनाखण्डचर्चणाविधान्ते, तथापि विवेचकैर्ज्ञातितान्त्रेपणे
क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थं पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरण-
त्वादेव । ततो वाच्यादेव तदुपसृताश्चमत्कारलाभ इति । यद्यपि पर्यन्ते
रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखोभवति
स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेशार्थं सस्कृतं घावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता ।

गुणीकृतामा में आत्मा शब्द से स्वशब्द के अर्थ की व्याख्या की गई है । नचैतदिति ।
अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य । प्राधान्य यद्यपि ज्ञप्ति (रसप्रतीति) के अक्षर पर प्रकाशित नहीं
होता क्योंकि कहा गया है कि 'तत्त्वावमासिनी बुद्धि में ' इत्यादि नीति से अखण्ड चर्चणा
में ही विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचकों द्वारा जीवन का अन्वेषण किये जाने पर जब व्यङ्ग्य
अर्थ वाच्य का ही अनुप्राणन कर रहा होता है तब उसके उपकरण होने के कारण ही उसका
अलङ्कारत्व सिद्ध होता है । तब उससे उपसृत हुये वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है ।
यद्यपि पर्यन्त में रसध्वनि होती है तथापि मध्य कक्षा में निविष्ट वह व्यङ्ग्य अर्थ रसोन्मुख नहीं
होता स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ का ही संस्कार करने के लिये दौड़ता है, इस प्रकार इसकी
गुणभूतता कही गई है ।

साराधती

अलङ्कारा में जहाँ कहीं व्यङ्ग्यार्थ होता है वहाँ वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण स्थान का
अधिकारी होता है और ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है । यही अखण्डनामूलक अलङ्कारों में
ध्वनि काव्य से भेद है । ऊपर 'कहा जा चुका है' इस वाक्य में मूलकाल का प्रयोग किया
गया है इसका कारण यह है कि यह बात पिछली कारिका में कही गई है । कारिका में 'स्व'
शब्द का प्रयोग किया गया था जिसकी व्याख्या वहाँ आत्मा शब्द से की गई ।

यद्यपि रसान्तरादन के अक्षर पर प्रधानता का पता नहीं चलता, क्योंकि पहले ही यह
छाया जा चुका है कि 'तत्त्वोपेक्षिनी बुद्धि में उस अर्थ की प्रतीति एकदम ही जाती है जिससे
जिमी भी काव्य का पर्यवसान अखण्ड चर्चणा में ही होता है । और उसमें पीचीर्य का कुछ
भी अनुभव नहीं होता तथापि जब विवेचक लोग काव्य के जीवन का अन्वेषण करते हैं तब
तब ही मान्य पड़ता है कि जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अनुप्राणित कला है वहाँ पर व्यङ्ग्य
के वाच्यार्थ के सापेक्ष होने के कारण समासोक्त इत्यादि अलङ्कार हुआ करता है । क्योंकि
वहाँ पर वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ से उपसृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है । यद्यपि
पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है किन्तु वह व्यङ्ग्यार्थ मध्यकक्षा में सन्निविष्ट हो चुका होता
है । अब वह रसध्वनि की सहायता के लिये उन्मुख नहीं हो सकता । किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक

ध्वन्यालोक

यदप्युक्तम्— प्रसिद्धप्रस्थानातिव्यभिचारी मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनि-
नास्ति' इति, तदप्युक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवल न प्रसिद्ध, लक्ष्ये तु
परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयद्दयाह्लादकारि काव्यतरवम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवे-
त्यग्रे दर्शयिष्याम ।

(अनु०) जो यह भी वक्त गया था कि 'प्रसिद्ध प्रस्थान का अतिक्रमण करनेवाले मार्ग
में काव्यात् होता हा नहीं, अपणव ध्वनि की सत्ता होती नहीं' यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि
ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है लक्ष्य परीक्षा करने पर वही सहृदयों के हृदय
को आनन्द देनेवाला काव्यतर है । इसके अतिरिक्त अन्य सब चित्रकाव्य ही कहा जाता है,
यह भागे चलकर फिर बतलाया जायेगा ।

लोचनम्

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतु । तत एव हि ध्वनेन
लक्षणीयता । लक्ष्ये स्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतु । यच्च नृत्तगीतादिकल्प तत्काव्यस्य
न किञ्चित् । चित्रमिति—विस्मयकृद्ब्रत्तादिवशात् न तु सहृदयामिलणीय
चमत्कारसाररसनिःस्पन्दमयमित्यर्थ । काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेख
माश्रवाद्वा, कलामाश्रवाद्वा । अप्र इति ।

प्रधानगुणभावाम्या व्यङ्ग्यस्यैव ध्यवस्थितम् ।
द्विधा काव्य ततोन्वयत्तच्चित्रमभिधीयते ।

इति नृत्तीयोद्याते वक्ष्यति ।

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकारों में प्रसिद्ध होना विरुद्ध हेतु है । इसीलिये निम्नदेह मयत्र
पूर्वक लक्षण करना आवश्यक है । लक्ष्य में तो अप्रसिद्ध होना अप्रसिद्धहेतु है और जो नृत्तगीत
रत्नादि के समान है वह काव्य वा कुछ नहीं राता । चित्रमिति । विस्मयकारक वृत्त (छन्द)
रत्नादि के कारण (चित्रवाच्य) सहृदयों के द्वारा अभिलषणीय चमत्कार सार रस के निःस्पन्द
से युक्त नहीं होता । अथवा काव्य का अनुकरण करने के कारण चित्र कहलाता है या आलेख
मात्र होने के कारण या ब्रजनाम हाने के कारण । अग्रे इति ।

'ध्वन्य के प्रधान तथा गुण भाव से इस प्रकार दा प्रकार का काव्य व्यवस्थित है, उससे
भिन्न वा है वह चित्र कहा जाता है ।' यह सूचीय उद्योत में कहेंगे ।

सारावती

हो गया । आलोचकार ने विभक्त पर ध्वनेविषय 'इस वाक्य में जो विषय शब्द का प्रयोग
किया है उसका अर्थ है—'विनेयेन सिनोति ब्रजतीति विषय' अर्थात् जो ध्वने सम्बन्धी
वशार्थ को विशेष रूप से आनन्द कर ले अर्थात् अन्यत्र न होना ही विषय शब्द का अर्थ है ।
आशय यह है कि ध्वनि वा अपना स्वतंत्र क्षेत्र है उससे भिन्न स्थानों पर ध्वन शब्द का
प्रयोग नहीं पाया जाता । अतएव ध्वनि जना अनुभास इत्यादि से भिन्न है ।

लौचनम्

प्रमादुत्तम् । उपोदो राग सान्ध्योऽरणिमा प्रेम च येन । विलोलास्तारका
ज्योतीपि नेत्रविभागाश्च यत्र । तथेति । इत्यित्येव प्रेमरमसेन च । गृहीतमा
मासित परिचुम्बितुमाक्रान्त च । निशाया मुख प्रारम्भो यदनकोकनद धेति ।
यथेति । इदितिग्रहणेन प्रेमरमसेन च । तिमिर चाशुकाश्च सूक्ष्मांशवस्तिमिरोमुक
रश्मिशवलीकृत तम पटञ्ज तिमिरोमुक नीलजात्रिका नवोदाप्रौडवपूचिता ।
रागाद्भिन्त्वात् सान्ध्यवृत्तादनन्तर प्रेमरूपाश्च हतो । पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि
अप्रे च गलित प्रशान्त पतित च । तथा करणभूतया समस्त मिथितम्,
उपलक्षणत्वेन वा । न लक्षित रात्रिधारम्भोऽसाविति न ज्ञात, तिमिरसवलितां-
शुदर्शनं हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते ननु इषुट् भालोके । नायिकायथे
तु तपेति कर्तृपदम् । रात्रिपक्षे तु अपिशाब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तर । अत्र च
नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलन पतनम् । यदि
वा पुरोऽप्रे 'नायकेन तथा—गृहीत मुखमिति सम्बन्ध । तेनात्र व्यङ्ग्ये
प्रतातेऽपि न प्राधान्यम् । तथाहि—नायकव्यवहारो निशाशक्तिनावेव शृङ्गार
विभावरूपौ सङ्कुर्वाणोऽकृष्टारतां मजते, तलस्तु व्यङ्ग्याद्विभावार्थभूतादसन्नि-
वमश वहा गया है । उपोद (परिपृष्ट) राग अर्थात् साध्य अर्कणमा अथवा प्रेम है त्रिमके
दारा । विलोला (चञ्चल) है तारक अर्थात् तारे अथवा नेत्रविभाग जिसमें । तथा अर्थात् शीघ्र
ही अथवा प्रेम को उल्लुवठा में । गृहीत अर्थात् प्रकाशित कर दिया अथवा चुम्बन के लिये
आकाश कर दिया । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ अथवा मुख कमल । तथा अर्थात् शीघ्र ही
ग्रहण के द्वारा अथवा प्रेम की शीघ्रता से । तिमिर और अशुक अर्थात् सूक्ष्म बिरणें अर्थात्
किरण जाल से विचित्र किया हुआ तमपटल अथवा तिमिरोमुक अर्थात् नवीदा मौडवपू के
योग्य नील जात्रिका (नामगात्र में प्रसिद्ध नीलवर्ण का वस्त्र) 'रागात्' अर्थात् सान्ध्याकाल का
को हुई लाली के अनन्तर अथवा प्रेमरूप दृष्ट में । पुरोऽपि' अर्थात् पूर्व दिशा में और आगे ।
'गलितम्' अर्थात् प्रशान्त अथवा पतित । 'तथा' अर्थात् करणभूतरात्रि के द्वारा मिलाया हुआ
अथवा उपलक्षण के रूप में । 'न लक्षित' यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जान पाया । तिमिर
से संबन्धित बिरणों का देखने से छोके के द्वारा रात्रिमुख है यह लक्षित कर लिया जाता है
इषुट् भालोके में लक्षित नहीं किया जा सकता । 'नायिका के पण में 'तथा' यह कर्तृपद है,
रात्रिपक्ष में तो 'अपि' शब्द लक्षित इसके बाद आवेगा । वही पर पीछे से आये हुये नायक के
द्वारा चुम्बन के उपक्रम में सामने नीलांशुक का पतन अर्थात् गिरना । अथवा 'पुर' अर्थात्
'आगे नायक ने इस प्रकार मुख पकड़ लिया' यह सम्बन्ध है । इससे वही पर व्यङ्ग्य की प्रतीति
में अप्रधानता नहीं होती । यह इस प्रकार—नायक का व्यवहार शृङ्गाररस के विभाव रात्रि और
शब्द का ही संस्कार करते हुए अलङ्कारक का प्राप्त होता है और इससे विभाव रूप में रिपट

ध्वन्यालोक

यदप्युक्तम्—'कामनायकमनविवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिध्वेवान्तर्भाव' इति, शक्यमसमीचीनम्, वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जक-ममाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने कथमन्तर्भावः ? वाच्यवाचकचारुवहेतवो हि तस्याङ्गभूता, स त्वङ्गिरूप एवेतिप्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकरश्लोकश्राव-

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने ।

वाच्यवाचकचारुवहस्वन्त पातिता कुत ॥

(अनु०) को यह कहा गया था कि 'ध्वनि कमनायक का अतिक्रमण नहीं करता अर्थात् ध्वनि के द्वारा कमनायक की ही प्रतीति होती है अतएव ध्वनि का समावेश उक्त अलङ्कारांशिकों में ही हो जाता है' यह कथन भी समीचीन नहीं है । क्योंकि केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेनेवाले प्रसिद्ध काव्य प्रस्थान (गुण अलङ्कार इत्यादि मार्ग) में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के आश्रय से व्यवस्थित होनेवाली ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? यह भागे चन्द्रर प्रतिपादित किया जावेगा कि वाच्य वाचक की चारुता में हेतु अलङ्कार इत्यादि उस ध्वनि के अङ्ग होते हैं और ध्वनि अङ्गी होता है । इस विषय में परिकर श्लोक भी है—

ध्वनि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध के आश्रय होने के कारण वाच्यवाचकचारुव हेतुओं (अलङ्कारांशिकों) में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

जोचनम्

परिकरार्थं कारिकार्यस्याधिकारवाप कर्तुं श्लाकं परिकरश्लोक ।

परिकर के लिये अर्थात् कारिका के अर्थ की अधिकता को मासि के लिये श्लोक परिकर श्लोक होता है ।

सारावती

प्रथमता होने से वही हम चित्रवाच्य कहते हैं । इस सबका विस्तृत विवेचन तीसरे उद्योत की ४१ वीं कारिका (प्रधानगुणमात्रार्था०) की व्याख्या के अवसर पर किया जावेगा ।

अब तीसरा पद ठाँव में—इस ठाँव का कहना था कि यदि ध्वनि को चारुता का हेतु मान भी लें और वह गद्य, अर्थ, गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत सिद्ध भी हो जावे तो भी ध्वनि नाम की वही अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती । ध्वनि भी चारुताहेतुओं में एक है । अतएव चारुताहेतु अलङ्कार गुण राशि और वृत्तरूप प्रसिद्ध प्रस्थान में उसका भी समावेश कर देना चाहिये । किन्तु यह मन समीचीन नहीं है । प्रसिद्ध प्रस्थान तो केवल गद्य और अर्थ का ही सहाय लेकर स्थित होता है उस स्थान में ध्वनि का समावेश कैसे हो सकता है जिसका आश्रय व्यङ्ग्यार्थ होता है और जिसमें पद वाच्य इत्यादि अनेक प्रकार के व्यञ्जकों का समावेश रहता है । जब आश्रय ही भिन्न है तब दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? वास्तविकता तो यह है कि वाच्य और वाचक की चारुता में हेतु को प्रसिद्ध प्रस्थान है वह

सारावती

है। इस प्रकार सभी प्रतीयमान अथ अलंकार की कोटि में आ जाते हैं। इसी दृष्टि से जो शब्द यहाँ विचार किया जा रहा है।

यहसे समासोक्ति को ही से लीजिये। समासोक्ति का अर्थ है सगितवचन। सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अपस्तुत दोनों का वचन किया जाता है। किन्तु जब एक को ही कहकर दोनों का काम चलाया जाता है तब उक्ति को सगित करने के कारण उसे समासोक्ति कहते हैं। मामूह ने समासोक्ति की उगण इस प्रकार लिखा है— जिस वचन में समान विधेयों के कारण अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे अर्थ के सगित करने के कारण विद्वान् उगण समासोक्ति कहते हैं। इस परिभाषा में चार चरणों में उगण की चार बातें बतलाई गई हैं। 'जिस वचन में अन्य अर्थ की प्रतीति हो यह उगण का स्वरूप बतलाया गया है। समान विधेयों के होने से' यह हेतु है। 'यह समासोक्ति कही जाती है यह नाम और 'अर्थ के सगित होने के कारण' यह समासोक्ति शब्द की व्युत्पत्ति है। समासोक्ति में प्रस्तुत का वचन ऐसे ही शब्दों में किया जाता है जिनमें एक दूसरा अपस्तुत अर्थ स्वन अवभाषित होने लगता है और उस प्रतीयमान अपस्तुत अर्थ के साथ प्रस्तुत अर्थ का उपरान्तोपमेय भाव बन जाता है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने समासोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है —

समासोक्ति समैयं प्रकाशितविधेयौ ।

व्यवहारसमासात् प्रस्तुतेऽप्यस्य वस्तुन ॥२०-७४॥

अर्थात् जहाँ पर समान कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणों से प्रस्तुत पर अपस्तुत के व्यवहार का अयोग किया जाता है उसे समासोक्ति कहते हैं।'

समासोक्ति का जो उदाहरण दिया गया है उसका गमनानुसार यह है —

'परिवृद्धरागशाले चन्द्र ने विडालताराश्रीशाले निगामुत्र का इस प्रकार पकड़ लिया कि वससे भिलाषा हुआ पुरत गलित हुआ भी, निमिरांशुक उससे लीज न किया जा सका।'

यहाँ पर परिवृद्धराग, विशेषण ताराश्रीशाले, इस प्रकार, पकड़ लिया, निगामुत्र कि (यथा) निमिरांशुक पुरत रागवत्, गलित हुआ और उससे लीज न किया जा सका इन शब्दों का कुछ ऐसे ढंग से संयोग हुआ है कि इनमें नाशकनाशिका का कान्य व्यवहार भी अवभाषित होने लगता है। (१) राग का अर्थ है सन्धा की टाढी और प्रम। (२) विडाल ताराश्रीशाले का अर्थ है जिसमें नग्न टिमरिमा रह है और जिसकी पुगलिया सम्भोग की उच्छ्रिता में चञ्चल हो गई है। (३) इस प्रकार का अर्थ है नीच ही और प्रम के आने में भरकर। (४) पकड़ लिया का अर्थ है प्रकृति कर लिया और चुम्बन के लिये आकाश कर दिया। (५) निगामुत्र में मुग का अर्थ है मारग और मुख्यमठ (६) कि का अर्थ है नीच पकड़ लेने से और प्रम की उच्छ्रिता से। (७) निमिरांशुक का अर्थ है शून्य किरणों से सञ्चित तम पटल और निमिरांशुक अथवा नग्न जातिवा नाय का कामनाश में प्रतिद पकड़ कर आदि मोड़ नवाडा के परिधान के रूप में होता है। (८) पुरत का अर्थ है पूर्व

ध्वन्यालोकः.

ननु यत्र प्रतीयमानस्वार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मामूद्ध्वनेर्विषय । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्ता-पद्धतिदीपकमङ्गलद्वारादी, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तु-ममिहितम्—‘उपसर्जनीकृतस्वार्थो’ इति । अर्थो गुणोक्त्यात्मा गुणोक्त्याभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । ग्यङ्गवशाद्यन्ते हि ध्वनिः । न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति ।

{ अनु० } जिन अलङ्कार इत्यादिको में प्रतीयमान अर्थ को विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती हम नहीं कहते कि वे अलङ्कार इत्यादि ध्वनि का विषय हो सकते हैं किन्तु जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होता है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपङ्क्ति, दीपक और सङ्कर इत्यादि अङ्कारों में, वहाँ पर ध्वनि का अन्तर्भाव हो जावेगा । इसी का निराकरण करने के लिये कहा गया ‘उपसर्जनीकृतस्वार्थो’ । जहाँ अर्थ अपने स्वरूप की ओर शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है वह ध्वनि होता है । अतएव उन (वाच्यप्रधान) अलङ्कारों में (ग्यङ्गवान) ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? निरसन्देह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है । किन्तु वह वाद समासोक्ति इत्यादि में होती नहीं ।

लोचनम्

यत्रोत्पलङ्कारः । वैशद्येनेति । चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः । अमिहितमिति भूतप्रयोग आर्दी व्यङ्ग्य इत्यस्य व्याख्यातत्वात् ।

यत्र वा अर्थ है अलङ्कार में । वैशद्येन का अर्थ है चारुता तथा स्फुटता के साथ । ‘अमि-हितम्’ में भूतकाल का प्रयोग पहले ‘व्यङ्ग्य’ का व्याख्या किये जाने के कारण (किया गया है ।)

सारावली

नहीं होती, हम नहीं कहते कि उन अलङ्कारों में ध्वनि वा अन्तर्भाव मान लिया जावे । किन्तु जिन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट प्रतीत होता है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपङ्क्ति, दीपक सङ्कर इत्यादि । इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सफलतापूर्वक किया जा सकता है । मेरा निवेदन है कि शब्दों के निराकरण के चरम से कहा जा चुका है कि जहाँ पर अर्थ अपना शब्द दोनों अपने आपका और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बना देता है .. ‘जहाँ पर ध्वनि होती है ।’ अर्थ अपनी आत्मा को गौण बना देता है और शब्द अपने अर्थ को गौण बना देता है, इस अवस्था में अर्थ अपना शब्द दूसरे अर्थ का अभिव्यक्त करता है तब उसे ध्वनि कहते हैं । ऐसी दशा में अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

सारावली

'देखना' क्रिया के प्रति कर्ता हो सकना असम्भव है। इस प्रकार यहाँ पर शब्द (अभिधावृत्ति) के द्वारा ही नायक का व्यवहार मतीत होता है। अन्त नायक का व्यवहार भी अभिधावृत्ति गम्य ही है। नायक का व्यवहार व्यय नहीं है। इसीलिये यहाँ पर समासोक्ति मानो जाती है। किन्तु यह बचन ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या करनेवालों ने तो इस प्रय के अन्वय की ही छोड़ दिया कि 'समासोक्ति के उदाहरण 'उपोद्गारेण' इत्यादि पद्य में व्ययार्थ के द्वारा अनुगत होकर वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। यदि रात्रि को कर्ता मानकर वाच्यार्थ से ही नायकनायिका परक अर्थ की मतीति मानो जावेगी तो यह एकदेशविचरि रूपक हो जावेगा, समासोक्ति का उदाहरण नहीं हो सकेगा। जैसे शरत् के द्वारा ही रात्रिहस्तों से सरोवररूपी रामाश्री पर वायु की जा रही थी' इस वाक्य में 'सरोवररूपी रामा कहने से शरत् को चामरप्रसिद्धि और रात्रिहस्तों को चामर मान लिया जाता है। इस प्रकार यह एकदेशविचरि रूपक का उदाहरण हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में भी विचरि पर अनुक्त का आरोप करने के कारण शेष नायक इत्यादि का व्यवहार एकदेशविचरि रूपक हो जावेगा। क्योंकि फिर आरोप में विशेषणों की तुल्यता हेतु नहीं रहनी। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि जब 'समासोक्ति' के नामकरण में ही उक्ति शब्द का गण्य है तब दूसरा अर्थ उक्त ही होता चाहिये व्यय जैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि नाम में उक्ति शब्द अस्तुत्त अर्थ का अभिधेयता का बोधक है, अस्तुत्त अर्थ ता व्यय ही रहता है। इसीलिये भामह ने समासोक्ति का उदाहरण करते हुए प्रकृत के लिये 'उत्तौ' शब्द का प्रयोग किया है और अस्तुत्त के लिये 'अन्वोऽप्यौ गम्यते' यह लिखा है। गम्यते इस क्रिया के प्रयोग सामर्थ्य से ही अस्तुत्त अर्थ की अभिधेयता का निराकरण हो जाता है।

आलोचनार ने उदाहरण की व्याख्या करते हुये 'नायिकानायकव्यवहारयो' इस शब्द का प्रयोग किया है। 'नायिकानायक' में द्वन्द्व समास है और 'प्रमान् क्रिया' इस धातुनि धृत् से यहाँ पर एकेश्य हो जाता चाहिये। किन्तु यहाँ पर धृक् धृक् अर्थ दिया जाता है— नायिका का नायक में आ व्यवहार है वह निगा पर आरोपित कर दिया गया है और न विधा के प्रति नायक का भी व्यवहार है उसका चन्द्र पर आरोप कर दिया गया है। इस प्रकार की व्याख्या करने पर एकेश्य लागू नहीं होता। (इस विषय में पण्डितराम ने लिखा है कि 'निशासुप्तं सुषुप्तं चन्द्रकेशा' 'अहर्मुखा सुषुप्ति चन्द्रमातु' इत्यादि वाक्यों में यहाँ खोलीक और पुल्लिङ्ग का निर्देश नहीं होता वही नायिका और नायक का व्यवहार हो ही नहीं सकता। प्रकृत में तो खोलीक वाचक टाण् और प्रथमा के द्वारा प्रशुषुप्तं खीण्य और पुण्य से स्वाधिकरण में ही नायक्य और नायिकाय की अभिधायिता ही जाती है। इस निगा और टाणी में नायिकाय इत्यादि की सिद्धि सिद्ध विशेषणों के बल पर होती है। उक्ति का निराकरण भी एकेश्य इत्यादि के द्वारा ही हो जाता है। अर्थात् अस्तुत्त अर्थ का वाचन अहर्मुखायात्तार से ही होता है। इस प्रकार व्याख्या के माहात्म्य से ही अस्तुत्त वाच्यार्थ के

ध्वन्यालोक

समामोक्षी तावत्—

उपोदरागेय विलोलतारक, तथा गृहीत शशिना निशामुलम् ।

यथा समस्त तिमिराशुक्ल तथा पुरोऽपि रागाद् गञ्जित न लक्षितम् ॥

इत्यादी व्यङ्ग्येनानुगत वाच्यमव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित ।

शक्तिनायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ॥

(अनु०) समसोक्ति में ता —

‘परिपूज्य राग (हाठी अथवा प्रेम) से परिपूज्य चन्द्र ने विलोल ताराओं (नयनों अथवा पुत्रलियों) वाले रत्नी के मुख (प्राग्भ्य अर्थात् प्रदेश अथवा मुख) इस प्रकार पकड़ लिया कि रागवत् (हाठी के कारण अथवा प्रेम के कारण) उत्तका (नादिकारूपी रात्रि का) तिमिर रूपी वस्त्र सामने ही गिर गया किन्तु वह जान भी न सकी ।’

इत्यादि वाक्यों में व्यङ्ग्य से अनुगत होकर प्रधानतया वाच्यार्थ को ही मत लिखनी है । क्योंकि यहाँ पर वाच्यार्थ रात्रि तथा चन्द्रपरक ही है बिना पर नयक और नादिका के व्यवहार का आरोप कर लिया गया है ।

लोचनम्

समासोक्ताविति ।

यत्राक्षौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तासमानैविशेषणै ।

सा समासोक्तिरुदिता सक्षिसार्थतया युषै ॥

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हतुर्नाम तद्विचर्चनमिति पादुच्यते
समासोक्ताविति । ‘द्विस्त उक्ति में उसके समान विशेषणों के आधार पर अन्य अर्थ अलग होता है, समस्त अर्थ होने पर विद्वान् लोग उसे समासोक्ति कहते हैं ।’

यहाँ पर समासोक्ति का अर्थ स्वरूप, हेतु, नाम और उक्तका निर्वचन यह चार पादों में

तारावती

वाच्यार्थ के संस्कार की ओर ही दीखता है । इस प्रकार अनुसूतों में आने वाला व्यङ्ग्यार्थ गुणभूत व्यङ्ग्य की सीमा में आता है, ध्वनि वाच्य के क्षेत्र में नहीं आता । इस विषय में रसगङ्गाधरकार का कहना है कि ध्वनिकार से पहले मानह मद्योद्भूत इत्यादि ने ध्वनि गुणी मूलव्यङ्ग्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, केवल इनसे ही यह सिद्ध नहीं होता कि उन वाच्यों को ध्वनिसंज्ञान्त मान्य नहीं है । क्योंकि कितने ही गुणभूतव्यङ्ग्य के भेद तो सनामांकि, व्यावस्तुति, व्यस्तुव्यङ्ग्यता इत्यादि से गणार्थ हो जाते हैं और अत्रिना व्यङ्ग्यमर्याद है वह पर्यदोक्त को ध्वनि में निश्चित हो जाता है । अनुभव सिद्ध अथवा अस्मत् कोई वाक्य भी नहीं कर सकता । उनसे ध्वनि शब्द का व्यवहार न करने से ही उक्तका अनङ्गीकार व्यक्त

लोचनम्

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्य कान्या गति-
 स्तत्ताटकृतपितस्य मे त्वलमतिः सोऽय जलं गूहते ।
 अस्थानोपनतमकालसुखी नृप्या प्रतिशुष्य भोः
 त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गं पुनर्मार्गः ॥

अत्र कश्चिस्त्वैवकं प्राप्त प्राप्तम्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रयाशा-
 विशस्यमानहृदयं केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोधयते । तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण
 वाच्यस्यैवात्स्यपुरपमेवात्तद्वैफल्यतात्कृतीद्वेगात्मनः शान्तरसस्यायिभूतनिर्वेद-
 विभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम् ।

‘हे हे पान्य ! बिना ही अबसर टधा रमान के क्यों गिर गये हो ? इस प्रकार प्यासे मुझ-
 जैसे के लिये और सहारा ही क्या है ! किन्तु यह दुष्टबुद्धिवाला अपने जलों को छिपाता
 जाता है । बिना रमान के आई हुई तथा बिना अबसर के मुझ इस तुष्या के प्रति क्रोध
 करो, तीनों लोकों में प्रसिद्ध अपने प्रभाव की महिमावाला यह मार्ग तो नश्वर देश का है ।’

वहाँ पर कोई आया हुआ सेवक ‘रसते मासम्भ को मैं क्यों मास नहीं कर रहा हूँ’ इस
 प्रत्याज्ञा से विशेषमाणहृदय होकर किसी के द्वारा इस आक्षेप से समझाया जा रहा है ।
 उसमें निषेधात्मक आक्षेप द्वारा असह्य पुरुष सेवा और उसके वैफल्य से अल्पत्र भुये उद्वेगात्मक
 वाच्यता ही शान्तरस के रथायिमात्र निर्वेद की विभावरूपता होने के कारण चमत्कृति-
 दायित्व है ।

धारावती

(‘अव्यमृत’) विशेष अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा से जहाँ कवन के लिए अभीष्ट वा निषेध
 जैसा कर दिया जावे उसे आक्षेप कहते हैं । वह दो प्रकार का होता है वक्ष्यमाण (अनुक्त)
 विषय और उक्त विषय । वक्ष्यमाण (अनुक्त) विषय का उदाहरण जैते मर्यादोन्मुख प्रियतम
 से कोई नायिका कह रही है—

‘यदि मैं तुम्हें क्षण भर भी न देखूँ तो वाकण्टा के कारण ... अथवा इतना ही रहने
 दो, मैं तुमसे अधिक चाते क्यों बहूँ ।’

वहाँ पर ‘यदि मैं तुम्हें न देखूँ तो मर जाऊँ’ यह कहना अभीष्ट था, किन्तु ‘रहने दो,
 मैं तुमसे अधिक चाते क्यों बहूँ’ कहकर उसकी व्यग्रता की गई है । अर्थवाच्य ‘मर जाऊँ’
 की अपेक्षा वाच्यार्थ ‘क्यों बहूँ’ में अधिक सौन्दर्य है । अर्थवाच्य वाच्यार्थ को अन्तर्गतमात्र
 करता है, आतवादन में निहित वाच्यार्थ ही होता है । अतः वहाँ पर अर्थवाच्य ध्वनि के शब्द
 से बाहर हो जाता है और आक्षेप अलङ्कार कहा जाता है । उक्त विषय आक्षेप का उदाहरण
 जैसे भेदा ही (अमिनवगुण का ही) एव—

‘कोई सेवक किसी स्वामी की सेवा में सलग्न है जो कि धन इत्यादि देने में बरा
 ही श्रम है । दूसरा व्यक्ति समझावे हुए कृपण की सेवा से श्रम होने का निर्देश कर
 रहा है —)

लोचनम्

व्यन्द । यस्तु व्याघटे—'तया निशयेति कर्तृपद, न चाचेतनाया कर्तृत्वमुप-
पन्नमिति शब्दनैवात्र नायकव्यवहार उच्यतेऽभिधेय एव न व्यङ्ग्ये इत्यत एव
समासोक्ति, इति । स प्रकृतमव ग्रन्थार्थमयजद्व्यङ्ग्येनानगतमिति । एक
देशविवर्ति चेत्य रूपक स्यात्, 'राजहमैरवीज्यन्त शरदेव सरोचूपा' इतिवत् ।
न तु समासोक्ति, तुल्यविशेषणामात्रात् । गम्यत इति चानेनाभिधाय्यापार
निरासादिफलमवान्तरेण बहुना । नायिकाया नायक यो व्यवहार स निशायां
समारोपित, नायिकाया नायकस्य यो व्यवहार स शशिति समारोपित इति
व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्ग ।

वाच्य से रस प्रवाहित हुआ है । जिसने तो यह व्याख्या की—'तया' अर्थात् निशा के द्वारा
यह कर्तृपद है, अचेतन राशि वा कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता इस प्रकार शब्द से ही नायक
के व्यवहार का उन्नयन होता है अब यह अभिधेय ही है व्यङ्ग्य नहीं इसी से यहाँ पर
समासोक्ति है । उसने तो 'व्याच्य से अनुगत' इस प्रकृत अर्थ को ही छोड़ दिया । इस प्रकार
तो एकेश्वरविवर्ति रूपक ही जावेगा । जैसे—सरावरस्यै नृपो पर शब्द ही राजहमो से
पंथा मल रहो थी' । समासोक्ति तो नहीं होगी क्योंकि तुल्य विशेषण नहीं है । गम्यते रस
(भासक के) शब्द के द्वारा ही अभिधाय्यापार का निराकरण हो जाता है । अस्तु, अवान्तर
बहुत विस्तार की क्या आवश्यकता ? नायिका वा नायक में जो व्यवहार है वह निशा में
आरोपित कर लिया गया है, नायिका में नायक वा जो व्यवहार है वह चन्द्रमा में आरोपित
कर लिया गया है । इस प्रकार एकशेष का प्रसङ्ग नहीं आता ।

सारावर्ती

नहीं होता । यह दूसरा विचार है कि अलङ्कार ध्वनि प्रधान्य के कारण पर्यायोक्त की बुद्धि
में कैसे निवृत्त हो सकता है ? शब्दक ने अलङ्कार सवस्व में भी लिखा है कि 'पुराने आचार्य
प्रतीयमान अर्थ को वाच्योपकारक होने के कारण अलङ्कारपञ्चनिमित्त ही मानते हैं । पर्यायोक्त
शब्दादि में प्रतीयमान वस्तु के दो भेद विद्ये गये हैं—'रससिद्धये पराक्षेप परार्थ' स्वसमर्पणम्'
शब्द में भी भावानुसार दो ही प्रकार का माना है । रूपक शब्दादि में वपमा वाच्योपकारक
होती है । उल्लेखा प्रतीयमाना वही ही पद है । रसवत् शब्दादि में रम भाव शब्दादि को
वाच्योपकारक कहा ही गया है । इस प्रकार तीन ही प्रतीयमान अर्थ अलङ्कार हो सकते
हैं । प्रदिशारे-दुरात्र ने उल्लेखपत्राळां वा मत्र बहुत ही विग्रह रूप में प्रस्तुत किया है ।
उभका मार यह है कि जहाँ प्रतीयमानवस्तु वाच्योपकारक होती है वहाँ तो वह अलङ्कार
होती ही है जहाँ वह प्रधान भी होती है वहाँ भा गुणों के सौन्दर्य में द्रव्य होने के कारण
अलङ्कार शब्दी जा सकती है । प्रतीयमान अलङ्कार वा ता पर्यायोक्त से गतार्थ हो जाते हैं वा
उनकी प्रतीयमानता भी शीकार की जा सकती है । प्रधानीभूत रसादि की प्रतीयमानता में
रसवत् शब्दादि अलङ्कार बड़े ग्य हैं और उनकी गौणता में उदात्त अलङ्कार बतलाया गया

लोचनम्

धामनस्य तु 'उपमानाशेष' इत्याशेषलक्षणम् । उपमानस्य चन्द्रादेता-
क्षेप । अस्मिन् सति किं स्वया इत्यमिति । यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुमग किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं वृत्तौ यदि च तैः किं नाम नोलोत्पले ।
किं वा कीमलकान्तिमि किमन्वयैः सत्येव तत्राधरे
हो धानुः पुनरुत्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो प्रह ॥

धामन का तो 'उपमान के अक्षेप का आशेष बहुत है' यह लक्षण है । उपमान चन्द्र
इत्यादि का अक्षेप होता है । 'इसके हाथे हुये तुम्हारा क्या काम ?' इस प्रकार । जैसे—

'उसका वह सौम्य तथा सुन्दर मुख विद्यमान है ही फिर पूर्णिमा व चन्द्र की क्या
आवश्यकता ? सौन्दर्य का रघान यदि व दोना नेत्र है ही फिर उन लीलोत्पला की
आवश्यकता हा क्या ? उस अक्षर के होते हुये कीमल कान्तिवाले किमलया की क्या
आवश्यकता । आश्चर्य तथा खेद है कि ब्रह्मा बी का आग्रह पुनरुक्त वागुओं के रचनाक्रम में
अपूर्व ही है ।'

तत्रावर्ती

यद् निषेध विधिवाक्य है । इस प्रकार यहाँ पर अक्षेप अलङ्कार है । यहाँ पर दूसरा अलङ्कार
अपस्तुतप्रमाणा मी हा सकता है । अत्र इन दोनों का यहाँ पर संकट है । (स्यक के
अलङ्कारमर्षस्य पर विमर्शनी नामक टीका में अपरथ न लिखा है—'यहाँ पर स्वयम् अनुपान्त
होने के कारण अत्रिथान्त होकर निषेध विधि के अर्थ में अपने को समर्पित कर देता है । इस
प्रकार हमका लक्षणामूलकता सिद्ध हो गई ना कि 'परायं शपमर्षण' के रूप में कही गई
है । जैसा कि किमी न आशेष का लक्षण दिया है —

यत्र शपमर्षिभ्रान्ते परायं स्वसमर्षणम् ।

कुरुतेऽमी त आशेषो निषेधमैव मासतम् ॥'

उपमान में आशेष में चर तत्र कण्ठ्य है—'इस अर्थ, उसका निषेध, समझी मी
अपमर्षणा और अर्थात् विमर्ष का प्रतिपादन । हमने आशेष में न निषेध की विधि होती है,
न विद्वि का निषे र होता है, अर्थात् असत्य निषेध से विधि के अश्रित होने के कारण अक्षेप
होता है । यह आशेष मौलिक शब्द है ।)

यह ता हुई धामन के मत में अक्षेप अलङ्कार की बात । धामन उपमान के अक्षेप करने
को आशेष अलङ्कार मानते हैं । किन्तु यह बात कही जाती है कि अमुक वागु (उपमेव) के
होत्र हुए तुम्हारा (उपमान वा) क्या काम ? उसका उदाहरण यह होगा —

'सौन्दर्य और सौम्य से मुख उसका वह मुख विद्यमान हो है फिर पूर्णिमा के पद
की क्या आवश्यकता यदि सौन्दर्य का रघान के दोना नेत्र उभियन ही है फिर उन प्रसिद्ध
कीमलया की क्या आवश्यकता ? उस अक्षर के हाथ हुये मी कीमल कान्तिवाले किमलया

तारावती

दिशा में और आगे ही। (९) रागवत्स का अर्थ है—सन्ध्या की छाती के बाद में (क्योंकि सन्ध्या की छाती के अवसर पर ही अन्धकार नष्ट नहीं हो जाता वह उसके बाद में नष्ट होता है) और मैत्र के कारण। (१०) गलित का अर्थ है शान्त हुआ और गिर गया। (११) 'उससे' (तथा) में रात्रि के पक्ष में या तो वरण में तृतीया है या अक्षयणी में। (शक्यभूत कथने २।१।२६) इस परिणि सूर्य से जिसके द्वारा कोर वस्तु छिन्न हो जा सकती है वस्तुमें तृतीया ही जाती है। इस प्रकार रात्रि के पक्ष में 'उससे' लक्षित नहीं किया गया का अर्थ होगा कि सप्ताह यह भी नहीं सम्भव था कि अन्धकार गलित हो गया है क्योंकि अन्धकार से मिली हुई किरणों को देखकर सप्ताह रात्रिमुख को समझ जाता है किन्तु बालोके के स्पष्ट प्रकाश होने पर नहीं समझ पाता। नायिका के पक्ष में 'उससे' यह तृतीया विभक्ति वार्ता में मानी जावेगी। अतएव इस पक्ष में 'उससे' लक्षित नहीं किया जा सका का अर्थ होगा कि नायिका ने नहीं जान पाया कि उसका वस्त्र छूट कर गिर गया है 'मी'। शब्द का अन्वय रात्रि के पक्ष में 'लक्षित किया जा सका' के साथ होगा अर्थात् लोक ने जान भी नहीं पाया, नायिका के पक्ष में इसका अन्वय 'गलित हुआ' के साथ होगा अर्थात् नायिका ने गिरे हुए वस्त्र को भी नहीं जान पाया। इसी नायिका के पक्ष में 'पुर' का भी दो प्रकार से अन्वय लभ्य सकता है—'पोछे से आये हुए नायक ने नर चुम्बन का उपक्रम किया तो नायिका का नीला वस्त्र 'सामने ही' छूटकर गिर गया।' अथवा 'नायक' ने 'सामने ही' मुखको पकड़ लिया। यदि इन दोनों मतभेद और अवस्तुत भ्रमों का उपमानोपरमेयमान कल्पित किया जावे तो पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—'जिस प्रकार कोई नायक प्रेमोन्मत्त होकर पोछे से [अथवा सामने से] आकर चुम्बन करने के लिये किसी नायिका का मुख दबा ले, उस समय नायिका के नेत्रों की पुतलियाँ चञ्चल हो जायें, उसका विमिरांशुक पूर्णरूप से छूटकर गिर जावे और वह छुटे हुए वस्त्र को भी न जान सके, उसी प्रकार छाती से लेकर चन्द्र ने रात्रि के प्रारम्भ को प्रकाशित कर दिया, उस समय नक्षत्र टिमटिमा रहे थे, रात्रि के कारण किरणों के जाल के साथ जो तमपटल सम्बलित हो रहा था वह भी शान्त हो गया, किरणों के तमपटलसम्बलित होनेपर जो लोग जान सकते थे कि यह निशामुख है किन्तु चन्द्रमा के प्रकाश से रात्रि के अगमना उठने पर कोई जान भी न सका कि यह निशामुख है।' इस प्रकार यहाँ पर अन्वयार्थ प्रतीत होकर भी प्रमाण नहीं बन सका। कारण यह है कि यहाँ पर सन्ध्या वर्य विषय है। चन्द्र और निशा शब्दाएँ रात्रि के विभाव हैं। उनपर नायक और नायिका के वृत्तान्त का आरोप कर लिया गया है। इस प्रकार नायक-नायिकापरक अन्वयार्थ चन्द्रनिशापरक वाक्यार्थ का संस्कार करते हुए अलंकाररूपता को धारण कर लेता है उसके बाद विभाव रूप में स्थित वाक्यार्थ से ही रस प्रवाहित होता है।

कुछ लोगों ने (सम्भवतः चन्द्रिकाकार ने) इस सन्दर्भ को व्याख्या इस प्रकार की है— 'रात्रि के पक्ष में भी 'उससे' मिथ्या हुआ विमिरांशुक रागवत्स पुरन गलित हुआ भी लक्षित न किया जा सके' यह कर्तव्य अर्थ ही करना चाहिये। रात्रि अर्थात् रात्रि, अतः उसका

ध्वन्यालोकः

पथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तापुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृश्यापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि श्यङ्गप्रतीतौ घाच्यस्यैव चाह्वयनुरूपवदिति तस्यैव-
प्राधान्यविवक्षा ।

(अनु०) कैसे—सन्ध्या अनुरागवती है और दिवस उसके आगे चठनेवाला है ।
आश्चर्य है वह वैसी दैवगति कि फिर भी समागम नहीं होता ।'

यहाँ पर यद्यपि श्यङ्ग की प्रतीति होती है । तथापि वाच्य की वास्ता ही रत्नों का
आधान करनेवाली है । अतएव यहाँ पर वाच्यार्थ की ही प्रधानता निश्चित है ।

छोधनम्

अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—अनुरागवतीति । तेनाक्षेपप्रमेयसमर्पणमेवा-
परिसमाप्तमिति मन्तव्यम् । तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिद्वयलोकः पठितः ।

इसी में प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—अनुरागवती इत्यादि । इससे आक्षेप के प्रमेय का
समर्पण ही परिसमाप्त नहीं हो पाया है यह मानना चाहिये । वहाँ पर उदाहरण के रूप में
समासोक्ति का श्लोक पढ़ा गया है ।

सारावती

(उपमान) की रचना क्यों की गई, यह कहकर जो उपमान आशित किया जाता हैवह
उपमान के प्रतिवृत्तवर्ती उपमेय होने के कारण मग्नोप बलद्वार कहा जाएगा ।' अतएव काश्च
प्रकाशकार के मत में यहाँ पर प्रतीप बलद्वार होगा भास्ये नहीं ।)

वामन के 'उपमानाक्षेप' का यह भी अर्थ हो सकता है कि वहाँ पर उपमान का आक्षेप
किया जावे अथवा उपमान को सींचकर निकट लाया जावे । जैसे—

'अपने श्वेत वर्ण के सेवों में (अथवा गोरे रंग के शत्रुओं में) जावे नरुत्त के समान
इन्द्रधनुष को बारण किये हुए और बलद्वार से युक्त चन्द्र को मसन्न करती हुई बारद्वार ने
सूर्य के ताप को और अधिक बढ़ा दिया ।'

यहाँ पर सूर्य के लिये ईर्ष्याकृतित्व किसी दूसरे नारक का उपमान आशित कर लिया
गया है और बारद्वार के लिये पुश्तली नायिका के उपमान का भास्ये कर दिया गया है ।
आशय यह है कि बारद्वार में श्वेत बादलों में इन्द्रधनुष की रेखा पहा हुई ऐसी दोगिन्द्र
हो रही थी जैसे किसी नायिका के गौरवर्ण के लनों में लगी हुई लानी नखरेखा हो । उस
बारद्वार ने चन्द्र को अत्यन्त मसन्न (निर्मल) बना दिया था जैसे कोई नायिका किसी
बलद्वारी (श्यमिचारी) कानी को आनन्द दे रही हो । उस बलद्वार में सूर्य की गर्मी इतनी बढ़
गई जैसे कोई दूसरा नारक यह देखकर उत्तप्त हो जाता है कि उसकी प्रेयसी किसी दूसरे

ध्वन्यालोक

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाधिक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव जायते । तथा हि—नत्र शब्दोपाख्यो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेप स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्यया, प्राधान्यविवक्षा ।

(धनुः) आक्षेप में भी यद्यपि वाक्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ विशेष वा आक्षेप कर दिया जाता है, तथापि चारुता वाक्यार्थ में ही होती है क्योंकि प्रधान वाक्यार्थ की पूर्ण आशित उक्ति की शक्ति से ही हुआ करता है । यह इस प्रकार विशेष रूप से जिस बात के कहने की इच्छा की गई हो और शब्द के द्वारा उसका प्रतिषेध रूप आक्षेप कर दिया जाये ता वह एक विशेष व्यङ्ग्यार्थ को आशित कर मुख्य रूप से काव्यशरीर (आख्य'द का विषय) बन जावेगा । निरसन्देह वाक्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता उसी की मानी जाती है जो सौन्दर्य में कारण हो ।

लोचनम्

आक्षेप इति ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्तया ।

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

तत्रागो यथा—

अहं रवा यदि नेक्षेयं क्षणमप्युरमुका तत ।

इयदेवास्त्वतोऽभ्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधारमाक्षेप । तत्रेयदस्त्वियेतदेवात्र प्रिये इत्याक्षिपरसंचारुचनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृत सत्प्रधानम् । उक्त-विषयस्तु यथा ममैव—

आक्षेप इति । 'विशेष अभिधान को इच्छा से जो शब्द का प्रतिषेध किया जाता है । वह वक्ष्यमाण तथा उक्त विषय दो प्रकार का आक्षेप होता है ।'

उसमें पहला जैसे—'यदि मैं तुम्हें क्षण भर भी न देखूँ तो उबक्या से .. अथवा इतना ही रहने दो उस अभिय बात के कहने से क्या !' यह वक्ष्यमाण माणविषयक निषेध'मक ही आक्षेप है ।

उसमें इतना ही बही बही पर 'मर जाऊँ' या इसका आक्षेप करते हुये वाक्य का निबन्धन हो जाता है, इस प्रकार आक्षेप्य से अनुरत आक्षेपक प्रधान है । उक्त विषय जैसे मेरा ही—

तारावती

तारावती के साथ शत्रु वाक्यार्थ अचरित होना है । यह गुणाभूत व्यङ्ग्य का भेद है इस बात को भीकार करना एक रमण य मार्ग है । }

अब आक्षेप को तीनविधे । आक्षेप ने इसका लक्षण और विभाजन इस प्रकार किया है—

ध्वन्यालोक

यथा च दीपकापहस्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वाच्च तथा षष्पदेशस्तद्वदत्रापि प्रष्टव्यम् ।

(अनु०) जिस प्रकार दीपक और अपहृति इत्यादि में व्यङ्ग्य के रूप में यद्यपि उपमा की प्रतीति होती है तथापि प्रधानता उसकी विरक्षा न होने के कारण उपमा के नाम से उसे अभिहित नहीं किया जाता उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये । (आशय यह है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा की व्यञ्जना होती है, किन्तु प्रधान न होने के कारण उसे उपमा न कहकर विभिन्न नामों से पुकारते हैं । इससे सिद्ध होता है कि जो प्रधान होता है नाम उसी का लिया जाता है ।)

कोचनम्

एष प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा षष्पदेशोऽपि प्राधान्यकृत एष मवतीत्यत्र दृष्टान्त स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः । तयोप्युपमया । दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषय त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणात् ।

इस प्रकार प्राधान्यविवक्षा में दृष्टान्त कहकर नामकरण भी प्राधान्य के आधार पर ही हुआ करता है; इस विषय में स्वपरप्रसिद्ध दृष्टान्त यह रहे हैं—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानोपमेयभाव का । 'तथा' का अर्थ है उपमा के द्वारा । दीपक में तिस्रन्देश 'आदि मध्य और अन्त विषय में तीन प्रकार का दीपक रहै' यह उक्त है ।

तारावती

है । आठोक्कार ने आशेष अलंकार का परिचय मात्र दिया है और उसमें व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ के समशीलनाधिक्य का प्रतिपादन किया है । इसके बाद आठोक्कार ने यह वाक्य लिख दिया कि 'वाच्य और व्यङ्ग्य की प्राधान्यविवक्षा आशेष के लक्ष्य के अर्थात् होती है ।' प्रस्तुत पद्य इसी वाक्य का उदाहरण है । बालर में मूल में आशेष का उदाहरण दिया ही नहीं गया है और आशेषोक्त का समर्पण ही समस्त नहीं हो पाया है, यही यहाँ पर संशङ्का चाहिये । यहाँ पर उदाहरण के रूप में समासोक्ति का पद्य उद्धृत किया गया है । (२) यह उदाहरण नामन के अनुसार आशेष का हो सकता है और भाग्य के अनुसार समासोक्ति का । यही करने उद्यम में समझकर प्रत्येक ने युक्तिपूर्ण समासोक्ति और आशेष दोनों का पद्य ही उदाहरण दे दिया है । चाहे यह आशेष माना जाने चाहे समासोक्ति, इससे भ्रमों विशेष प्रयोजन नहीं । इस प्रय का यहाँ पर यही आशय है कि अलंकारों में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की दृष्टि से सर्वथा शीघ्र हो जाता है । यही यहाँ पर हमें (प्रत्येक को) सिद्ध करना है ।

तारावती

'व्यक्ति—हे पयिक ! क्यों तुम यहाँ वहाँ जल पीने की इच्छा से इस मरुदेश में आ पड़े हो !' (यनागा से इस कृष्ण की शरण में आ गये हो जहाँ तुम्हें एक पैसे की भी आशा नहीं ।) पयिक—'इस प्रकार व्याम से पीड़ित मुझ जैसे व्यक्ति के लिये और आश्रय ही क्या है ! (मैं इस समय धनलिप्सा से अत्यन्त उद्भिन्न हो उठा हूँ । इसीलिये और कोई आश्रय न होने के कारण वहाँ आया हूँ ।) किन्तु यह दुष्ट बुद्धिवाला मरुदेश अपने जलों का सञ्चय ही करता चला जाता है । (यह दुष्ट धनिक अपने धन का छिपाने में ही अपना कल्याण समझता है ।) व्यक्ति—तुम्हें तो अपनी लृष्णा के प्रति क्रोध करना चाहिये जो सवदा ऐसे ही बुरे अक्षर पर आती है जब कि उसके अनुकूल जल मिलना असम्भव हो जाता है । मरुदेश के मार्ग का क्या दाश ! इसकी जलसञ्चय विषयक महिमा और प्रभाव ता सभा कोद जानता है । (तुम्हें अपनी धनलिप्सा के प्रति ही क्रोध करना चाहिये । इस धनिक की कृष्णता ता प्रसिद्ध ही है ।)

•इस पद्य में कोई व्यक्ति इस आश्रय के द्वारा किसी ऐसे सेवक की समझा रहा है जो कि किसी स्वामी के पास आया है और जिसका हृदय प्रतिष्ठाप्य इस आशा से टूट रहा है कि उसे अपने स्वामी से प्राप्त वस्तु क्यों नहीं मिल रही है । यहाँ पर असत्पुरुष की सेवा और उसकी विफलता निमाव है, चित्त में उत्पन्न होनेवाले उद्वेग के कारण उत्पन्न वैवर्ष्य इत्यादि अनुभाव हैं । इस प्रकार शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद व्यक्त होता है । आश्रय के द्वारा असत्पुरुष की सेवा से पूषकू करना ही यहाँ पर मुख्य वक्तव्य है जो कि व्यञ्जनावृत्ति से आश्रित होता है ; तम व्यंग्यार्थ के द्वारा उपकृत होकर वाच्यार्थ ही चमकृति को प्रदान करनेवाला हो गया है । आशय यह है कि उक्त पद्य में मरुभूमि का अर्थ वाच्य है और असत्पुरुष का अर्थ व्यंग्य है । इस व्यंग्यार्थ से उपकृत होकर वाच्यार्थ निरद का आस्वादन करने में कारण होता है । अत्र वही प्रधान है ।

संगेय में आश्रय जलशुद्ध वहाँ होता है जहाँ प्रकरण के अनुसार किसी बात को कहना अनिश्चय हो गया हो, किन्तु उसमें किसी प्रकार की विवेचना का आधान करने के लिये उसका निषेध कर दिया जावे । यह निषेध किसी बात को बिना कहे हुए ही इस रूप में हो सकता है कि सुननेवाले के लिये उमका विविपरक ताप्यं स्पष्ट हो जावे, किसी बात को आंगिक रूप में कहकर शान्त अंग का निषेध भी हो सकता है, किसी बात का पूर्णरूप से कहकर उस वस्तु का भी निषेध हो सकता है और सब कुछ कहकर कथन का भी निषेध हो सकता है । विषयता का आधान करने के लिये भिन्न अर्थ का आश्रय किया जाता है वह वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करता है और आस्वादन का परवसान वाच्यार्थ में ही होता है । उक्त उदाहरण में कृष्ण व्यक्ति को अनुदारता को अधिकधिक स्पष्ट करना प्रवरणमात्र है, जो कर तो दिया गया है किन्तु उसकी निश्चय करने का निर्देश भी दे दिया गया है ।

शोचनम्

मणि शान्गोह्रीडः समरविजयी हेतिदलित
 कञ्जरोषध्वन्द् सुरतमृदिता बाटललना ।
 मदक्षीणो नाग शरदि सरित श्यानपुलिनाः
 तनिम्ना शोमन्ते गलितविमवाक्षार्थिपु जना ॥

इत्यत्र दीपनकृतमथ चारुत्वम् । 'अपहृतिरमोष्टस्य किञ्चिद्व्यंगतोपमा' इति
 तत्रापहृत्यैव शोभा । यथा—

नेय विरौति भृङ्गाक्षी मदेन मुखरा मुहु ।
 अयमाहृष्यमाणस्व कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥ इति ॥

'शान्तर विष्ठी हुई मणि, अक्ष से दलित विद्या हुआ समरविजयी, कञ्जरोष ध्वन्, सुरत में मसली हुई बाटललना, मद से क्षीण हाथी, शरद काठ में तट से झूटी हुई नदी ये अपनी
 इशाना से ही शोमित होते हैं, वही मकार वाचकों में नरविमव व्यक्ति भी ।'

यहाँ पर चास्त्र दीपन से ही उत्पन्न हुआ है । 'अमोष्ट की किञ्चिद् व्यंग्य उपमा को
 अपहृति कहते हैं' । यहाँ पर अपहृति (छिपाने की क्रिया) से ही शोभा होती है । जैसे—
 'मद से मुखर यह मृङ्ग पक्षि बार-बार गुन्जार नहीं कर रही है, यह तो आहृष्यनाप
 कामधनुस् की ध्वनि है ।'

तारावली

परवर्ती आचार्यों को न तो यह लक्षण ही रुचिकर हुआ और न विभाजन ही । अस्तु
 विभाजन ऐसा होना चाहिये जिससे चमत्कार में कुछ अन्तर पड़े । दाब्द के आदि, मध्य
 अथवा अन्त में स्थित होने से विच्छित्ति की विशेषता में कोई अन्तर नहीं आता । अतएव
 परवर्ती आचार्यों ने इस विभाजन को दुर्बल दिया । दीपक की व्याख्या भी नये रूप में की
 गई । जिस प्रकार मत्सदा पर प्रकाश करने के लिये दीपक जलाया जावे और वह दाब्द के
 मार्ग को भी प्रकाशित कर दे वही प्रकार किसी अस्तु के लिये प्रयुक्त किया गया कोई दाब्द
 अहाँ अपहृत्य से भी अन्वित हो जावे उसे दीपक अलंकार कहते हैं । यही परिभाषा काव्य
 मकरा में भी अपनार्थ गई और वही को साहित्यदर्पणकार इत्यादि ने भी स्वीकार किया ।
 काव्यमकराकार ने लिखा है कि—'अहाँ प्रकृत और अग्रकृत के धर्म का एकत्र उपादान ही
 उसे दीपक कहते हैं और साहित्यदर्पण में लिखा है—'अस्तु और अस्तु के अग्रधर्मों
 सम्बन्ध को दीपक कहते हैं ।' अस्तु और अस्तु ने भी दीपक में उपादानता अन्वित
 की है ।)

दीपक का उदाहरण यह है—

'शान्तर विष्ठी हुई मणि, अक्ष के द्वारा पायल किया हुआ विजेता और, कञ्जरोष
 ध्वन्, सुरत में मसली हुई बाटललना, मद से क्षीण हाथी, शरदकाठ में तट से झूटी हुई

बोचनम्

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमायौ वाच्यस्यैवोपस्कृते । किं तेन कृत्यमिति स्वपहस्तनारूप आश्रयो वाच्य एव चमत्कारकारणम् । यदि वीपमानस्याश्रयः सामर्थ्यादाकर्षणम् । यथा—

ऐन्द्र धनुः पाण्डुरावोभरेण शरद्वानाङ्गनत्वज्ञगामम् ।

प्रमादपन्ती सकलद्वन्द्विन्दुं ताप रवेरभ्यधिकं चकार ॥

इत्यत्रैव्यांकल्पितनायकान्तरमुपमानमाश्रितमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोती-
त्येवा तु समामोक्तिरेव । उदाह—चारुचोत्कर्षेति ।

यहाँ पर व्यंग्य भी उपमा का अर्थ वाच्य का ही अकार करता है 'उसकी आवश्यकता ही क्या ?' यह निराकरण रूप आश्रय वाच्य में ही चमत्कार का कारण है । यथा उपमान का आश्रय अर्थात् सामर्थ्य से आकर्षण । जैसे—

'शरद ने पाण्डुरावोभर के द्वारा आङ्गनत्वज्ञ के समान ऐन्द्र धनुष को धारण करते हुये उमा सकलद्वन्द्व चन्द्र को प्रसन्न करते हुए सूर्य के सन्तान को अधिक कर दिया ।'

यहाँ पर 'ऐन्द्रांकल्पित दूसरे नायक को उपमान के लिए आश्रित करते हुए भी वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत करती है, एष मकार यह समामोक्ति ही है । श्लोठिये कह रहे हैं चारुचोत्कर्षनिबन्धन इत्यादि ।

सारावली

कौ क्या आवश्यकता ? दुःख को बात है कि ब्रह्मावी का पुनरुक्त वस्तुओं के निर्माण करने का एक विविध दुरामह बना हुआ है । (जब उनमें भी अधिक सुन्दर वस्तुयें नायिका के अंगों के रूप में विद्यमान हैं तो फिर उन अनुवादित निष्ठ वस्तुओं को रचना दुरामह-मान है ।)

यहाँ पर 'सुख पूर्णवन्दे के समान है' इस उपा की व्यञ्जना होती है । यह व्यङ्ग्य-उपा वाच्य को ही अलङ्कृत करती है और वाच्य ही चमत्कार में कारण होता है । यहाँ पर वाच्यार्थ है 'चन्द्रमा की आवश्यकता ही क्या है' यह है उसकी अपहस्तता वा अनार रूप आश्रय । यह वाच्यार्थ ही चमत्कार का अधिक पोषक है, व्यङ्ग्य उपा नहीं ।

(यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि इन व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों के विषय में प्राचीन और नवीन आचार्य एकमत नहीं हैं । रामन के अनुसार यहाँ पर उपमान का आश्रय अनार आशेराजकार माना गया है किन्तु काव्यप्रकाशकार इत्यादि के मत में यहाँ पर प्रतीव अलङ्कार होगा । काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—इसका (चन्द्र इत्यादि का) पूरा मार लो (सुख इत्यादि) वरमेय ही अधिक मीढ़ता से बहन करने में समर्थ है फिर अमुक नरु

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीयं गृहीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्तनिमित्तापामपीति ।

इससे दो प्रकारों की अवधारणा करके सूत्रों प्रकार की आशंका धर रहे हैं—'अनुक्त निमित्तापामपि' इत्यादि ।

वाराचरी

नदियों, ये सब अपनी वृक्षात्ता में ही शोभित होते हैं तथा वाचरों को दान देने के कारण विमल से रिक दुप पुरुषों की भी शोभा अपनी अविश्वन्ता में ही होती है ।'

यहाँ गणितविमल पुरुष प्रस्तुत है और दात पर चित्ती हुई मणि इत्यादि अमस्तुत है । इनका उपमानोपमेयमान व्यक्त होता है । किन्तु इसे उपमात्कार के नाम से कोई नहीं पुकारता क्योंकि यहाँ पर सादृश्य के कारण उपमाकार की प्रतीति नहीं होती अपितु इदने अमस्तुतों के एक साथ दोषन के कारण चारुता की प्रतीति होती है । इसीलिये इसे दोषक के नाम से अभिहित किया जाता है । यही बात अपद्धति के विषय में भी कही जा सकती है । मामह ने अपद्धति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

अपद्धतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।

मृत्स्पर्शरश्मिवात्स्वराः क्रियते चरन्तिश्च यथा ॥

अर्थात् अभीष्ट को नहीं छिपाया जाता है और नहीं पर कुछ उपमा अन्तर्भूत होती है उसे अपद्धति कहते हैं, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण इसका यह नामकरण किया गया है । मामह ने ही अपद्धति का यह उदाहरण दिया है—'यह मरसे मुषार भ्रमरपक्षि बार-बार गुञ्जार नहीं कर रही है किन्तु कामदेव के खींचे जाते हुये धनुष की मत्पश्चा सुनारें पड़ रही हैं ।' इस अपद्धति में भी 'भ्रमरपक्षि कामदेव के धनुष की मत्पश्चा के समान है' यह उपमा व्यक्त होती है किन्तु सौन्दर्य उपमा में नहीं अपद्धति में है । इस पूरे मन्तरण का आशय यही है कि जिस प्रकार दोषक और अपद्धति में उपमा की व्यवस्था होते हुये भी कोई उन्हें उपमा के नाम से नहीं पुकारता क्योंकि सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा में नहीं दोषन और अपद्धन में होता है । इसी प्रकार यद्यपि समासोक्ति और आशेष भ्रमरपक्षि रहता है तथापि उसे कोई ध्वनि नहीं कह सकता क्योंकि यहाँ पर चारुनिश्चितरूप माधान्य वाच्य में रहता है स्पष्टय में नहीं ।

यहाँ तक यह सिद्ध किया जा चुका कि ध्वनि का अन्तर्भाव आशेष और समासोक्ति में नहीं हो सकता । अब अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति को छीजिये । मामह ने विशेषोक्ति का यह उदाहरण दिया है—

'(कारणसमूह के) एक भाग के कम हो जाने पर जो किसी विशेषता को व्यपिप्त करने के लिये हमारे गुणों को मरसा की जाती है, उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।' दण्डी ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

लोचनम्

अहो ईवगतिरिति । गुह्यपात्रसम्बन्धादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः । तस्यैवेति । वाच्यस्यैवेति यावत् । वामनामिप्रायेणायमाशेषः, मानहानिप्रायेण तु समा-
मोक्षितित्यनुशास्य हृदये गृह्णात्वा समामोक्त्याशेषयो युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं
व्यतरन् प्रत्यक्षम् । एषापि समामोक्षित्वास्तु आशेषो वा, किमनेनात्माकम् ।
मर्त्यपात्रद्वारांशु व्यङ्ग्य वाच्ये गुणमिबतीति न साम्यमित्यत्रायमोऽत्र प्रत्ये-
ऽम्भद्वाराभिनिर्दिष्टम् ।

अहो ईवगतिरिति । गुह्यपात्रसम्बन्ध इत्यदि के निमित्त समगम का अभाव है, यह वाच्य है। तस्यैवेति । अर्थात् वाच्य का ही । वामन के अभिप्राय से यह आशेष है, मानह के अभिप्राय से ना यह समस्तोक्ति है । इस वाच्य को हृदय में रखकर समामोक्ति और आशेष का प्रत्यक्ष न युक्ति से एक ही उदाहरण दे दिया है । यह भी समस्तोक्ति हो वा आशेष, इससे हमारा क्या प्रयोजन ? सर्वथा अटकदारों में व्यङ्ग्य वाच्य में गुणोद्भूत हो जाता है, यह हमारा वाच्य है । यहाँ पर यहाँ प्रत्यक्ष का अभाव है जो कि इनारे गुह्यो ने निरूपित किया है ।

तारावती

काना को मानन्द दे रही है । यहाँ शब्द और सूत्र के लिये नविका और ईर्ष्याकल्पित हमारे नवक का यपि अर्थो हो जाता है तथापि यह वाच्यार्थ को ही अटल्य करता है और वाच्यार्थ ही सौन्दर्य में कारण होगा है । इस प्रकार यह जो वामन के मन में आशेष का उदाहरण दिया गया है वह मानह के मन में समस्तोक्ति हा होगी । इही सब बातों को ध्यान में रखत हुए अटकेकर ने कहा है कि समस्तोक्ती के उत्कर्ष के अन्तर् पर ही वाच्य और व्यङ्ग्य की मरनता का कथन अमष्ट होता है ।

यहाँ पर अटकेकर के दिये हुए उदाहरण पर विचार किया जा रहा है । अटकेकर ने यह उदाहरण दिया है —

‘सम्बन्धा अनुगम से मरी हु है और दिन समके अगेआगे चलता है, फिर भी देखो मर्यचक किन्तु विविध है कि दोनों का समागम नहीं होता ।’

यहाँ पर वाच्य के लिये नविका का आशेष कर लिया जाता है और दिन के लिये नवक का । नविका प्रेम से मरी हु है और नवक भी जानने ही है किन्तु गुह्यपात्रसम्बन्ध इत्यदि कारण से समागम नहीं हो रहा है । यद्यपि इस व्यङ्ग्यार्थ को यहाँ पर अमष्टि होंने है, तथापि सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में हा होता है । अर्थात् वाच्यार्थ की मरनता यहाँ पर कही जोगी ।

अब यहाँ पर विचार करने की बात यह है कि अटकेकर ने जो उदाहरण दिया है वह वाच्य में आशेष अटकदार का उदाहरण नहीं हो सकता । अर्थात् लोचनकार ने इसको सत्य सिद्धने के लिये जो उदाहरण दिए हैं (१) अमष्ट उदाहरण आशेष अटकदार का नहीं

छोषनम्

व्यङ्ग्यस्येति—श्रीतकृता स्वत्वार्तिरिति मद्भोद्भट । सद्भिप्रायेणाह—न एव्य काचिच्चारस्वनिष्पत्तिरिति । यत्तु रसिकैरपि निमित्त कस्यिदम्—‘कान्तासमागमे गमनादपि छुत्तस्मुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागामबुद्ध्या संकोचं नात्यजत्’ इति तदपि निमित्त चारस्वहेतुतया नालङ्कारविद्धि. कल्पितम्, अपितु विशेषोक्तिमाग एव न शिथिलव्यतीत्येवभूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चास्वहेतु । अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेव न भवेत् । एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या प्रन्यवृन्त्यरूपयद्य त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण प्रन्यो व्यवस्थित इति मन्तव्यम् ।

‘व्यङ्ग्यस्य’ इति । निरसन्देह यहाँ पर श्रीतकृत वाति निमित्त है यह मद्भोद्भट ने लिखा है, उस अभिप्राय से कह रहे हैं—यहाँ पर कोई चारस्व की नियति नहीं है’ इत्यादि । जो कि रसिकों ने निमित्त की कल्पना की ‘कान्तासमागम के विषय में भी गमन की अपेक्षा भी स्वप्न को छुत्तुर उपाय मानने हुए निद्रागम की बुद्धि से संकोच को नहीं छोड़ा । वह भी निमित्त चारस्वहेतुता के रूप में भलङ्कार शास्त्रवेत्ताओं ने कल्पित नहीं किया है अपितु ‘शिथिल नहीं करता’ इस प्रकार का विशेषोक्ति माग ही अभिव्यज्यमान निमित्त से उपस्कृत होकर चारस्व में हेतु होता है । नहीं तो यह विशेषोक्ति ही न हो । इस प्रकार दोनों अभिप्रायों को सम्भारणोक्ति से प्रन्यकार ने निरूपित किया है, उद्भट के अभिप्राय से ही प्रन्य नहीं व्यवस्थित है, ऐसा समझा जाना चाहिये ।

सारावली

‘रूप के समान बला हुआ भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सफलता प्राप्त कर लेता है उस अपारबलवाले कामदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।’ यहाँ पर रूप के समान बलनारूप कारण उपस्थित है किन्तु शक्ति का सात्त्विक कार्य व्यग्र नहीं हुआ है । इसमें कारण यह है कि वह अपारबलवाला है ; अपारबलवाला होने का उल्लेख कर ही दिया गया है । अतः यहाँ पर व्यग्र की आवश्यकता नहीं । यह एक निमित्त विशेषोक्ति है ।

व्यङ्ग्यार्थ की आवश्यकता अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति में पड़ती है ; इसीलिए आलोचकार ने एक दोनों प्रकारों को छोड़कर अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है—‘व्यक्ति को उसके साथी बुला भी रहें हैं, ‘अच्छा’ कह कर उसने उत्तर भी दिया है और निद्रा भी छोड़ दो है, जाना भी चाहता है, किन्तु निद्रा के संकोच को दूर नहीं कर रहा है।’ यहाँ पर निद्रासंकोच को शिथिल करने के सभी कारण उपस्थित हैं, किन्तु वह फिर भी निद्रासंकोच को शिथिल नहीं कर रहा है । इस प्रकार कारणों के सम्मिश्रित होने हुए भी कार्य का न होना विशेषोक्ति है । इस कथनार्थ का कारण क्या हो सकता है ? इस पर मद्भोद्भट

धारावती

अगर इस बात का इष्टान्त दे दिया गया कि अलङ्कारों में प्राधान्यविवक्षा वाच्यार्थपरक ही होती है, व्यङ्ग्यार्थ केवल उन वाच्यार्थ का अङ्कुरण करता है और सवया गौप्य स्थान का ही अधिकारी होता है। (यहाँ पर पूर्वपदा यह कह सकता है कि अब व्यञ्जना उपरिष्ठ ही है, तो चाहे वह गौप्य ही क्यों न हो, उसका मानाजाना सर्वथा उचित है। गौप्य होने के कारण व्यञ्जना का सर्वथा अस्तित्व नहीं किया जा सकता। अथवा) नामकरण प्रधानता के आधार पर ही होता है। इस विषय में आलोचकार ने एक ऐसा इष्टान्त दिया है जो ध्वनि-वादिषो को तो स्वोक्तार्थ है ही, विरोधी (अङ्कुरण सम्प्रदायवाले) भी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। आलोचकार ने कहा है कि जैसे दीपक और अरुण दिन इन अलङ्कारों में उपमा व्यक्त होती है किन्तु उसकी प्रधानता नहीं होती, अथवा कोरे में उसको उपमा नहीं कहना, इसी प्रकार दिन आद्येन, समासोक्ति इत्यादि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होते हुए भी उन्हें ध्वनि के नाम से न पुकारकर उन अलङ्कारों के नाम से पुकारा जाता है किन्तु प्रधानता होती है। यहाँ पर उपमा का अर्थ है उपमानोपमेयभाव। दीपक और समासोक्ति में उपमानो-पमेयभाव व्यक्त होता है। मामह ने दीपक का उदाहरण यह दिया है—'दीपक के तीन भेद माने जाते हैं आदिविषय, मध्यविषय, और अन्तविषय।'

'यहाँ पर आलोचकार ने मामह के उदाहरण का सकेत मात्र दिया है। मामह का पूरा उदाहरण इस प्रकार है :—

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकयैव व्यङ्ग्यत्वादिति तद्विषये त्रिधा ॥
अमूर्ति नुर्वर्तेऽन्वर्त्तमानस्याख्यामर्थदीपनात् ॥

अर्थात्—'दीपक तीन प्रकार का माना जाता है—आदि विषय, मध्यविषय और अन्त-विषय, एक ही ही तीन अवधारणों हो जाती हैं, इसीलिये इसको तीन भेदों में विभक्त कर दिया जाता है। ये तीनों भेद इसके दीपक नाम को सार्थक बना देते हैं क्यों कि ये अर्थ का दीपन करते हैं।' किन्तु न तो यह परिभाषा ही स्पष्ट है और न भेदों का स्वरूप ही। यहाँ पर मामह का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्तलिङ्ग दीपक सारे मवन को जगमगा देता है उसी प्रकार जब एक शब्द पूरे पद्य को समाहित कर देता है या पूरे पद्य से सम्बन्धित हो जाता है तब उसे दीपक कहते हैं। यदि वह शब्द आदि में होता है तो इसे आदिविषय दीपक कहते हैं, यदि वह शब्द मध्य में होता है तो मध्यविषय दीपक कहते हैं और यदि अन्त में होता है तो अन्तविषय दीपक कहते हैं। मट्टिकाव्य के १० वें सर्ग में मामह के उदाहरण के उदाहरण सङ्कलित किये गये हैं और दण्डी के काव्यादर्श में इन पर विशेष प्रकार का बतलाया गया है। दण्डी के विवरण का सारांश यह है कि 'जानि गुण त्रिधा अथवा द्वयशब्दक शब्द जब एक स्थान पर स्थित होकर पूरे शब्द का उपकार करता है तब उसे दीपक कहते हैं। यह शब्द आदि में भी स्थित हो सकता है, मध्य में भी और अन्त में भी।' किन्तु

तारावती

ने लिखा है कि 'वह श्रोत के कारण परेशान है, इसीलिये निद्रा के सञ्कोच को नहीं रखा है।' इस व्यङ्ग्यार्थ में न कोई चमत्कार है, न वास्ता। अतएव व्यङ्ग्यार्थ को प्रथम होने से हम उसे ध्वनि नहीं कह सकते। कुछ रसिकों ने दूसरे निमित्त को कल्पना है—'वह इसलिये निद्रा नहीं छोड़ रहा है कि वह यह समझता है कि जाने में देर लगे और यदि निद्रा जा गई तथा स्वप्न भी देखने को मिल गया तो विषयता का समागम की अपेक्षा भी अधिक सरलता से हो जायेगा। इसीलिये वह नींद छानना चाहता है।' पर मेरा निवेदन यह है कि अलङ्कार शास्त्र के विद्वानों ने इस निमित्त को भी वाचनायुक्त माना है, अपितु अभिव्यक्त होनेवाले इस निमित्त से उत्पन्न होकर 'संकोच को डीला कर रखा है' यह विशेषाक्ति भाग ही चारुता में हेतु है। यदि 'स्वप्न में नायिका दर्शन आकांक्षारूप व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रधान मानने का दुराग्रह किया जायेगा तो यहाँ पर विशेषी अलंकार हो ही नहीं सकेगा। यहाँ पर यह समझना मूल है कि प्रयत्न ने केवल मञ्जीर के बतलाये द्रुये व्यङ्ग्यार्थ को मानकर ही उत्तर दिया है। वास्तविकता यह है कि उत्तर के देने में आलोककार के सामने दानों अभिप्राय थे। इसीलिये अङ्क की व्युत्पत्ति का अलंकार ने आलोककार ने सामान्य रूप में ही कह दिया कि प्रकरणसामर्थ्य व्यङ्ग्यार्थ को केवल प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विशेषीकृत में प्रथम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक की छीजिये—मामह ने पर्यायोक का उदाहरण इस प्रकार दिया है —

"(अब वाच्य अर्थ ही) वाच्य-वाचक वृत्तियों से भिन्न दूसरे ही व्यञ्जनात्मक प्रकार के अस्मिहित क्रिया ज्ञाने तब उसे पर्यायोक कहते हैं।" (इसी उदाहरण को उद्धृत करने में ही उद्धृष्ट क्रिया है और प्रतीहारेन्दुरान ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'वाचक की अर्थात् अभिप्रायक शब्द की वृत्ति अर्थात् व्यापार होता है वाच्यार्थ का उत्पादन करना। वाच्य अर्थात् अभिप्राय का व्यापार होता है दूसरे वाच्य के साथ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के माहात्म्य से सत्यता को प्राप्त होना। इस प्रकार के शब्द का जो वाच्य-वाचकव्यापार, उससे बिना भी प्रकारान्तर से अर्थात् अर्थसामर्थ्यात्मिक अवगमन स्वभाव से जो अवगत होता है वाच्यार्थ से स्वच्छ से न कहा हुआ भी आन्तरिक शब्दव्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक वस्तु नहीं जाती है। इससे स्वयंश्रेय के द्वारा वाच्यार्थ अलङ्कृत क्रिया जाता है।)

पर्याय शब्द का अर्थ है समानार्थक शब्द, जब अर्थात् अर्थ को वही शब्दों में न कहकर पर्यायवाचक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है तब उसे पर्यायोक कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये पर्यायवाचक शब्द पद के स्थान पर बोलना कह देने के समान नहीं होते। यदि इसी प्रकार की पर्यायता यहाँ पर अभीष्ट होती तो विच्छिन्नत्व-विषय ही क्या रह जाता। अतएव यहाँ पर वृत्तियों का पर्याय होता है। जो बात अभिप्रायवृत्ति से कही जाती है

ध्वन्यालोकः

अनुकनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहृतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता
काचिच्छास्त्रनिमित्तिरिति न श्लाघान्यम् ।

(अनु०) अनुकनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

‘साथियों द्वारा पुकारा हुआ भी, ‘बच्चा’ कहकर निद्रा छोड़े हुये भी, जाने की इच्छा
करते हुये भी पथिक निद्रा के सङ्कोच को शिथिल नहीं कर रहा है ।’

इत्यादि वदाहरणों में प्रकरण सामर्थ्य से केवल व्यंग्य की प्रतीति होती है। उसकी प्रतीति
से किसी प्रकार की चारुता निश्चय नहीं होती। अतएव उसकी प्रधानता नहीं कही जा
सकती।

सोचनम्

एवमाक्षेपं विचार्योद्देश्यक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—अनुकनिमित्तायामिति ।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरासंस्तुतिः ।

विशेषप्रयनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥ यथा—

स एकस्योणि जयति जगन्ति कुमुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हत बलम् ॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः । उक्तनिमित्तायामपि
वस्तुस्वभावमाश्रये पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । यथा—

कपूरं ह्य दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

नमोस्त्ववधार्यवोर्पाय तस्मै कुमुमधन्वने ॥

इस प्रकार भाष्य पर विचार कर उद्देश्य क्रम से दूसरे प्रमेय को कह रहे हैं—‘अनुक
निमित्ता में’ इत्यादि ।

‘एकदेश के अग्रिम हो जाने पर किसी अतिशयता के स्थापन के लिये जो किसी दूसरे
पक्ष की प्रशंसा की जाती है वह विशेषोक्ति मानी जाती है ।’ जैसे—

‘अनेका ही वह कुमुमायुध छोन मुन्नों को जीत लेता है जिसके शरीर को हरते हुए भी
रग्मु ने बल नहीं हरा ।’

यह अचिन्त्यनिमित्ता है, इसमें व्यंग्य की सद्भावता नहीं है। उक्तनिमित्ता में भी वस्तु-
स्वभावमात्र में ही पर्यवसान होता है, अतः वहाँ पर भी व्यंग्यसद्भाव की शङ्का नहीं। जैसे—

‘कपूर के समान दग्ध भी जो जन-जन में शक्तिमान् है, अवारणीय पराक्रमवाले वह
कुमुमधन्वा की नमस्कार ।’

ध्वन्यालोकः

अपहृतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य धानुयायित्वं प्रसिद्धमेवं ।

(अनु०) अपहृति और दीपक के विषय में यह तां प्रसिद्ध ही है कि इनमें वाच्य की ही प्रधानता होती है और व्यङ्ग्य उसका अनुयायी होता है ।

छोचनम्

अपहृतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसिद्धितं प्रामाणिकं चेत्पर्यः । पूर्वं चैतदुपमाव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायाया दृष्टान्तसोपपत्त्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशास्त्र्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यंग्यप्राधान्याभावात् ध्वनिरिति' ।

छायान्तरेण चक्षु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यंग्यत्वेन ध्वनिस्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृतं—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवास्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

अपहृतिदीपकयोरिति । यह पहले ही निर्णय कर दिया । इसीलिये कह रहे हैं—प्रसिद्ध-मिति । अर्थात् प्रतीत, प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक । पहले यह उपाया इत्यादि नामवाला ही जिस प्रकार नहीं होता इस छाया के द्वारा (अर्थात् इस प्रकार) दृष्टान्त के रूप में कहा हुआ भी उदाहरण की पूर्ति के लिये ग्रन्थशास्त्र्या की योजना करने के निमित्त पुन. यह दिया गया—'व्यंग्य की प्रधानता के अभाव के कारण ध्वनि नहीं होती ।' वस्तु एक ही है (चिन्तु) दूसरी छाया के द्वारा कही गई है क्योंकि उपमा को ही व्यंग्य के रूप में दाका की जा सकती है । ओ कि विवरणकार ने—दीपक का सर्वत्र उपमान्वय नहीं होता इस पर बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा विचार किया है वह अनुपयोगी है, निस्सार है तथा उसका प्रतिषेध भी सरलतानुर्वेक ही सकता है ।

छायावयो

प्रकार से पर्यायोक्त का रूप धारण करके प्राकराधिक भोजनार्थ को अलक्ष्य कर देता है । (आशय यह है कि 'मैं भोजन नहीं करूँगा क्योंकि इसमें विष है' इस व्यंग्यार्थ में कोई सौन्दर्य नहीं । सौन्दर्य का मतीति तब होती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कृष्य को भोजन में विष की आशंका है और कह रहे हैं कि 'मैं मार्ग में भी ऐसा भोजन नहीं करता जिसको पहले अधीनी आक्रमण का नहीं छोटे ।' इस प्रकार व्यंग्यार्थ पर ध्यान रखते हुये जब हम कृष्य को वचनभङ्गिमा पर विचार करते हैं तब हमें उस कथन में ही चारुता को अनुभूति होती है ।) कृष्य का विवक्षित अर्थ यह नहीं है कि भोजन निर्विष होना चाहिये । (उनका विवक्षित तो दही है कि मैं भोजन नहीं करूँगा) अतएव पर्यायोक्त को अलक्ष्य मानना हा प्राचीन आचार्यों की अमीष्ट था । दही प्रभुत ग्रन्थ का तात्पर्य है । (इस प्रकार लक्ष्य, शब्द, अलक्ष्यता, सामान्य लक्ष्य और उदाहरण इन सभी दृष्टियों से सिद्ध कर दिया कि पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।)

वारावती

गुण वाति क्रियादोनां बल वैकल्पदर्शनम् ।

विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥

‘किसी विशेषता को प्रकट करने के लिये ही जो गुण वाति इत्यादि की न्यूनता दिखाई जाती है उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।’ इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति के गुण-वैकल्प्य, क्रियावैकल्प्य इत्यादि भेद किये हैं। सरस्वतीनक्षत्रामरण में भी यही परिभाषा स्वीकार की गई है और वामन ने भी—‘एकत्रयहानकल्पनाया साम्प्रदाय्यं विशेषोक्तिः ।’ कहकर इसी छत्रण को पुष्ट विधा है। किन्तु नवीन आचार्य इस छत्रण को नहीं मानते। काव्य-प्रकाशकार ने लिखा है—

‘वहाँ कार्यों की असम्भूत सत्ता विद्यमान हो उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।’ इसी परिभाषा का अनुसरण साहित्यदर्पण में भी किया गया है और कुवलयानन्द में अप्य दीक्षित ने भी इसी परिभाषा को अपनाया है। इस प्रकार विशेषोक्ति की परिभाषा के विषय में प्राचीनों और नवीनों में ऐकमत्य नहीं है। यद्यपि प्राचीनों की परिभाषा विशेषोक्ति इस नामकरण से अधिक संकट हो जाती है तथापि नवीन आचार्यों ने जिस मत को व्यवस्थित रूप दे दिया है वही मान्यता को प्राप्त हो सकता है।

नवीन आचार्यों ने विशेषोक्ति के तीन भेद किये हैं—अचिन्त्य निमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्त निमित्ता। पुष्कल कारणों के होते हुए भी फलोत्पत्ति क्यों नहीं होती, इस निमित्त की प्रतीति व्यञ्जना के आधार पर होती है। वहाँ कहीं निमित्त इतना गुप्त होता है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, उसे अचिन्त्य निमित्ता कहते हैं। वहाँ पर व्यह्वाना की प्रतीति होती ही नहीं, अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। कहीं-कहीं पर निमित्त का कथन स्वयं कर दिया जाता है उसे उक्त निमित्ता कहते हैं। वहाँ पर भी वाच्यवृत्ति में ही निमित्त का कथन होने के कारण ध्वनि का अवसर नहीं होता। तीसरा प्रकार यह होता है जिसके निमित्त का उपादान अभिहित नहीं होता किन्तु उसकी प्रतीति की वा सक्ती है। वह प्रतीति व्यञ्जना के ही आधार पर हो सकती है, अतः उसी में ध्वनि के अन्तर्भाव की शक्यता की वा सक्ती है। दोनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।
अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण.—

‘दुग्धमासुष अश्लेषा होते हुए भी हीनों लोको को जोत लेता है। मगवान् शङ्कर ने उसके शरीर का अपहरण करते हुए भी बल का अपहरण नहीं किया ।’

शङ्कर भी ने उसके बल का अपहरण क्यों नहीं किया इसका कारण समझ में नहीं आता। अतः वह अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति है। वहाँ पर व्यह्वाना की कोई सम्भावना नहीं। यह मान्य का उदाहरण है। उक्त निमित्ता विशेषोक्ति में भी अर्थ की परिसमाप्ति वस्तुत्वभाव में ही हो जाती है, उसमें अर्थान्तर व्यञ्जना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतएव वहाँ पर भी व्यह्वाना की सम्भावना की शक्यता नहीं हो सकती। जैसे—

गारावती

इन पर विचार इसलिये किया गया कि जिन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव दिखाने की प्रतिभा को गई थी उन्हें दोषक और अपभ्रुति में दो अलङ्कार भी थे। इन अलङ्कारों का उल्लेख पर्यायोक्त के बाद किया गया था। अतः उद्देशक्रम को पूरा करने के लिये वया प्रथम की सङ्घटि बिटाने के लिये पुनः कह दिया कि ध्वन्य की प्रधानता न होने से इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सका। बात वही है जो पहले कहा गई थी। यहाँ पर प्रकारान्तर से वही बात दुहरा दी गई है, क्योंकि अङ्गव्यय के रूप में उपना की ही प्रधानता का शक्यता की जा सकती थी। (उसी का निराकरण वहाँ किया था और उसी का निराकरण वहाँ किया गया है।) जो कि विवरणकार ने लिखा है कि दापक का उपना के साथ सर्वत्र अन्वय नहीं होता और बहुत से उदाहरणों के प्रथम के द्वारा उस पर विचार किया है वह अनुसंधानो भी है, निम्नार भी है और उसका खण्डन भी आशानी से किया जा सकता है। जैसे मानव का उदाहरण लाजिये—

‘मद मोति को उत्पन्न करता है, मोति मान को नष्ट करनेवाले कामदेव को उत्पन्न करती है कामदेव मियतमा के सहवास की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन की असन्न वेदना को उत्पन्न करती है।’

यहाँ पर भा यद्यपि एक के बाद दूसरे को उत्पत्ति होती है तथापि इनका भी उपमानो-पनेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। ‘जैसे मद मोति को उत्पन्न करता है उसी प्रकार मोति काम को उत्पन्न करती है; जैसे मोति काम को उत्पन्न करती है उसी प्रकार काम मियासमागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार काम मियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वह उत्कण्ठा असन्न मनस्ताप को उत्पन्न करती है।’ वह उपना सरलता से कल्पित की जा सकती है। यह बात नहीं है कि कमरा: आनेवाले शब्दों का उपानातापनेयभाव बनता नहीं। उदाहरण लाजिये—

‘राम के समान दशरथ दुये, दशरथ के समान रघु दुये, रघु के समान दिलीप दुये। यह राम की कीर्ति विचित्र ही है।’

यहाँ पर कमरा: आनेवाले शब्दों का उपमानोपनेय भाव नहीं बनता यह बात नहीं है। अतएव कल्पितता का होना अथवा प्रकरण की समानता उपना का निरोध कर देते हैं यह कौन भी बताने की बात जाय कह रहे हैं। जाने दो और अधिक गहरी दुहने की चेष्टा म्यर्थ है। (यह एक मराक है।)

अब सङ्घटनकार को छे लाजिये—मानवीन आचार्यों (मानव दम्बी इत्यादि) ने दो अलङ्कारों के एक में निष्ठने को समुष्टि अलङ्कार कहा था। उन्होंने सङ्घटन नाम का कोई अल-

ध्वन्यालोक

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, तद्वदन्तु नाम तस्य ध्वनावन्त-
मात्रं । न तु ध्वनेस्तन्मात्रमात्रं । तस्य महाविषयत्वेनाद्वित्वेन च प्रतिपाद-
यिष्यमाणत्वात् । न पुन पर्यायोक्ते सामहोदाहृतसदस्यो व्यङ्ग्यत्वस्यैव प्राधान्यम् ।
वाच्यस्य तत्रोपसर्जनमात्रेनाविवक्षितत्वात् ।

(अनु०) पर्यायोक्त में भी यदि प्रधानतया व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि यह बात विस्तारपूर्वक प्रतिपादित की जावेगी कि ध्वनि का विषय भी व्यापक होता है और ध्वनि प्रधान भी होती है। दूसरी बात यह है कि सामह्य में पर्यायोक्त का जैसा उदाहरण दिया है उससे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ मौल्यत्व में विवक्षित है ही नहीं।

लौचनम्

पर्यायोक्तेऽपीति ।

पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥

इति छद्मणम् । यथा—

शत्रुच्छेदइच्छेच्छस्य सुनेच्छयगामिन ।

रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ॥ इति ।

अत्र भीष्मस्य भागवत्प्रमाणाभिमायी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तस्यहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृत । अतएव पर्यायस्य प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्याख्येनोपलक्षित सद्यदभिधीयते तदभिधीय-
मानमुच्यते सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयते इति छद्मणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम् । अर्थात्श्राव्य सामान्यलक्षण चेति सर्वं युज्यते ।

पर्यायोक्त में भी 'जो वाच्य-वाचक वृत्ति से शून्य अवगमनात्मक दूसरे प्रकार से कहा जाने लगे पर्यायोक्त कहते हैं। यह उदाहरण है जैसे—'शत्रुनाश की इच्छा रखनेवाले उत्तरगामी मुनि को राम के इस धनुष के द्वारा धर्मदेशना दे दिया गया ।'

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव की अभिवृत्त करनेवाला है वह प्रतीत होता है तथापि उसको सदापता से 'देशिता धर्मदेशना' (धर्मोपदेशना दे दिया) इस अभिधीय-
रूप के द्वारा ही वाच्य अलङ्कृत किया जाता है। अतएव पर्याय से अर्थात् व्यङ्ग्यत्वात्मक दूसरे प्रकार से अलङ्कित होकर जो अभिधीयत्व प्राप्त होता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही पर्यायोक्त कहा जाता है, वह लक्ष्य पद है, पर्यायोक्त यह लक्ष्य पद है, अर्थात्श्राव्य और सामान्य लक्षण यह समो कुछ उचित ही उद्देश्य है ।

बोधनम्

शशिवदना सितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम् ।
गगनजलरूपसम्भवदृष्टाकारा कृता विधिना ॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्गदा वदनमस्या इति रूपकोपमोत्प्रेक्षापुगपद्गद्या-
सम्भवादेकतरपक्षत्यागप्रहणे प्रनाणामावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया
पुनरिच्छपात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थोत्प्रेक्षाणा-
नेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का । यथा 'स्मर स्मरनिव प्रियं
रमयसे यमालिङ्गनात् ।' इति । अत्रैव यमकमुपमा च । तृतीयः प्रकारः—
परैक्य वाच्यतासेनेकोऽर्थोत्प्रेक्षास्वरूपे द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता । यथा—

तुल्योदधावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिमास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतोव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपक्षिसमुचितप्रवप्रहणहेवा किञ्चलपुत्रकरूपणमेकदेशविधित-
रूपकं दर्शयति । उद्येक्षा चेत्यन्वेनोच्छ । तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम् ।

शब्दार्थवत्प्रेक्षाः वाच्य एकत्र धर्तनः ।
सङ्करश्चैकवाच्यताप्रवेशाद्गामिधीपते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारः पत्रानुप्राप्तानुप्राहकभावोऽन्वेषणानाम् । यथा—

'चन्द्रदना, नीलकनकशोभना, श्वेतकुन्ददशनपङ्क्ति रद (नायिका) विधाता के द्वारा
माया, अठ और मूषि के सार से सम्भव रूप आकार की बनाई गई है ।'

यहाँ पर 'चन्द्रमा है वदन त्रिसुका' अथवा 'चन्द्रना के समान वदन है त्रिसुका' इस रूपक
और वरना के अन्वेषण से एक साथ दो के असम्भव से, एकतर पत्र के त्याग तथा प्रहण में
प्रभाव न होने से सङ्कर (हे) इस प्रकार व्यंग्य और वाच्य का ही निश्चय न होने से ध्वनि की
सम्भारना हो गया ! जो दूसरा भी प्रकार है—शब्द और अर्थ अलङ्कारों का एकत्र होना उसने
भी मूर्तिमान की क्या शङ्का ! जैसे 'स्मर के समान विचरन का स्वरूप करो त्रिसुको आलि-
ङ्गन के द्वारा रमन कराती हो ।' यही पर यमक और वरना है । तृतीय भी प्रकार—यहाँ
एकत्र वाच्यता में अनेक अर्थलङ्कार हो यहाँ भी दोनों के साम्य से द्वितीयको व्यङ्ग्यता ! जैसे—

'तुल्य वरय और अरमान होने से तुल्य के अल की ओर चले जाने पर क्लान्त दिन
निशास के लिये अन्वकार स्वी गुहा में माना मरिच हो रहा हो ।'

यहाँ पर स्वामी की विधित के योग्य अथ प्रहण के लिये उक्त मूलश्लोक का आरोप एक-
देशविधित रूपक को प्रकट करता है और उद्येक्षा एवं शब्द से कही गई है । वह इस प्रकार
दो प्रकार बतलावे गये हैं ।

'चन्द्र और अर्धचंद्र अलङ्कार एक वाच्य में रहनेवाले अथवा एक वाच्यता में अनुपवेश
से सङ्कर करा जाता है ।' और वह चौथा भी प्रकार (यहाँ पर होता है) यहाँ पर अल-
ङ्कारों का अनुप्राप्तानुप्राहकभाव हो । जैसे—

लोचनम्

नद्यस्य निर्विषं मोहनं मवरिवति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कारा एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् ।

कि 'निर्विष मोहन हो', इस प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार ही है, यह चिरन्तनों के लिये अभिमत है, यह तात्पर्य है ।

तारावती

क्याकि वहाँ पर व्यंग्यार्थ चारुता में हेतु नहीं है। अतएव उनके अनुकरण पर यदि दूसरे उदाहरणों को भी कल्पना की जावेगी तो उसमें भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रखनी पड़ेगी। अर्थात् अलङ्कार के क्षेत्र में अब मामह को महत्ता दी जाती है और मामह के बरछाये हुये मार्ग पर अलङ्कारों का विवेचन किया जाता है तो उन्हीं के बरछाये हुये मार्ग पर दूसरे उदाहरणों को भी कल्पना करने की पड़ेगी। मामह ने अपने उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रखी नहीं, अतएव दूसरे भी ऐसे ही उदाहरण देने पड़ेंगे जिनमें व्यंग्यार्थ प्रधान न हो। यही ध्वन्य की सङ्गति है।

यदि मामह के दिये हुये उदाहरण का अनारर करके 'मन भम्मिअ' यह ध्वनि का मसिद्ध उदाहरण पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह तो हमारा शिष्य बन जाना ही होगा। केवल अन्तर यह रह जावेगा कि शिष्यों की नीति का सहारा न लेकर अनुद्ध रूप में श्वर उपर से सुनो हुई बात के आधार पर धरना सखार कर लेना कहा जावेगा जो कि सर्वथा अनार्य चेष्टा होगी। (आद्य यह है कि 'मन भम्मिअ' यह व्यंग्यार्थ का उदाहरण तो हम ध्वनिवादियों की ओर से दिया गया है। यदि तुम उसे स्वीकार कर लेते हो तो तुम हमारे शिष्य बन गये। अन्तर केवल यह रह गया कि तुम नियमपूर्वक शिष्यों का कर्तव्य पाठन करते हुये गुरुमुख से विद्या पढ़ते उसके स्थान पर श्वर उपर से सुन सुनाकर तुमने आत्मसंस्कार कर लिया और पण्डित बन गये। यह भी तो गुंभारी अनार्य चेष्टा ही रही।) ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि—'गुरु तथा विद्या का अग्रमान करते हुए अपने को विद्याकर विद्या का श्रवण करते हुए भी नरक को जाता है।' (ये शब्द मनोरञ्जन के उद्देश्य से उपहासपरक हैं।) मामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है—'रत्नाहरण' में शृणु शिष्टगण्ड के यही गये हैं। शिष्टगण्ड ने भोजन तैयार कराया है। भगवान् शृणु को शत्रु के यहाँ भोजन करने में विष को डाला ही जाती है। अतः वे कहते हैं—जो मंत्र अभीष्टी आश्रय नहीं खा लेते उसे हम लोग घर में भी नहीं खाते और मार्ग में भी (पात्रा में भी) नहीं खाते।' यह भगवान् वासुदेव का वचन व्यञ्जनावृत्ति से विषदान का निरूप करता है जैसा कि स्वयं मामह ने व्यंग्यार्थ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ये शब्द विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं।' यहाँ पर व्यंग्यार्थ है विषदान का निरूप। उसमें किसी प्रकार की चारुता नहीं है जिससे उसकी प्रधानता का समझ दिया जावे। शिष्टगु 'विषमोजन के बिना जो मोजन न करना'—रूप वाच्यार्थ है वही उक्त व्यंग्यार्थ से विशेषता को प्राप्त शब्द उक्त

वारावती

प्रकार से दिना वा सकता है। (१) अन्ना है वदन त्रिकका और (२) चन्द्रना के समान है वदन त्रिकका। प्रथम विग्रह में स्वरक होगा और द्वितीय में वचना। दोनों एक साथ ही नहीं सकते। एक को स्वीकार करने और दूसरे को छोड़ने में न कोई तावक प्रभाव है और न बाधक। अउरव यहाँ पर सन्देह सकर अलंकार है। इसमें धनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि एक तो इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य का ही निश्चय नहीं, दूसरे यह निश्चय नहीं कि यहाँ पर कौन सा अलंकार माना जावे। अउरव यहाँ पर धनि का प्रयत्न ही नहीं रहता। (२) दूसरे प्रकार का सकार अलंकार वहाँ पर होता है वहाँ एक ही स्थान पर एक शब्दालंकार हो और एक व्यङ्ग्यलंकार। जैसे 'स्वर स्वरनिव निम्न—कानदेव के समान अपने श्रिय का स्वरण करो जिसको जालिङ्गन के द्वारा तुम रमन खाया करती हो।' यहाँ पर 'स्वर स्मर' में एक ही और 'कानदेव के समान कहने में वचना है। ये दोनों अलंकार 'स्मर' शब्द से ही अवगत होते हैं अउ यह एकविधानुपमेय सकर है। (इसमें व्यङ्ग्यत्व को सम्मानना ही नहीं फिर धनि का प्रयत्न ही कैसा ?) (३) वहाँ एक ही वाक्यांश में कई व्यङ्ग्यलंकार ही यहाँ ठीकसे प्रकार का सकर होता है। जैसे—

'वदय और अवसान में एककृपा के कारण जब भगवान् मास्कर अस्तावध की ओर प्रस्थान कर गये तब स्तम्भ विरस वास करने के वरन्ध से उभोदुहा में नानी प्रविष्ट हो रहा है।'। अर्थात् छत्र और दिन का वदय और अस्त साथ साथ होगा है। एवं अस्त हो गया अउरव दिन भी स्तम्भ हो कर अन्धकाररूपी गुच्छ में पुन गया।)

यहाँ पर सूर्य स्थानी है, वसका अस्तावध की पठा जाना विरसि में पन्ना है। दिन कुलुपुत्रक (सेरक !) है। दिन का अन्धकाररूपी गुच्छ में प्रवेश करना सेरक का साधन-निरत होना है। बिस् प्रकार स्थानी के विरसि में पथ जाने पर उसके भरीन ही वदयान पञ्ज की प्रस करवेवाठा सेरक अपने स्थानी के उद्यान की कानता से किसी गुच्छ में प्रवेश कर साधननिरत हो जाये वहीअकार सूर्य के अस्तावध की ओर प्रस्थान कर जाने पर दिन भी अन्धकाररूपी गुच्छ में प्रविष्ट होकर साधननिरत हो गया। यहाँ पर अन्धकारपुच्छ पर गुच्छ का आरोप किया गया है। उसके अदुष्टार सूर्य पर स्थानी का, विरस पर सेरक का और अस्तावधप्रयत्न पर विरसि पथने का आरोप होना चाहिये को नहीं किया गया है। अउरव यहाँ पर एकद्वैतविधि स्वरक अलंकार की प्रतीति होती है। 'विशतोर' में एक अन्ध के द्वारा उभेजा अन्ध की सूर्य है। इन दोनों अलंकारों का एकविधानुपमेय सकर है। दूसरे और ठीकसे प्रकारों का, बर्तन निम्नलिखित प्रकार से दिया गया है—

'वहाँ अन्ध और अन्ध में रहनेवाले अलंकार (अर्थात् शब्दालंकार और व्यङ्ग्यलंकार) एक साथ में विद्यमान हो अथवा एक अन्धत्व में विद्यमान हो तो उसे सकर अलंकार कहते हैं।'

बोधनम्

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्ग मानभङ्गनम् ।

स मियासङ्गभोक्तृणां सासङ्गां मनसं शुचम् ॥ इति ॥

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात् । नहि क्रमि
काणां नोपमानोपमेयभावः । तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः ।

भञ्ज इव दिक्षोपचक्रश्चिन्नं रामस्य कार्तिरियम् ॥

इति न भवति । अस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरयिकत्वंमुपमां निरुणद्धाति
कोऽयं श्रास इत्येव गदभीदोहानुवर्तनेन ।

‘मद प्रीति को उपन्न कराता है, वह मानभङ्गन अनङ्ग को उत्पन्न करती है वह मिया
सङ्ग की बत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, वह असङ्ग मन के शोक को उत्पन्न करता है।’

यहाँ पर उत्तरोत्तर जन्यत्व होने पर उपमानोपमेयभाव को कल्पना सरलतापूर्वक की जा
सकती है । क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता, वह नहीं कहना चाहिये । वह
इस प्रकार —

‘राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु और भञ्ज भी रघु के समान (हुये)
भञ्ज के समान दिक्षोप चक्र हुआ । राम की यह कीर्ति विचित्र है ।’

यह नहीं होगा यह बात नहीं । अतएव क्रमिकत्व वा समानता वा प्राकरयिकत्व उपमा
को रोक देता है यह क्या भव, वस अधिक गदभी-दोहन का अनुवर्तन स्पर्श है ।

पारावती

अब दीपक और अपद्धति को छोजिये । इनके विषय में पहले ही निगम किया जा चुका
है । (इन दोनों अलङ्कारों में उपमा स्पष्ट होती है ।) और दीपक तथा अपद्धति ये
दोनों वाच्य होते हैं । यह बात प्रसिद्ध ही है कि इन में वाच्य दीपक तथा अपद्धति प्रधान
होते हैं और व्यङ्ग्य उपमा उनकी अनुवर्तिका मात्र होती है ।) यहाँ पर प्रसिद्ध शब्द के
तीन अर्थ हैं इनमें उपमा की अग्रधानता स्पष्ट प्रतीत होती है, सिद्ध भी की जा चुकी है
और मनामतिपत्र भी है । अपद्धति और दीपक के विषय में पहले भी कहा चुके हैं और
अब पुनः इन पर विचार मारम्भ किया है । अतएव पूछा जा सकता है कि उन विचार करने
को क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि पहले समासोक्ति और आक्षेप के प्रकरण में
यह दिखाने की आवश्यकता थी कि व्यङ्ग्य भी गौण हो सकता है । इस विषय में दीपक
और अपद्धति का देखा हुआ है कि जिसको अलङ्कार सम्प्रदायशास्त्रों में अस्वीकार नहीं
कर सकते । इन अलङ्कारों में उपमा स्पष्ट होगी ह किन्तु उपमा कहकर उन्हें कई नहीं
पुकारता क्योंकि यहाँ पर उपमा में सौन्दर्य का परवसान नहीं होता । इस बात को सिद्ध
करने के लिये यहाँ पर इत्यन्त के रूप में इन दोनों अलङ्कारों का जल्लेख हुआ था । यहाँ

लोचनम्

उदाह—यदाळङ्कार इत्यादि । एव चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनेव नास्तौस्त्युक्तम् । भाषे तु प्रकारे 'शशिवदने' र्पाद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याजङ्ग्य निराकरोति । समभिति । द्वयो-
रप्यान्दोस्त्यमानत्वादिति भावः ।

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम् । यथा—

दोह ण गुणानुराभो खलानं णवरं पसिद्धि सरणाणम् ।
किर पहिणुसद् ससिन्नं चन्द्रे ण पियासुहे दिहे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्वावदाध्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापहृती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयैश्वमिप्रायेणाशङ्कते—अथेति । तत्रोत्तरम्—उदा सोऽपीति । सङ्करा-
ळङ्कार एवायं न भवति, अपि खलङ्कारध्वनिनामाय ध्वनेः द्विवेयो भेदः । यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावना निरासप्रकार साधारणमाह—अपि चेति । 'क्वचिदपि सङ्करा-
ङ्कारे च' इति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः । सङ्कीर्णता हि मिश्रत्व लोबी-
भाव', तत्र कथमेकस्य प्राधान्य क्षीरजलवत् ।

यह कहे हैं—यदाळकार इत्यादि । इस प्रकार चतुर्थ प्रकार में भी ध्वनिता निराहृत हो गया, मध्य के दोनों की तो व्यंग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कह दिया गया । 'शशिवदना' इत्यादि उदाहृत आद्य प्रकार में किसी न किसी प्रकार सम्भावना है यह भासका करके निराकरण कर रहे हैं—अठकारद्वय इत्यादि । 'समम्' इति । आशय यह है कि दोनों के आन्दोस्त्यमान (अस्ति) होने के कारण (समान प्रधानता होती है ।)

यहाँ पर प्रधानता व्यंग्य ही भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये ? जैसे—

'(केवल) पसिद्धि शरण दुष्टो का पुत्रानुराग नहीं होता । चन्द्रकान्तमपि चन्द्र के देखने पर मानुष होती है पियासु-मुख देखने पर नहीं ।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास तो वाच्य के रूप में शोभित हो रहा है, व्यतिरेक और अशङ्कित तो व्यंग्य होने के कारण प्रधानता (शोभित हो रही है), इस अभिप्राय से आशङ्का कर रहे हैं—उदा सोऽपि इत्यादि । यह सङ्कराळकार ही नहीं होता । अपितु यह अठकारध्वनि नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है । जोकि पर्यायत्व में निरूपित किया गया था, उसका यहाँ भी अनुसरण कर देना चाहिये । इसके बाद सङ्कर के सभी प्रकारों में ध्वनि सम्भावना के निरा-
करण का सामान्य प्रकार बतला रहे हैं—'अपि च' इत्यादि । यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'क्वचिदपि सङ्कराळकारे च' अर्थात् सब भेदों से भिन्न सङ्कीर्णता का अर्थ है मिश्र बना
अर्थात् एक हो जाना, इसमें दूध और पानी की भाँति एक की प्रधानता किस प्रकार होती है ।

ध्वन्यालोक

सङ्करालङ्कारेऽपि यदासङ्कारोऽलङ्कारान्तरपञ्चायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वाच्च ध्वनिविपरवम् । अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्य व्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविपरयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तं निर्दिष्टन्यायात् । अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

(अनु०) सङ्कर अलङ्कार में भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया को ग्रहण करता है वही व्यंग्यार्थ के प्राधान्य को विवक्षा ही नहीं होती । अतएव वह स्थान ध्वनि का लक्ष्य हो ही नहीं सकता । जहाँ पर दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ पर भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता समान होती है । (अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती) यदि साङ्ग्य में वाच्य के गौण हो जाने से व्यंग्यार्थ प्रधानरूप में अवस्थित होता है तो वह भी ध्वनि का विषय (लक्ष्य) हो सकता है, वही ध्वनि नहीं होती । जैसा कि पञ्चाशोक्त में सिद्ध किया जा चुका है । दूसरी बात यह है कि कहीं भी किसी अलङ्कार में सङ्कर वह नामरूप ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है ।

ओचनम्

सङ्करालङ्कारेऽपीति ।

विरुद्धालङ्कारयोस्तुल्ये समं तद्द्वयसमवे ।

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

इति छल्लवादेक प्रकार । यथा ममेव—

सङ्करालङ्कार में भी यह —

‘विरुद्ध अलङ्कारों के तुल्यत्व में, एक साथ उनकी इष्टि के असम्भव होने पर तथा एक के ग्रहण में न्याय तथा दोष के अभाव में सङ्कर (अलङ्कार) होता है ।

इस लक्षण से एक प्रकार हुआ । जैसे मेरा ही—

शागवती

शुभ्र नहीं माना था । किन्तु परवर्ती आचार्यों ने परस्पर मिलने वाले अलङ्कारों के दो भेद कर दिये (१) जहाँ मिलनेवाले अलङ्कार स्वभावपूर्वकसिद्ध होते हैं और उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इन प्रकार के सम्मिलन को सद्युक्ति कहते हैं । सद्युक्ति में प्रत्येक रूप में ध्वनि के अन्तर्भाव की शक्यता ही नहीं हो सकती क्योंकि उसमें सभी अलङ्कार स्वतन्त्र होते हैं और स्वतन्त्र अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सिद्ध ही किया जा चुका है । (जहाँ पर दो या दो से अधिक अलङ्कार एक दूसरे के प्रति सापेक्षभाव से सिद्ध होते हैं वहाँ पर सङ्कर अलङ्कार होता है । इन आचार्यों ने सङ्कर अलङ्कार के चार भेद किये हैं—सन्देह सङ्कर, शक्यालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का एक विषयानुपपन्न सङ्कर, अर्थालङ्कारों

धारावती

जहाँ अमस्तुत की मर्यादा के द्वारा मस्तुत को निन्दा म्यक्त हो उसे अमस्तुतमर्यादा कहते हैं। यद्यपि मामह ने ध्यात्या नहीं की है तथापि उनके उदाहरण से मस्तुत की निन्दा की अभि-
 म्यक्ति होती अवश्य है। किन्तु नवीन आचार्यों ने इस मर्यादा शब्द को और अधिक बढ़ा
 दिया तथा इसे कथन के अर्थ में मानकर अमस्तुतमर्यादा का यह लक्षण बना दिया कि जहाँ
 कहीं अमस्तुत के कथन के द्वारा मस्तुत की अभिम्यक्ति हो उसे अमस्तुतमर्यादा कहते हैं।
 यहाँ पर अशुभकार का वीज है— एक कथन के द्वारा दोनों की प्रतीति। यदि वाक्य में कई
 शब्द ऐसे हो जिनसे दोनों व्यक्तियों की प्रतीति हो रही हो किन्तु कोई एक आध दो शब्द ऐसे ही
 जिनमें दोनों का आरोगात्मक अभिधान कर दिया गया हो तो उसे एकदेशविधिति रूपक कहते
 हैं। समासोक्ति में मस्तुत का कथन किया जाता है और अमस्तुत की प्रतीति होती है। इसके
 प्रतिरूप अमस्तुत मर्यादा में अमस्तुत का कथन किया जाता है और मस्तुत की प्रतीति होती
 है। समासोक्ति में विशेषवाचक शब्द से केवल मस्तुत का बोध होता है, उससे अमस्तुत
 विशेष की प्रतीति नहीं होती किन्तु अमस्तुतमर्यादा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

(अलंकारसर्वस्व में अमस्तुतमर्यादा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'जहाँ
 सामान्य विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सास्य में अमस्तुत से मस्तुत की प्रतीति हो उसे
 अमस्तुतमर्यादा कहते हैं। ऐसे स्थानों पर अमस्तुत का कथना ही ठीक नहीं कहा जा सकता
 क्योंकि जो मस्तुत नहीं उसके कहने का अर्थ ही क्या! हाँ यदि वह प्रस्तुतपरक हो तो कदा-
 चिन् ठीक कहा जा सके। किन्तु यदि अमस्तुत का मस्तुत से सम्बन्ध न हो तो मस्तुत की
 प्रतीति ही नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में अतिमसृज हो जावेगा। सम्बन्ध तीन प्रकार का
 हो सकता है क्योंकि उन्हीं की अर्थान्तरप्रतीतिहेतुता सिद्ध हो सकती है। ये तीन प्रकार हैं—
 सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सास्य।)

मस्तुत और अमस्तुत के सम्बन्ध को लेकर आचार्यों ने अमस्तुतमर्यादा को ५ भेदों में
 विभक्त किया है :—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे मस्तुते सति ।

तदन्वयस्य वचस्तुन्ये तुल्यस्येति च पञ्चमा ॥ का. म. १०१९

(१) जहाँ कार्य मस्तुत हो और अमस्तुत निमित्त का कथन किया जावे (२) जहाँ
 निमित्त मस्तुत हो और अमस्तुत कार्य का कथन किया जावे। (३) जहाँ सामान्य मस्तुत हो
 और अमस्तुत विशेष का कथन किया जावे। (४) जहाँ विशेष मस्तुत हो और अमस्तुत
 सामान्य का कथन किया जावे। (५) जहाँ एक वस्तु मस्तुत हो और तत्सदृश अन्य वस्तु
 का कथन किया जावे। मस्तुत मकारण में इन्हीं ५ भेदों पर विचार किया जा रहा है।

मामह ने अमस्तुतमर्यादा का यह लक्षण दिया है—'प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु को
 जो प्रतीति की जाती है वह अमस्तुतमर्यादा होगी है। यह तीन प्रकार की बड़ी गई है। (१—
 इस कारिका में कार्यकारण शब्द का अर्थ है प्रकरण, जैसे ध्याकरण में सहायकार, अज्ञानकार

चारावठी

का एकविषयानुपवेश संकर और अद्वाहिभाव सङ्कर । परवर्ती आचार्यों ने दूसरे और तीसरे भेद (शब्दार्थालङ्कारों का एकविषयानुपवेश तथा अर्थाङ्कारों का एकविषयानुपवेश) एक ही में मिला दिये और साधुओं के आधार पर दोनों का एक विषयानुपवेश यह नाम रख दिया । इस प्रकार ये आचार्य सङ्कर के फेरल तीन भेद ही मानते हैं । दोषितिकार का यह भ्रम है कि नवीन आचार्यों ने शब्दार्थालङ्कारों के एकविषयानुपवेश को ससृष्टि मान लिया जिससे नवीनों के मत में तीन भेद रह गये । सभी नवीन आचार्य शब्दार्थालङ्कार के एक-विषयानुपवेश को सङ्कर ही मानते हैं । ससृष्टि और सङ्कर में भेद यह होता है कि जहाँ विभिन्न शब्दों से अङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ उनकी ससृष्टि होती है और जहाँ एक ही शब्द से विभिन्न अङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ सङ्कर होता है ।

सङ्कर और ससृष्टि को मान्यता के आधार और उनके विषय विभाजन पर सम्यक् ने अच्छा प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि—‘उक्त अलङ्कारों का यथासम्भव कही कपन हो तो क्या वे सब पृथक् पृथक् अलङ्कार माने जायेंगे या कई अन्य अलङ्कार होंगे ? इस विषय में कहा जा सकता है कि जैसे बङ्गलङ्कारों में सुवर्ण, मणिमय इत्यादि पृथक् पृथक् अलङ्कार शरीर को पृथक् पृथक् रूप में भाभूषित करते हैं, साथ ही उनकी सयोचना भी नवीन सौन्दर्य को जन्म देती है । इसीप्रकार अनेक अलङ्कारों की योजना में भी पृथक् पर्यवसान नहीं होता अपितु उसे दूसरा अलङ्कार कहना ही ठीक होगा । अनेक अलङ्कारों के योग में भी सयोगन्याय से रसुगावगम और समवायन्याय से अङ्कुरावगम ये दो प्रकार होते हैं । प्रथम को ससृष्टि और द्वितीय को सङ्कर कहते हैं । अतएव विलक्षणान्याय और धीर-नीर न्याय उनकी समर्थता को बतलाते हैं ।’

विरचनाय ने तो एक शब्द से प्रकट होनेवाले दो शब्दालङ्कारों को भी सङ्कर ही माना है । यहाँ पर टीचनकार ने चार भेद मानकर सङ्कर का निरूपण किया है । सङ्कर का प्रथम प्रकार यह है—

‘जहाँ एक ही स्थान पर दो विरुद्ध अलङ्कारों का उल्लेख किया जा सकता हो, एक साथ दोनों का हो सकना सम्भव न हो, न तो एक के ग्रहण करने में कोई न्याय हो और न दूसरे के त्याग के लिये कोई बाधक हो वहाँ पर सदेह सङ्कर होता है ।’ जैसे मेरा (टीचनकारका) पद्य—

‘प्रकाश ने शशिचन्द्रना, नीलकमलनयना, शैतकुन्ददशनपति इस नायिका को आकाश, अल और स्पष्ट से उत्पन्न मनोहर आकारवालो बनाया है ।’ आशय यह है कि इस नायिका का मुखचन्द्र आकाश का ठरह है नीलकमलनयन जल का ठरह है और शैतकुन्ददशन भूमि का ठरह है, इस प्रकार यह नायिका मनोहरता में पृथ्वी अल और आकाश तीनों का सार भाग है । यहाँ पर शशिचन्द्रना इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास है । इसका विग्रह दो

ध्वन्यालोकः

यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावविशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यसात्रवेनापस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सारूप्यस्याभिर्जीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायाः चरनावेदान्तःपातः । इतरयारवलङ्कारान्तरमेव ।

(अनु०) और जहाँ विशेष का सामान्यनिष्ठत्व भी होता है वहाँ यद्यपि सामान्य प्रधान हो सकता है तथापि विशेष को भी प्रधानता होती है क्योंकि सामान्य में समान विशेषों का अन्तर्भाव होना ही है । यही न्याय निमित्त निमित्तिभाव (कार्य-कारणभाव) में होनेवाली अपस्तुतप्रशंसा के विषय में भी लागू होता है । जब अपस्तुतप्रशंसा में सादृश्य के कारण ही अपस्तुत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूपावाले वाक्य अपस्तुत की प्रधानरूप में विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायेगा । नहीं तो यह अलङ्कार विशेष ही होगा ।

लोचन

पृथक्तस्य मुक्तास्किरत्कमञ्जिनोपत्रे कण पायसो

यन्मुक्तामणिरित्यमस्त स जडः शृण्वन्मयदस्मादपि ।

अद्भुत्यप्रलयुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः

कुत्रोद्गीय गतो हृद्देश्यनुदिनं निद्राति नान्त-शुचा ॥

‘कमलिनो के पत्रे पर बैठकण को उस मूर्ख ने जो मारम्म से ही मुक्तामणि समझा यह किन्नरी (बही) बात है ! शसुते भी (अधिक आश्चर्यजनक) और सुनो—आदाव किये जाने पर धीरे से बहुली के अग्रभाग को लुप्त किया से प्रविलीन हो जाने पर ‘डु ख है कि कहीं उद्भ्रंश चला गया’ इस वाच्यशोक से (वह) सो नहीं पाता ।’

धारावती

यहाँ पर प्रस्तुत है किसी व्यक्ति की यत्पूर्व स्थिति और अपस्तुत है ससार की निर्घण्टा श्वादि । इस प्रकार देवगति श्वादि सामान्य बातों का उल्लेखकर व्यक्तिविशेष की परिस्थिति को और संकेत किया गया है । ससार को निर्गुणता श्वादि लोके सामान्य है कि ये सर्वत्र पाई जाती हैं और किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का नष्ट हो जाना विशेष है क्योंकि वह एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है । अपस्तुत कथन का पूर्वसंज्ञान प्रस्तुत में होता है । सामान्य और विशेष का व्यापक-व्याप्यभाव सम्बन्ध होता है । बिना सामान्य के विशेष नहीं रह सकता । अतएव विशेष अर्थ के सामान्य द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषररक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है उन्मीप्रकर सामान्यररक वाच्यार्थ भी प्रधान हो है । सामान्य और विशेष को एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती । (व्यङ्ग्यार्थ के सामान्याति-पादो न होने के कारण यहाँ पर ध्यान ही नहीं है किर उसके अन्तर्भाव का प्रदन ही नहीं

लौचनम्

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताइया ।

तथा गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तद्वलोकनस्योरमा यद्यपि स्पष्टतया, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युपानकारिणीत्वेनानुप्राहकत्वोद्गुणीभूता, अनुप्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

परस्परतोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।

स्वातन्त्र्येणात्मलाभ नोलभन्वे सोऽपि सङ्करः ॥

‘मृष्ट वायु में पड़े हुये नील कपल से विलुप्त विशेषता म रखनेवाली विशालनेबोवाठी (उस पार्वती) का पेरैरहित (चञ्चल) अवलोकन न जाने उसने मृगाङ्गनाभों से ठिथा या मृगाङ्गनाभों ने उससे ठिथा ।’

यहाँ पर मृगाङ्गनाभों के अवलोकन से उसके अवलोकन की उपमा यद्यपि भ्रंश है तथापि सन्देहालङ्कार (रूप) वाच्य की वह उत्पानकारिणी होने के कारण सन्देह में पर्यवसान होता है । बेशक कि कहा गया है—

‘परस्पर उपकार के द्वारा नहीं अलङ्कार स्थित ही और स्वतन्त्रता से आत्मात्म न प्राप्त करें वह भी सकर (होगा है) ।

शारावती

जहाँ कई अलंकारों में एक दूसरे के प्रति अनुप्राणाद्युप्राहकभाव हो वह चौथे प्रकार का संकर (अज्ञातिभाव संकर) होता है । जैसे कुमारसम्पद के प्रथम सर्ग में पार्वती के नमस्कार का वर्णन करते हुये महाकवि ने लिखा है—

पार्वती के नेत्र विलुप्त और विशाल थे । जिस समय ली सुलभ स्वभाविक अपेक्ष के कारण उनकी चित्रन चञ्चल हो जाती थी तब नेत्र इतने सुन्दर प्रतीत होते थे मानो ठेक वायु में पड़ा हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो । इस प्रकार की चञ्चल चित्रन न जाने उसने मृग की अङ्गनाभों से सीखी थी या मृग की अङ्गनाभों ने उससे सीखी थी ।’

यहाँ पर यह उपमा भ्रंश होती है कि ‘पार्वती की चित्रन मृगियों की चित्रन के समान थी ।’ ‘उसने मृगियों से चित्रन सीखी या मृगियों ने उससे सीखी’ यह सन्देहालङ्कार यहाँ पर वाच्य है । उपमा केवल सन्देहालङ्कार का अभ्युत्पान ही करनेवाली है । (उपमा सन्देहालङ्कार के सौन्दर्य पोषण के निमित्त अपना सौन्दर्य समर्पित कर देती है ।) इस प्रकार अनुप्राहक होने के कारण उपमा गौण हो गई है । सन्देहालङ्कार अनुप्राहक है; अर्थात् उपमा के द्वारा उप्राह्य होकर सन्देह में ही सौन्दर्य या पर्यवसान होता है ।

चौथे प्रकार के संकर का परिमाण यह दो गई है—

‘जहाँ अलङ्कार परस्पर अलङ्कार करते हुये स्थित होते हैं और एक दूसरे से निरपेक्ष होकर अपनी सजा स्थापित नहीं कर सकते उसे भी सन्देह कहते हैं ।’ (जैसे उक्त उदाहरण में

लोचनम्

ये यान्त्रभ्युदये प्राप्तिं नोऽश्नुन्ति न्यस्तनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो बोकः स्वार्थपरांसपरः ॥

अत्राप्रस्तुत सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्त सम्बन्धात्प्रत्या वर्धयति नैमित्तिकों
अद्वैतवचनता प्रस्तुतान्नात्मनोऽभिभ्यङ्गुम्, तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्त-
प्रतीतिरेव प्रधानान्वयतनुभागकत्वेनेति न न्यङ्ग्यभ्यङ्गयोः । कदाचित्तु
नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्धमानं सद्यस्तुत निमित्त न्यनक्ति । यथा संदी—

‘जो अम्युरव मे मन को प्राप्त होते हैं और आपत्ति में डोकते नहीं हैं वे ही बान्धव हैं,
वे ही मित्र हैं और लोक स्वार्थपरावपि है ।’

यहां पर नैमित्तिकों अपनी प्रस्तुत अद्वैतवचनता का अभिव्यक्त करने के लिये अम्युरव
सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्त का सम्बन्धों को अस्तित्व के द्वारा वर्णन कर रहे हैं । वस्तुमें नैमित्तिक
की प्रतीति में जो निमित्तप्रतीति का अनुनायक के रूप में प्रधान हो जाती है उस प्रकार न्यय
और न्यन्यक का माधन्य नहीं है । कनो दो नैमित्तिक अम्युरव वर्धमान होते हुए प्रस्तुत
निमित्त को न्यक्त करता है । जैसे सेतु में—

धारावती

किया गया है । निमित्त-नैमित्तिक मात्र में अम्युरवप्रसता एक तो देखी जाती है कि वस्तुमें
निमित्त अम्युरव होकर वाच्य होता है और वह प्रस्तुत नैमित्तिक को न्यम्बना करता है । जैसे
कर्म शक्ति अपने वाच्यों को अपेक्षा करने किसी निकटवर्ती मित्र का विरोध पश्यती है
और वनों को रात नानता है । जब वस्तुमें शक्त का कारण पूजा जाता है तब वह कहता है—

‘जो अम्युरव मे प्रसन्न होते हैं और आपत्ति में साय नहीं डोकते वे ही न्यु हैं,
वे ही मित्र हैं, उत्तर के अन्य लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं ।’

यहां पर सुहृद् और बान्धव के सम्बन्धों द्वारा स्वीकार किये हुए सन्धे स्वरूप का वर्णन
किया गया है जो कि अम्युरव है तथा प्रस्तुत है ‘अने किसी विशेष हितेषी को रात
नानता ।’ सुहृद् तथा बान्धव का सामान्य स्वरूप निमित्त है और वह नानता नैमित्तिक है ।
निमित्त का अनिधान नैमित्तिक को आनन्धत्ति के लिये किया गया है । यद्यपि नैमित्तिक को
अद्वैति हो जाती है तथापि निमित्त का अनिधान ही प्रधान है क्योंकि वही नैमित्तिक का
अनुनायन करता है । अतएव न्यय-न्यन्यक को यही प्रधानता नहीं है जिससे यह धर्म-
कान्य बढ़ा जा सके । [४] कनो-कनो नैमित्तिक अम्युरव होता है जिसका अनिधान
स्वच्छिरे किया जाता है जिससे प्रस्तुत निमित्त को अनिव्यक्त हो जाये । जैसे सेतु-
कान्य में बान्धवान् एक ननो के अगुच दुषी पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं :—

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति-
सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तभावात्, सारूप्याच्च । तत्र प्रथमे
प्रकारद्वयं प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोस्तुल्यमव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुते-
त्यादिना प्राधान्यमित्यन्वेन । तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामा-
न्यमप्राकरणीक शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणीको विशेषः, स एकः प्रकारः ।
यथा—

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन । और वह भाष्येन तीन प्रकार
का होता है—सामान्य विशेष भाव में, निमित्त निमित्त भाव में और सारूप्य में । उनमें प्रथम
दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है वह प्रतिज्ञा करते हैं—
अप्रस्तुत इत्यादि से प्राधान्यम् यहाँ यहाँ तक । उसमें सामान्य विशेष भाव में भी दो
गतियाँ होती हैं—सामान्य अर्थात् अप्राकरणीक शब्द के द्वारा कहा जाता है और प्राकरणीक
विशेष अनिन्यक्त होता है यह एक प्रकार है । जैसे—

ठारावती

दूसरे का परिधान ही न हो सके । ऐसी दशा में एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता कही
ही जैसे जा सकती है । (आशय यह है कि जहाँ अलंकारों में प्राधान्य का नियम न किया
जा सके या बाधालंकार प्रधान हो वहाँ सक्त अलंकार होता है और जहाँ अलंकार
प्रधान हो वहाँ सकारालंकार ही होता है । अतएव सकारालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव
नहीं हो सकता ।

इस प्रकार के प्रारम्भ में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विज्ञप्ति, पर्यायान्त, अप-
हृति, दीपक, सक्त इत्यादि स्वप्ननामूढक अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न उठाया
या । उसी क्रम से यहाँ प्रत्येक अलंकार पर विचार किया गया और यह सिद्ध किया गया कि
ध्वनि का अन्तर्भाव स्वप्ननामूढक अलंकारों में भी नहीं हो सकता । वहाँ पर इत्यादि शब्द
का जो प्रयोग किया गया या उसकी व्याख्या राख रह गई । अतएव आलोचकार अप्रस्तुत
प्रदासा नामक एक और अलंकार पर विचार कर इस प्रकार की पूर्ति कर रहे हैं ।

प्राचीन आचार्य अधिकतर नामकरण के आधार पर ही परिभाषा बनाते थे । आचार्य
दण्डो तथा रामह दोनो ने अप्रस्तुतप्राप्ता की केशल यह परिभाषा की है कि जहाँ पर
अप्रस्तुत की श्रुति की आवे उसे अप्रस्तुतप्राप्ता कहते हैं । किन्तु अप्रस्तुत शब्द सापेक्ष है
और स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका प्रस्तुत से क्या सम्बन्ध हो ? यदि
अप्रस्तुतप्राप्ता का वर्णन किया जावेगा और उसका प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध भी नहीं होगा तो
वह प्रश्न प्रत्यापन्न रह जावेगा । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के विषय में प्राचीन
आचार्य मौन हैं । दण्डो ने उदाहरण देकर जो उसकी व्याख्या की है उससे स्पष्ट होना है कि

लोचनम्

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापित
 स्कन्धे यस्य चिरे स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
 तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियाम्
 भ्रात प्रत्युपकारिणा धुरि पर वेताल लोचनयसे ॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्न कश्चिदन्य प्रस्तुत भाक्षिष्यते, तथाप्य-

जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, बहुत समय तक जिसके कन्धे पर बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, केवल मुसुरादृष्ट से ही इस उसके प्राणापहार का कार्य करनेवाले भाई वेताल ! तुम प्रत्युपकारियों के आगे रहने को लीला धारण कर रहे हो ।'

यहाँ पर यद्यपि सारूप्य के कारण कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न भाषित किया जाता है तारावती

देव गुणों को अभिव्यक्त करने के लिये ही किया गया है जो कि परिजातरहित स्वर्ग इत्यादि के स्मरणरूप कार्य में निमित्त है । यद्यपि यहाँ पर निमित्त की मर्यादा होती है किन्तु नैमित्तिक (कार्य) वाच्य है । यदि व्यंग्यार्थ निमित्त इसलिये प्रधान है कि वक्ता द्वारा उसी को अभिव्यक्त करना अभीष्ट है तो वाच्यार्थ नैमित्तिक इसलिये प्रधान है कि वह व्यंग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुपपन्न होता है । इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता एक जैसी हो गई । अतएव न तो इस कान्य को हम ध्वनि कह सकते हैं और न ध्वनि का अमस्तुतप्रशसा के इस भेद में समावेश का प्रश्न उठता है । इस प्रकार अमस्तुतप्रशसा के दो भेदों में प्रत्येक के दो दो प्रकारों पर विचार किया जा चुका । अब उसके तीसरे भेद स्वरूपसादृश्य में होनेवाली अमस्तुतप्रशसा पर विचार किया जा रहा है । [सादृश्य में होनेवाली अमस्तुतप्रशसा के तीन भेद किये गये हैं— श्लेषमूलक, समासोक्तिमूलक और केवल सादृश्यमूलक । किन्तु यहाँ पर लोचनकार ने इन सब भेदों पर विचार न कर सभी को सादृश्यमूलकता में ही सम्मिलित कर दिया है ।] सादृश्य के आधार पर अमस्तुत की व्यञ्जना दो प्रकार की हो सकती है— (१) कभी ऐसा होता है कि चमकार अमस्तुत वाच्य के अधीन होता है और व्यंग्य तमुत्थापेति होकर बोध हो जाता है । जैसे हमारे ही उपाध्याय भट्टन्दुराज का पद्य—

जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक स्थित रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उसे इस व्यक्ति के प्राणों को केवल मुसुरादृष्ट से ही अपहरण कर रहे हो । हे भाई वेताल ! आज तो तुम प्रत्युपकार करनेवालों के समीप रहकर आनन्द कर रहे हो ।'

यहाँ पर किसी कृतघ्न के प्रति उपालम्भ प्रस्तुत विषय है जिसकी व्यञ्जनादृष्टि से अभिव्यक्ति होती है । वेताल वृत्तान्त अमस्तुत वाच्य है । किन्तु चमकार में कारण वेताल वृत्तान्त

लोचनम्

अहो समारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।

अहो निसर्गजिह्वस्य दुरन्ता गतयो विधे ॥

अत्र हि देवप्राधान्य सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वणितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्प्रति पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषोऽस्य सामान्येन म्याप्तत्वाद्ब्रह्मण्यविशेषवद्वाच्यसामान्यत्वापि प्राधान्यम् । नहि सामान्यविशेषयोर्गुणपत्त्याधान्यं विरुध्यते । यद्वा तु विशेषोऽप्राकरणिक प्राकरणिक सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीय प्रकारः । यथा—

‘संसार की निर्दयता पर आश्चर्य है, आपत्तियों की दुरात्मता पर आश्चर्य है, स्वभावतः कुटिल विधाता को न समझी जा सकनेवाली गतियों पर भी आश्चर्य है।’

यहाँ निस्सन्देह सर्वत्र सामान्यरूप देवप्राधान्य (रस) अप्रस्तुत का वर्णन किया हुआ कहीं विनष्ट विशेषात्मक प्रस्तुत प्रस्तुत में पर्यवसित होता है । उनमें भी विशेषता के सामान्य से न्यात होने के कारण न्यून विशेष के समान सामान्य को भी प्रधानता है । सामान्य और विशेष को एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं होती । जब अप्राकरणिक विशेष प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार होता है । जैसे—

वाराचयी

इत्यादि । २—न तो मामह की कारिका में ही त्रिविध परिकीर्तन यह पाठ है और न मामह ने तीन रूपों में उसका विभाजन ही किया है । मामह का पाठ रस प्रकार का है—‘अप्रस्तुत मगसेति सा चैव कथ्यते यथा ।’ अपने समय की परम्परा के अनुसार ‘त्रिविध परिकीर्तित’ यह पाठ कर लिया गया है । यहाँ पर आज्ञा यह है कि जहाँ प्रस्तुत या आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे उसे अप्रस्तुतमगसा कहते हैं । वह प्रस्तुत का आक्षेप तीन प्रकार का हो सकता है (१) सामान्य विशेष भाव से (२) निमित्त निमित्त भाव से और (३) स्वरूप के सादृश्य के आधार पर । इनमें से प्रथम दो मवार्तों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इनमें वाच्य और न्यून्य, अप्रस्तुत और प्रस्तुत की प्रधानता समान होती है । यह बात अलोककार ने ‘अप्रस्तुतमगसायाम्पि’ से लेकर ‘प्राधान्य’ तक कहा है । उनमें भदों के आक्षेप क पहला कारण हाता है सामान्यविशेष भावः इसके भी दो रूप हो सकते हैं—(१) जिस अप्राकरणिक का अधिधान किया जा रहा है वह सामान्य हो बार जिस प्राकरणिक की ध्वन्यता हो रही है वह विशेष हो । जैसे कर्णपूर्व परिनिर्दिष्ट में पदा हुआ कई व्यक्ति कह रहा है —

‘संसार की निर्दयता पर खेद है, आपत्तियों की दुष्टता पर दुःख हाता है, आश्चर्य होता है कि विधाता की स्वभावतः कुटिल गति का बार पाना कठिना कठिन है।’

जीवनम्

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोक-
तिरस्त्वृतिभिरप्रधानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयँल्लोकं च वाचा-
लयद्वात्मन्यप्रतिमासंवाङ्मोक्षंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यद्वज्रायते तदा
तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते । जबोऽयमिति
छुधानेन्दुःखादिर्मानो लोकेनावज्ञायते, स च प्रस्तुतं कस्यचिद्विरहिणं औत्सुक्य-
चिन्तादूष्यमानमानसवामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोऽयथेच्छ
विकारकारणामिर्नर्तयति । न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रस्तुतं

कोई महापुरुष वीतराग होते हुये भी रोगों के समान प्रगाढ़ विवेक के आलोक से अन्य
कार के विस्तार का तिरस्कार किये हुए भी लोक के मध्य में अपने को छिपाये हुए इस न्याय
से लोक को वाचालित करते हुए अपने अन्दर अविभास का ही अङ्गीकृत करते हुए उसी
लोक के द्वारा 'यह मूर्ख है' इस रूप में जो अनमानित किया जाता है तब उसका प्रस्तुत
लोकोत्तर चरित्र व्यर्थ के रूप में प्रामाण्य से प्रकाशित होता है । 'यह बड़-यह कड़कर
उत्तम, चन्द्रोदय इत्यादि भाव लोक के द्वारा अनमानित किया जाता है । प्रस्तुत वह भाव
किसी विरही के मन को औत्सुक्य और चिन्ता से कँसानेवाला तथा दूसरे के मन का प्रहर्षपर
बन्ध बना देता है इस प्रकार हठपूर्वक स्वेच्छा से ही विचारों को उत्पन्नकर लोक को नचा
देता है । उसके हृदय को कोई नहीं जान पाता कि यह किम प्रकार का है, प्रस्तुत महागम्भीर

वारावती

'हे भाग्यो के समूह ! तुम मनुष्यों के हृदयों पर हठपूर्वक आक्रान्त्य करके उनको नचाया
करते हो । विभिन्न प्रकार की भक्तिभाषों के द्वारा अपने हृदय को छिपाये रहते हो और दूसरों
के हृदयों के साथ खेलते हो । वे ही तुम्हें जड़ कहते हैं और स्वयं सद्ब्रह्ममन्वता के अवशेष
में पड़े हुये हैं । तुम्हारे साथ ही सम्भावना से उनको जड़ कहना ही मुझे उनकी प्रशंसा
प्रतीत होता है ।'

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष यद्यपि वीतराग है, अपने पने आनालोक
के प्रकाश से मोहान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है किन्तु रागान्ध लोको
के सामने स्वयं रागान्धता भङ्ग करनी चाहिये इस नीति को टैकर सत्तार में अपना वीत-
रागता को पञ्चदित कर सत्तार को मूर्ख बनाने के लिये एसा पातें करता है जिससे लोको
अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ समझकर उसको मूर्ख बतलावे हैं और वह जाने अन्दर अज्ञानान्ध
कार को स्वीकार कर लेता है । उसका यह लाक्षापर चरित्र प्रस्तुत है जिसका अन्तना उक्त
रूप में को गई है तथा यह व्यथार्थ अस्तुत से अभिव्यक्त हो कर प्रथम हो जाता है । यहाँ
पर अस्तुत वाचार्थ इस प्रकार हुआ — भाव का अर्थ है प्राना सत्ता स्थापित रखने शक्ती तथा
सद्ब्रह्म में किन्ही भावना को अज्ञानेशक्ती चन्द्रोदय उत्तम इत्यादि विश्व के सुन्दरतम वरार्थ ।
सत्तार इसको जड़ समझकर इनका अनान्त करता है । इसके प्रतिहृत् वे भाव किसी विरही

लोचनम्

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्य प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलविन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम् । तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं न विरोध इत्युक्तम् । पूर्वमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन । पृतमेव न्याय निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशस्तस्यापि द्विप्रकारता दर्शयति—निमित्तेति । कदाचिच्चिन्तितमप्रस्तुतसदभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुतमाक्षिपांत । यथा—

यहाँ पर बिना अवसर के महत्त्व की सम्भावना, यह सामान्य प्रस्तुत है, अप्रस्तुत तो जलविन्दु में मणित्व की सम्भावनाविशेष रूप वाच्य । उसमें भी सामान्य और विशेष को एक साथ प्रधानता में विरोध नहीं है, वह कह दिया गया । इस प्रकार 'यदा तावत्' से 'विशेष-भ्यापि प्राधान्यम्' यहाँ तक एक प्रकार का दोनों भेदों में विचार कर लिया गया । इसी ही न्याय वा निमित्तनैमित्तिक भाव में भी अतिदेश करते हुए उसकी भी द्विप्रकारता को दिखलाते हैं—निमित्त इत्यादि । कदाचित् निमित्त अप्रस्तुत होते हुए अभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुत का आक्षेप करता है । जैसे—

तारावती

चयता । (२) अप्रस्तुत प्रकाश का दूसरा भेद वह होता है जहाँ विशेष अप्रस्तुत हो और सामान्य प्रस्तुत हो । विशेष का अभिधान किया जावे और उससे सामान्य का आरोप हो जावे । जैसे .—

'यह कोई बकी बात नहीं है कि उस मूर्ख ने प्रथम अलोकन के अवसर पर कमलिनो के पत्तेपर स्थित जलविन्दुओं को मुक्तामपि समझ लिया । मैं तुम्हें इससे भी अधिक विचित्र बात सुनाता हूँ—अङ्गुली के अग्रभाग को धारे से घुमाकर जैसे ही उसने उन मुतारलियाँ को छेदने की चेष्टा की वे जलविन्दु एकदम बिलीन हो गये । अब यह समझकर कि वे मुक्तामपि नहीं न जाने कहाँ चक गईं वह मूर्ख रात दिन दुःखी रहता है और अन्त शोक से सो नहीं सकता ।'

यहाँ पर प्रस्तुत है—'मूर्खों की ममता पत्ते रसान पर होती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं होता ।' और विशेष है—'कमलिनोपथ पर जलविन्दुओं में मुक्तामपियाँ की सम्भावना ।' विशेष वाच्य है और सामान्य न्यहय । दोनों को एक साथ प्रधानता है जो कि विरुद्ध नहीं कही जा सकती जैसा कि पहले निरूपण किया जा चुका है । इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों पर विचार किया गया कि उनमें ध्वनि का अन्तर्भार नहीं हो सकता । यही बात आलोक में 'यदा तावत्' से लेकर 'विशेषस्यास्त प्रधान्य' तक कही गई है । जो बात सामान्य विशेष में होनेवाली अप्रस्तुतप्रकाश के लिये कही गई है वही बात निमित्त-नैमित्तिक भाव में होनेवाली अप्रस्तुतप्रकाश के लिये भी कही जा सकती है । वही का अतिदेश (समान-न्याय) आलोक में 'निमित्त नैमित्तिकभावे पायमेव न्याय' यह कह कर

ध्वन्यालोक

तदयमत्र सक्षेप —

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्रधान्य वाच्यमात्रानुयायिन ।
समासाख्यादयस्त्र वाच्यालङ्कृतय स्फुटा ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमश्चि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावच शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वन स एव विषयो मन्तव्य सङ्गोऽज्ञात ॥

(अनु०) इस सम्पूर्ण व्याख्यान का सारांश यह है—

‘जहाँ पर केवल वाच्यार्थ का अनुपाया होने के कारण व्यंग्य अग्रधान हो गया हो वहाँ पर स्पष्टरूप से समासक्ति श्वादि वाच्यालङ्कार होते हैं । जहाँ पर व्यंग्य का स्पष्ट रूप से आभासमात्र मिल रहा हो, अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो या उसकी प्रधानता मन्वीत हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती । जहाँ पर शब्द और अर्थ न्यग्यपरक हों और वहाँ पर लकर अलङ्कार हा सकने का अवसर न हो तो वह ध्वनि का विषय होता है ।

छोचनम्

उद्देश्य यदादिग्रहण कृत समासोक्तीर्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिर-
लङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवशा सम्भावित । तत्र सर्वत्र साधारण-
मुचर दातुमुपक्रमत—तदयमयति । कियद्वा प्रतिपद खिल्यतामिति नाव । तत्र
व्याजस्तुतिर्यथा—

उप० में समासक्ति श्वादि द्वन्द्व में जो आदि ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति श्वादि अलङ्कारवर्ग की भी सम्भावना की गई है जिसमें व्यंग्य की सम्भावना की जा सकती है । उसमें सर्वत्र साधारण उचर देने का उपक्रम कर रहे हैं—तदयमत्र श्वादि । आशय यह है कि प्रविशद अथवा कहीं ठक लिखा जाने । उसमें व्याजस्तुति जैसे—

शारावती

यहाँ पर अस्तुत्वप्रशसा अलङ्कार है ही नहीं जो कि उसमें ध्वनि के अन्तर्भाव की कल्पना की जावे ।] यही बात आलोक में ‘यदा तु’ से लेकर ध्वनादेशान्तपाठ’ ठक करी गई है । ‘नहीं तो विशेषनकार का अलङ्कार हाता है’ कहने का आशय यह है कि व्यंग्यार्थ की अग्रधानता में ही अग्रस्तुत्वप्रशसा नाम का अलङ्कारविशेष होता है प्रधानता में तो अलङ्कार हो ही नहीं सकता ।

जिन व्यङ्ग्यमूलक अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने की प्रतिष्ठा की थी उन समासक्ति आशय श्वादि अलङ्कारों में द्वन्द्व समास करके ‘श्वादि’ शब्द जाइ दिया था । इससे व्याजस्तुति श्वादि व्यंग्यार्थमूलक अलङ्कारों में भी ध्वनि के समावेश की सम्भावना का निराकरण हा गया । (आलोककारने श्वादि शब्द से अग्रस्तुत्वप्रशसा पर भी विचार

छोषणम्

सग्न अपारिजात कोशुब लच्छिरहिष महुमहस्स उरम् ।

सुमरामि महणपुरधो अनुबभन्द च हरजडापम्मारम् ॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकवर्णयति प्रस्तुत वृद्धसेवाधिरजोवित्त्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूत मन्त्रिताया मुपादेयमभिव्यक्तम् । तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिक वाच्यभूतम्, प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धरीकरोत्पारमानमिति सम प्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययो । एव द्वौ प्रकारौ प्रत्येक द्विविधौ विचार्य तृतीय प्रकारः परोक्ष्यते सारूप्यलक्षण तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतारूपाच्चिद्वाच्याच्चमकारः, व्यङ्ग्य तु तन्मुलप्रेक्षम् । यथास्मदुपाध्यायमट्टेन्दुराजस्य—

मै मयन से पहले पारिजात रहित स्वर्ग, कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुमयन का उर रस और मुग्धचन्द्ररहित शङ्करजटा के अग्रभाग का स्मरण करता हूँ ॥

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीरहित विष्णुप्रस्यल क स्मरणादिक मप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत वृद्धसेवा, विरजोवित्त्व, व्यवहारकौशल इत्यादि मन्त्रित्व में उपादेय निमित्तभूत की अभिव्यक्ति के लिये (यह वर्णन किया गया है) यहाँ पर निमित्त की प्रतीति में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके प्रतिकृत उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण अपने को प्रधान बना लेता है । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है । इस प्रकार दो प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचारकर सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार की परोक्षा की जा रही है । उसमें भी दो प्रकार हाव हैं—कभी वाच्य मप्रस्तुत से पमाकार होता है और व्यङ्ग्य तन्मुलापेशी होता है । जैसे हमारे उपाध्याय मट्टेन्दुराज का—

वारावती

‘मुझे समुद्र मयन से पूर्व पारिजात से रहित स्वर्ग, मधुमयन भगवान् विष्णु का कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से रहित वराहल तथा मगरान् शंकर का मुग्धचन्द्रमुख वराहाम्पार वाद आ रहा है ।’

जाम्बवान् यहाँ पर कहना यह चाहते हैं कि एक मन्त्रों में अनेक उपादेय गुण होने चाहिये । जब तक वे गुण नहीं होते बहुत समय तक मन्त्री पद का निर्वाह नहीं हो सकता । जाम्बवान् में ये गुण थे इसी लिये उन्होंने मन्त्री पद में इतने दिनों तक सफलता प्राप्त की कि वे उस समय से मन्त्री पद पर कार्य करते गये हैं जब कि समुद्र मयन भी नहीं हुआ था । यहाँ पर जाम्बवान् में मन्त्री पद के अनेक गुण कारण हैं जिससे उनका इतने समय तक सफल रहना और इतने समय पूर्व का स्मरणरूप कार्य समग्र हुआ है । जाम्बवान् ने यहाँ पर भगवान् के वैष्णुभक्तानीन्त्य वराहल के स्मरण इत्यादि कथों का वर्णन किया है जो कि मप्रस्तुत हैं । यह मप्रस्तुत का वर्णन वृद्धसेवा, विरजोवन, व्यवहारकुशलता इत्यादि मन्त्रित्व के वा

तारावती

कर लिया ।) उन सभी श्रेय अलंकारों में ध्वनि के समावेश का एक साधारण उदाहरण आलोककार ने अगले श्लोकों में दिया है । आशय यह है कि प्रत्येक अलंकार को लेकर वहाँ तक लिखा जावे । अभिनवगुप्त ने इत्यादि शब्द से व्याजस्तुति और मात्र इन दो अलंकारों पर और विचार किया है । उनमें पहले व्याजस्तुति का लीजिये । [व्याजस्तुति के विषय में भा प्राचीन और नवीन मतों में भेद है । प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुति' इस तत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ निन्दा वाच्य हो उसे व्याजस्तुति मानते हैं । किन्तु नवीन आचार्य 'व्याजरूपा स्तुति' यह कर्मधारय समास और ओङ्कार दोनों स्थानों पर व्याजस्तुति मानते हैं—(१) जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिये निन्दा को चाहे, अथवा (२) जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के लिए प्रशंसा की जावे । यहाँ पर लोचनकार ने केवल उभयसम्मत प्रथम प्रकार की व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है ।

'दुसरो के घर की बात से हमें क्या ? किन्तु मैं चुप बैठने में असमर्थ हूँ दाम्पिण्य लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं । दुःख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति पर-पर, बाजारों में, चौराहों पर और पानगोष्ठियों में उमत्त के समान जहाँ जहाँ घूम रही है ।'

यहाँ पर प्रशंसात्मक व्यंग्यार्थ की उपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है । किसी ने व्याजस्तुतिवा यह उदाहरण दिया है—

हे राजन् ! पृथ्वी पहले तुम्हारे दादी थी, इसके बाद माता बन गई । इस समय अन्तु राशि की मेलला से विभूषित वह मूमि तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिये तुम्हारे धर्मपत्नी बन गई । जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब वही तुम्हारे अभिन्दनीय पुत्रवधू बन जावेगी क्या समस्तनीति पारङ्गत राजाओं के वंश में यह ठीक !'

यह उदाहरण हमें (अभिनवगुप्त को) अत्यन्त गंवारु मालूम पड़ता है क्योंकि इससे बहुत ही असम्य स्तुति जागृति होती है । (फिर जिस प्रशंसा के लिये इस कवि ने दादी को माँ, माँ को पत्नी और पत्नी का पुत्रवधू बनाया) वह प्रशंसा इसने क्या कर दी ? यही न कि तुम वंशपरम्परा से राजा हो । यह क्या बात हुई । वंशपरम्परा से तो राजा हुआ ही करते हैं । इसमें प्रशंसा क्या हा गई ? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयगणों में निन्दित मानी जाती है, अतएव इसकी उपेक्षा हा करनी चाहिये ।

अब मात्राकार का लीजिये । (मात्र को रुद्र ने अलंकार माना है ।) उदाहरण भागलकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

जिस अनुराग इत्यादि विशेष प्रकार का चित्तवृत्ति से उत्पन्न हुआ वाग्व्यापार इत्यादि विकार निश्चितरूप से उस चित्तवृत्त को बिना हतु से व्यक्त किया करता है वह हतु ही भागलकार कहा जाता है ।'

लोचनम्

प्रस्तुतस्यैव वेतालवृष्टान्तस्य चमत्कारित्वम् । नञ्चेतनोपालम्भवदसम्भाव्य-
मानोऽयमर्थो न च न इय इति वाच्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनरचेतनादि-
नात्यन्तासम्भाव्यमानवद्वयविरसपणेनाप्रस्तुतन वर्णितन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाण
चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ । यथा ममैव—

भावमात हठाब्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यत्नयन्
भङ्गाभिर्विकिधाभिरामहृदय प्रच्छाद्य सहक्रीडसे ।
स स्वामाह जड उत सद्दयम्मन्यत्वदुशिक्षितो
म-येऽमुष्य जडा मतास्तुतिपद त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

तथापि अप्रस्तुत वेतालवृष्टान्त का ही चमत्कारित्व है । अचेतन के उपालम्भ के समान यह
अय असम्भाव्यमान नहीं है और न यही है कि इय न हो, इस प्रकार यहाँ पर वाच्यत्व की
प्रधानता है । यदि पुन अत्यन्त असम्भाव्यमान अप्रस्तुतार्थ विशेषणीराळे बचन किये हुये
अप्रस्तुत के द्वारा आशित किया हुआ प्रस्तुत चमत्कारकारक हो तो वह वस्तुध्वनि हातो है ।
जैसे मेरा ही—

‘हे मानसमूह ! जो कि हठपूर्वक व्यक्ति के हृदय को आक्रान्त कर नचाते हुए विविध
भाङ्गनाभो से अपने हृदय को आच्छादित कर ढीका करत हो, वह तुमको जड़ कहता है और
उससे अपनी सद्दयमन्यता से दुशिक्षित है । इसकी जहा-मटा को मैं तुम्हारे साम्य की सम्भा-
वना से प्रशंसा ही समझता हूँ ।’

वारावली

ही है । (क्योंकि ‘हृन्ने तुम्हारा उपकार किया किन्तु तुम उपकार कर रहे हो, यह तुम्हें
सोभा नहीं देता’ इस आशित न्यून्य की अपेक्षा वेताल के प्रति मापसमर्पण इत्यादि उक्त वाच्य
अधिक चमत्कारकारक है ।) यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अतीत के वेताल के प्रति इन
शब्दों के प्रयोग में असम्भवता का प्रतिपाद हाता है अत वाच्य सुन्दर नहीं हो सकता ।
बिना प्रकार अचेतन के प्रति उपालम्भ सम्भावना क्षेत्र से बाध होते हुये भी असुन्दर नहीं
हाता उसी प्रकार यह अर्थ भी असुन्दर नहीं है । काव्य में इस प्रकार के बचन असम्भव नहीं
माने जाते । लोक के मानदण्ड सर्वत्र काव्य के मानदण्ड नहीं हाते । अतएव वाच्य अर्थ को
ही यहाँ पर प्रधानता है और यहाँ पर सास्त्वनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है ध्वनि
नहीं । (२) दूसरे प्रकार की साहचर्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा ऐसे स्थान पर कही जा सकती
है जहाँ अत्यन्त असम्भव विषयों के द्वारा अचेतन इत्यादि अप्रस्तुत का बचन किया जाता
है और उससे चेतन प्रस्तुत का आशय कर लिया जाता है तथा अत्यवस्थान उनी प्रति
प्रस्तुत अर्थ में ही होता है । अत उसी अर्थ की प्रधानता हाती है । यहाँ पर अप्रस्तुत
प्रशंसाकार नहीं हाता । रसक समारोप ध्वन्याय की प्रधानता के कारण ध्वनि वाच्य के
अलगत हाता । उदाहरण के लिये जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) पद्य—

बोचनम्

यत्रेति काव्य अलङ्कृतय इति । अलङ्कृतिरवाद्ब च वाच्योपस्कारकत्वम् । प्रतिभामात्र इति । यत्राप्येमादौ म्लिष्टार्थप्रतीति । वाच्यार्थानुगम इति । वाच्य-
नार्थानुगम सम प्राधान्यमप्रस्तुतप्रदाशायामिवत्यर्थः । न प्रतीयत इति । स्फुटतया प्राधान्य न चकास्ति, अपितु बलात्कल्पयत । तथापि हृदय वानु प्रविशति । यथा 'दे आ पसिअ निवत्तमु' इत्यशान्-पृतासु व्याख्यासु । तेन घतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहार सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्य म्लिष्टप्रतीती । वाच्यन समप्राधान्यस्फुटप्राधान्य च । क्व तद्व्यंसाविरत्याह तत्परावेवेति । सङ्कराङ्कारानुप्रवेशसम्भावनाया उज्जित इत्यर्थः । सङ्कराङ्कारणवित्त्वसत्, अन्यालङ्कारापक्षक्षयत्वे हि विज्ञप्त स्यात् ।

नदींर का अर्थ है काव्य में । अलङ्कृतय । अलङ्कार हाने के कारण हो वाच्य के उपस्कारक होते हैं । प्रतिभामात्र अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन अर्थ की प्रतीति होती है । वाच्यार्थानुगम का अर्थ है जहाँ वाच्य के साथ अनुगम हो अर्थात् अप्रस्तुतप्रदाश के समान समप्राधान्य । न प्रतीयते स्फुट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलात् कल्पित कर ली जाती है तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होती । जैसा कि देआ पसिअ निवत्तमु' की दूसरी दारा की मूह व्याख्याओं में । इससे चारों प्रकारों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । व्यङ्ग्य के होनेपर भी अप्राधान्य होनेपर, मलिन प्रतीति में, वाच्य के साथ समान प्रधानता होनेपर और प्राधान्य के स्फुट न होनेपर । तो फिर यह होता कहाँ है ? यह कह रहे हैं—'तपरावेव' इत्यादि । सङ्कर के द्वारा अर्थात् अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना के द्वारा छोटा हुआ । सङ्करालंकार के द्वारा यह ठीक नहीं है । अन्य अलंकारों का उपलक्षण मानने पर तो अर्थ किष्ट हो जावेगा ।

वारावती

भावालंकार को इस प्रकार समझिये यहाँ पर नाविका ने बितने भी शब्द कहे हैं उनमें एक व्यञ्जना निकलती है । जब तक व्यङ्ग्याय को न स्वीकार किया जावे तब तक उसके उन शब्दों का प्रयोग ही सार्वक नहीं होता । घट का स्वामा परदेग को चला गया है न एक तो अनेको दूसरे अबला और तीसरे तक्षणी' यह सब कहने का आशय सर्वसाधारण के प्रति तो यह है कि तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है, किन्तु नाशक के प्रति इसका भाग्य यह है कि भाव बड़ा अच्छा भवसर है तुम्हें यहाँ अवश्य रहना चाहिये । 'चला गया है मैं भूतकाष्ठ का भाग्य यह है कि उसे गये पर्याप्त समय हो गया अतः उसके लौटने का सम्भावना नहीं, 'विदेग' का अर्थ यह है कि वह कहीं निकट ही नहीं गया है, जहाँ वह गया है वह स्थान बहुत दूर है अतः वह किसी प्रकार भी छोट नहीं सकता । मैं अनेको हूँ का अर्थ यह है कि यहाँ कहीं और अकर नहीं रहगा, 'अबला' का अर्थ है तुम्हें मुझसे भय या सद्भाव नहीं करना चाहिये, 'तक्षणी' का अर्थ है मेरा जीवन आकरक है । बेचारी सास अभी और

लोचनम्

महागर्भभरोऽतिविदग्ध सुप्तुगर्वहानोऽतिशयन क्रीडाचतुर स यदि लोचन जट इति तत्र एव कारणात् प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावनानिमित्ता सम्भावित, आत्मा च यत्र एव कारणात्प्रत्युत जात्येन सम्भाव्यतत्र एव सद्दय सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जटाऽसीति यद्यप्यत्र तदा जात्यमवविधस्य भावमात्रस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रयुत स्तुतिरिति । जटादपि पार्श्यायानय लोक इति ध्वन्यत ।

तदाह—यदा त्विति । इतरथा त्विति । इतरथैव पुनरब्ध्वारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्व न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम्, इति भावः ।

अत्रत विदग्ध मठीमति गवरहित अत्यन्त क्रीडाचतुर होता है । वह यदि लोक के द्वारा वैदग्ध्य सम्भावना में निमित्त वही कारणों से प्रयुत 'जट है' इस रूप में सम्भावित कर लिया जाता है और जिन कारणों से अपने को जटय के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये वही कारणों से (अपने को) सद्दय समझता है वह इस लोक के लिये 'जट हो' यह जो कहा जावे तब इस प्रकार के अविदग्ध भावसमूह की जटता प्रसिद्ध है इस प्रकार वह प्रयुत श्रुति ही है । यह लोक जट से भी अधिक पापवाला है यह ध्वनित होता है ।

वहाँ कहते हैं—यदा' त्विति । इतरथा' त्विति । अन्य प्रकार से ही अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् विशेष प्रकार का अलङ्कार होता है । आशय यह है कि व्यंग्य का किसी प्रकार भी प्राधान्य नहीं होता ।

गारावती

के मन की वृष्ट्या और चिन्ता से जनझोर डकटे हैं तथा किसी सप गी के भन्व रूप को महशपरवश कर देते हैं । इस प्रकार वे भावसमूह जब जैसा चाहते हैं लोगों के हृदयों में विकार उत्पन्न करते हुए बलपूर्वक उसे नचावा करते हैं, कोई नहीं जान पाता कि वे भावसमूह स्वयं किस प्रकार के हैं । वस्तुतः वे भावसमूह स्वयं तो बड़े ही गम्भीर, अतिन्युण्य मठीमति गवरहित और दूसरों के साथ सिलसबा करने में जय व चतुर हैं । वही कारणों से (अर्थात् अपने को छिपाने के ही कारण) छग व हैं जट समझते हैं जब कि इन भावों का अत्यन्त विदग्ध समझना चाहिये । जिन कारणों से अपने को जट समझना चाहिये वही कारणों से छोग अपने को सद्दय समझते हैं । आशय यह है कि विदग्ध वस्तुओं को जट समझने के कारण छग स्वयं तो जट हैं और अपने को सद्दयसम समझता है । इससे वही जटता और क्या हो सकती है कि विदग्ध को जट और जट को विदग्ध कहा जावे । ऐसे लोक के लिये यदि एक कहा जावे और इस प्रकार के भावसमूह से ज्यया दी जावे जा अविदग्ध लोगों के लिये अक्षय में प्रसिद्ध हो चुके हैं तो यह छ-को प्रशंसा ही होगी । आशय यह है कि वह ससार जट अर्थात् को अज्ञेया भी अधिक पापी (जट, मूर्ख) है । [यहाँ पर 'जट अज्ञ को जट कहनेव ले मूल है' इस व श्लोक में उठना अमकार नहीं है जितना किसी व नी लोगों का अज्ञाने वे 'छे १२४ अट नी इन अने के १२५' में है । अतः यह ध्वनि का छग है ।

ध्वन्यालोक

'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिं न यथाकथञ्चिद्व्यवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमं हि विद्वांसो वैश्याकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । तं च ध्रुवमाणुषु षण्णु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिनिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र- शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त ।

(अनु०) 'विद्वानों के द्वारा अभिहित किया जाता है इस कथन में विद्वानों के द्वारा कहने का आशय यह है कि इस ध्वनि सिद्धान्त का मूलम ध्वनि विद्वानों ने किया है, यह यँहो मनमान रूप में प्रचलित नहीं हो गया । अतः इसका प्रतिपादन किया जाता है । वैश्याकरण ही प्रथम काल के विद्वान् माने जाते हैं क्योंकि सब विद्याओं के मूल में व्याकरण ही है । वे लोग षण्णों के दुनारै पठनेवाले माणु को ध्वनि कहते हैं । उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करनेवाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् भी इन चार अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं— (१) वाच्यार्थ के लिये (२) वाचक शब्द के लिये (३) सम्मिश्र अर्थात् विभाव अनुभाव इत्यादि के स्रवण से होनेवाले अक्षराय के लिये । (४) आ ना रूप में स्थित शब्द के अक्षर अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के लिये । इन चारों के अतिरिक्त काव्य नामक पदार्थ को भी ध्वनि कहते हैं क्योंकि वह भी उक्त चारों प्रकार का एक सम्मिलित रूप ही होता है ।

लोचनम्

विद्वदुपज्ञेति । विद्वद्वय उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः तेन 'उपज्ञापक्रम' इति वस्तुस्थाध्रय नपुसकत्व निरवकाशम् ।

विद्वदुपज्ञेति । विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् प्रथम उद्योग है जिस लक्ष्य का इस प्रकार बहुव्रीहि है । इससे 'उपज्ञापक्रम' इत्यादि रूप ही उपज्ञा के अर्थ में होनेवाला नपुसकलित निरवकाश ही जाता है ।

सारावती

ही ही नहीं सकता । अब प्रश्न यह है कि प्रथम करके हम एक अवयव अवयवों न मानें; समुदाय के अन्दर हा उस अवयव और अवयवों को एकलक्षण कथो न मान लें ? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में भी केवल एक अवयव ही पूरा समुदाय कैसे करा जा सकता है ? अवयवों के समुदाय को ही अवयवों कहते हैं । अतएव एक अवयव का पूरे अवयवों से तादात्म्य ही ही नहीं सकता । दूसरी बात यह भी है कि उस समुदाय में प्रतीयमान व्यर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधान रूप में स्थित होने के कारण कभी भी अलंकाररूपता को प्राप्त ही नहीं हो सकता और यदि प्रतीयमान अथ अग्रधान होगा तो उसे ध्वनि का संग्रहा प्राप्त न हो सकेगा । इन कारणों से कहीं भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अलंकार में स्थित अलंकार ही अर्थात् ध्वनि का रूप धारण किया करते हैं । (प्रश्न) निस्सन्देह तुमने किसी अलंकार को ही प्रधानता का अभिप्रेक देकर 'ध्वनि' यह नाम दे दिया है और उसी को काव्य को

लोचनम्

किं वृत्तान्ते परगृहगतं किन्तु नाह समर्थ-
 स्तृष्णो स्यात् प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभाव ।
 गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगाष्टया-
 मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो बहुभा इन्त काति ॥

अत्र व्यङ्ग्य स्तुत्यात्मक यत्नेन वाच्यमवोपस्क्रियत । यत्सद्भाइत केनपि-
 आसीन्नाथ पितामही तव मही, जाता ततोऽनन्तर
 माता, सम्प्रति साम्पुराशिरक्षणा जाया कुलोद्भूतम् ।
 पूर्णं वर्षंशते भविष्यति पुन सैवानवधा स्तुषा
 युक्त नाम समग्रनातिविदुषां कि भूषणां कुल ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्य प्रतिमात्यल्पगतासम्बन्धस्मृतिहतत्वात् । का ध्यान
 स्तुति कृता ? ख वशक्रमण राजति हि कियदिदम् ? इत्यवप्राया न्याजस्तुति
 सहृदयगोष्ठापु निन्दिते-युपक्षयैव ।

यस्य विकार प्रमद्व्यप्रतिबन्धस्तु इतुना यन ।

गमयति तमभिप्राय उरप्रतिबन्ध च भावाऽसौ ॥

‘दूसरे के घर में होनेवाले वृत्तान्त से क्या ? किन्तु मैं मौन होकर स्थित होने में समर्थ
 नहीं हूँ क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप में मुखर होता है । खेद है कि आपकी
 मियतमा कौति घर-घर में, बाजारों में, चौराहों पर, मण्डालों में उन्मत्त के समान घूमती
 रहती है ।’

यहाँ पर जो स्तुत्यात्मक व्यङ्ग्य है उससे वाच्य ही उपर्युक्त होता है । जो किसी ने
 सदाहरण दिया था—

इ नाथ । पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, उसके बाद माता बन गई अब कुछ भी उद्भूति
 के लिये अम्पुराशिरूपी रमणा के सहित तुम्हारी जाया बन गई । जब सो वर्ष पूरे हो जायवे
 तो वही तुम्हारी अनिन्दनाव पुत्रवधु हो जावेगा । समस्तनातिवर्ष में निपुण राजाओं के घर में
 क्या यह उचित है ?’

बह होने ग्राम्य ही मदीन होता है क्योंकि यह अत्यन्त असम्बन्ध स्मृति में दृष्ट है । आर
 इसने स्तुति की क्या ? तुम वदकम से राजा हो यदि किन्तो स्तुति हुई ? इस प्रकार की
 न्याजस्तुति सहृदयों की गणों में निन्दित ही होता है अतः इसकी उपमा ही की जानी
 चाहिये ।

‘सम्बन्ध अतिरिक्त विकार प्रादुर्भूत होत हुए जिस दृष्ट से उस अभिप्राय का व्यक्त करता
 है वह मतिरिक्त (इतु) भाव होता है ।

सारावली

मनु जो ने वैय्याकरणों को पछिगावन लिखा हे और पुण्यदन्त ने ठो यहाँ तक कहा हे कि—'वैयाकरणों के सुधामपुर स्निग्ध बचनों से आपूर्णकर्म होकर यदि मुझे रहना पड़े तो मैं देशी के शाप से मृत्युलोक में जन्म लेने को भी धन्य समझूँगा ।')

[जैसा कि पहले बतलाया जा चुका हे ध्वनिकार को ध्वनि को किसी प्राचीन परम्परा का ज्ञान या और वह परम्परा आलोककार के समय तक नष्ट हो गई थी। यहाँ पर ध्वनिकार ने 'सूरियि. कथित' कहकर उसी परम्परा की ओर संकेत किया हे, किन्तु आलोककार को ऐसी किसी परम्परा का ज्ञान नहीं था। अतएव उन्होंने इस कथन की सङ्गति मिटाने के लिए कल्पना कर ली कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रादुर्भाव वैय्याकरणों के स्फोटवाद से हुआ हे। अभिनव गुप्त मन्मथ इत्यादि बाद के सभी आचार्यों ने इसी व्यवस्था को ठोक माना। वयपि 'जहाँ पर शब्द और अर्थ बनने को गोष बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वानों ने ध्वनि सञ्चा प्रदान की हे' इस कथन का यह आशय कभी नहीं हो सकता कि 'विद्वानों ने स्फोटवाद का प्रतिपादन किया या और उसके आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।' तथापि वैय्याकरणों के स्फोट और काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ साम्य अवश्य हे। यह भी सम्भव हे कि पहले पहल साहित्य शास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रवर्तन वैय्याकरणों के अनुकरण पर हुआ हो और बाद में उस सिद्धान्त का विस्तार कर पूरा काव्यशास्त्र उससे आर्जोष्ठ कर दिया गया हो। अतएव यहाँ पर स्फोटवाद का सशिष्ट परिचय मात कर लेना आवश्यक हे।

वैयाकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते हैं 'जो शब्द हे वही अर्थ हे और जो अर्थ हे वही शब्द हे।' वह मन्त्र उपस्थित होता हे कि लोक में अर्थ की जो क्रियायें देखी जाती हैं वे शब्द की क्यों नहीं होतीं? यदि शब्द और अर्थ दोनों एक हैं तो जिस प्रकार शब्द अर्थ (वस्तु) से कुछ भीटा हो जाता हे उसी प्रकार शब्द शब्द से भी कुछ मोठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुँह जल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं हे। इस शक का समाधान वैय्याकरण इस प्रकार करते हैं कि किसी भी शब्द का वाच्य अर्थ नहीं होता किन्तु मलेक वस्तु का एक भावनात्मक चित्र हम लोगों के अन्तःकरण में बना होता हे। वह आकृति ही जात कहलाती हे—'आकृतिर्भातिपदवाच्या' वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती हे। शब्द को बीदाप कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों की सञ्च अन्तःकरण में होती हे, अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता हे। इस विषय में वैय्याकरण का सिद्धान्त अनेकवादी वेदान्तियों के बहुत निकट पड़ता हे। अनेकवादी वेदान्ती दृश्यमान जगत् को भ्रमनात्र मानते हैं। अज्ञ तरंग को जान लेने से उस भ्रमका निराकरण उसी प्रकार हो जाता हे जिस प्रकार जागने के बाद दृश्यमान स्वप्नजगत् का अन्तर्धान हो जाता हे। दृश्यमान भ्रमनात्मक विषय के स्र पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु अज्ञ के

श्लोकम्

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता । यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी
याग्न्यापाराद्विकारोऽप्रतिबन्धो नियत प्रभवस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं
येन हेतुना गमयति स हेतुर्बोधोपभोगवत्त्वादि लक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः । यथा—

एकाकिनी यद्बला तरुणी तथाहमस्मिन् गृहे गृहप तश्च गतो विदेशम् ।

क वाचसे तदिह वासमिय वराकी अधर्ममान्धवधिरा ननु मूढ वान्य ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारोति वाच्य प्रधानम् । व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु
न काचिदलङ्कारवेति निरूपितमित्यल्ल बहुना ।

यहाँ पर भी वाच्य की प्रधानता में भावालङ्कार होता है ? जिस विशेष प्रकार की चित्त
वृत्ति से सम्बद्ध याग्न्यापार इत्यादि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत रूप में उत्पन्न होते हुये
उस चित्तवृत्तिरूप विशेष अभिप्राय को व्यक्त करता है; वह हेतु अर्थात् यथेष्ट भोग्यत्व इत्यादि
लक्षणवाला वह अर्थ ही भावालङ्कार होता है । जैसे—

‘जो कि मैं इस घर में अकेली अबला तथा तरुणी हूँ, मेरा गृहपति विदेश चला गया है;
तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो ? अरे मूर्ख वान्य ! वह मेरी बात निन्देद
अन्धी और बहरी है ।’

यहाँपर व्यङ्ग्य एक-एक पद में सहायक है । अलङ्कार की ही प्रधानता है । व्यङ्ग्य
की प्रधानता में तो कोई अलङ्कारता नहीं होती, वह निरूपण कर दिया गया है, अधिक
कहने से क्या ?

छायावती

इसमें भी भाव अभी अलङ्कार बनता है जब वाच्य की प्रधानता हो । आशय यह है कि
विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो विकार उत्पन्न हुआ हो
वह यदि उस चित्तवृत्ति को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ हो तो जिस हेतु उस अभिप्राय का
सदस्य होता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है । इस प्रकार का हेतु ही सदस्य है
यथेष्ट उपभोग्यता इत्यादि । जैसे—

काश् प्रोपितपतिना निवासस्थान के शब्दोंक किसी पयिक से कह रही है—‘हे मूर्ख
पयिक ! तुम देख रहे हो कि इस घर में मैं अकेली ही तरुणी अबला हूँ मेरे पर का स्वामी
भी विदेश चला गया है । बेचारी बूढ़ी सास एक तो अन्धी है दूसरे बहरी, फिर तुम निवास
की प्रार्थना किससे कर रहे हो ।’

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा यथेष्ट उपभोग्यत्व रूप अभिप्राय की सूचना मिलती है ।
व्यङ्ग्य एक-एक पद का सहकारी बनता है । अलङ्कार वाच्य की ही प्रधानता है । यदि यहाँ
पर (या वहाँ अन्यत्र) व्यङ्ग्यार्थ प्रधान माना जावेगा तो इसे अलङ्कार कहा जास ही नहीं
हो सकेगी । इस प्रकार यहाँ तक पूर्णरूप से ‘अभिनवमूलक अलङ्कारों का भ्रम में अन्वय
नहीं हो सकता यह सिद्ध कर दिया गया । अब अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ? [अल

छोचनम्

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्रशब्दकुर्वा सन्तानेनागता भन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं ताव-
दस्ति, वे च ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह मगवान् मर्तुहरिः—

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्र-शब्दकुर्वी परम्पराप्रवाह से आये हुये अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं इस प्रक्रिया में अन्तिम शब्द श्रुतिगोचर होते हैं यह कह दिया गया । उनका घण्टानुरणन-
रूप है ही, वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे गये हैं । जैसा कि मगवान् मर्तुहरि ने कहा है—

तारावती

समझना चाहिये जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृमता से आत्मा में कृमता नहीं होती
अथवा तेल मुकुट छद्म इत्यादि विभिन्न वस्तुओं में देखने पर मुल्लुकृति विभिन्न प्रकार की प्रतीत
होती है किन्तु मुख में भेद नहीं होता उसी प्रकार औषाधिक ध्वनिभेद होने पर भी स्फोट में
भेद नहीं होता । यह स्फोट सिद्धान्त का सार है । वैश्याकरण स्फोट के व्यञ्जकों को ध्वनि कहते
ये । उनके मत में ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनतीति ध्वनिः' । साहित्यशास्त्रियों ने
इसी ध्वनि शब्द को लेकर उसका और अधिक विस्तार किया । उन्होंने ध्वनित करना एक
सानान्य धर्म छे लिया और जिन्हे भी ध्वनित करनेवाले उक्त ये उन सभी का समावेश ध्वनि
में कर दिया । इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, वाक्य रचना
इत्यादि समस्त व्यञ्जक वर्ग इस ध्वनि शब्द से समृद्ध होने लगा । केवल इतना ही नहीं
बलित् अर्थ भी यदि दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह भी व्यञ्जक वर्ग में सम्मिलित
ही गया । यह व्यञ्जक अर्थ वाक्य भी हो सकता है, लक्ष्य भी और यदि एक व्यञ्जक अर्थ के
द्वारा दूसरा व्यञ्जक अर्थ अभिव्यक्त होने लगे तो व्यञ्जक भी व्यञ्जक कोटि में आ जावेगा ।
ध्वनि शब्द का वही तक विस्तार नहीं हुआ बलित् उसकी कर्म साधन व्युत्पत्ति को मानकर
व्यञ्जनात् अर्थ को भी ध्वनि सदा प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलङ्कार और उस
दोनों का समावेश ध्वनि में हो गया । इसके अतिरिक्त मात्रसाधन व्युत्पत्ति का आशय लेकर
व्यञ्जना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाने लगा । साय ही इन सबका
समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया । इस प्रकार काव्य के लिये उपर्युक्त समस्त साधनों
का सम्मिश्रण इस ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण
कर लिया ।

'वैश्याकरण लोग श्रवणेंद्रिय द्वारा गोचर किये हुये वषों के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार
करते हैं ।' इस कथन का आशय यह है कि परम्परा द्वारा शब्द कर्णगोचर तक पहुँचते हैं और
अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं । इस प्रक्रिया के अनुसार शब्द शब्द ही सुनाई पड़ते हैं यह
कहा गया है । जिस प्रकार पशु का ध्वनि में अनुरणनरूपता होती है अर्थात् शब्द होने के
बाद एक प्रकार की साहस सुनाई पड़ता रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण के

लोचनम्

नन्वबद्धार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिपेक दत्त्वा ध्वनिरित्यारमेति श्लोक इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति । नहि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासी तथास्माभिः कृतः, तद्विधिस्तत्रेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यबद्धारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इत्यादि 'कस्म वा ण' इत्यादि, उदाह—उल्लिखित्वमेवेति ।

अलंकार को ही तुमने प्रधानता वा अभिपेक देकर 'ध्वनि और आमा यह कह दिया है' यह शङ्का कर के कहते हैं—यत्रापि वेति । समासोक्ति इत्यादि में कोई एक ही हम लोगों ने देखा ही नहीं कर दिया है क्योंकि उससे मित्र में भी उसको सत्ता होती है, क्योंकि समस्त समासोक्ति इत्यादि अलंकारस्वरूप के अभाव में भी उसे दिखलाया जा चुका है (जैसे) 'अत्ता एत्थ' इत्यादि और 'कस्म वा ण' इत्यादि । वह कहते हैं—तन्निष्ठत्वमेव इति ।

वारावर्ती

प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता—(१) व्यङ्ग्यार्थ के होते हुए भी जहाँ उसके प्रधानता न हो (२) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मलिनता के साथ प्रतीत हो रहा हो । (३) जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का एक ही प्रधानता हो (४) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य स्पष्ट न हो । अब प्रश्न उठता है कि तो फिर व्यङ्ग्यार्थ होता कहाँ पर है ? इसका उत्तर अन्तिम कारिका में दिया गया है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होते हैं वहीं सत्ता से रहित विषय ध्वनि का होता है । यहाँ पर सत्ता का अर्थ है किसी भी अलंकार का अनुपवेश । आशय यह है कि वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि का रूप धारण करता है नहीं उसके किसी दूसरे अलंकार में प्रतिष्ठ होने की संभावना नहीं । यहाँ पर सत्ता का अर्थ सत्कारालंकार नहीं है क्योंकि वहाँ पर ऐलक का मन्तव्य किसी भी अलंकार में ध्वनि के समावेश का निराकरण करना है । यदि सत्ता को दूसरे अलंकारों का व्युत्पन्न मानकर ध्यास्या की जाये तो यह त्रिष्टय रूपना होगी ।

ऊपर बतलाया गया है कि अलंकार वाच्य-वाचक भाव का आशय लेकर प्रवृत्त होते हैं और ध्वनि व्यङ्ग्य-वाचक भाव का आशय लेकर प्रवृत्त होती है । यह एक दूसरे का विरोध है । अत्र ध्वनि और अलंकारों का तादात्म्य नहीं हो सकता । केवल इतना ही नहीं अपितु ध्वनि स्वाभिमन्यानाय है और अलंकार इत्यादि भूयस्वतन्तीय । दूसरे शब्दों में ध्वनि अज्ञी है और अलंकार इत्यादि ब्रह्म । त्रिषु प्रकार स्वामी का समावेश भूयस्वर्ग में नहीं हो सकता अथवा त्रिषु प्रकार भद्रों का अज्ञ में समावेश नहीं हो सकता उसी प्रकार ध्वनि का भी अलंकारों में समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की एकता सामान्य नियम के विरुद्ध है । अवयव और अवयवी इन दोनों का तादात्म्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो अवयवी को अवयव से पूर्य करके उसे पूर्ण तत्त्व मानकर और दूसरे अवयव को समुदाय के अन्दर ही रक्ष्य हुए । एक-एक अवयव पूर्य होकर पूरे अवयवी के रूप में प्रतिष्ठ हो जाये, ऐसा

लोचनम्

एव घण्टानिर्हादस्थानीयऽनुरणनाम्बोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति
म्यदद्वय । तथा श्रूयमाणा य वर्णा नादशब्दवाच्या भन्त्यबुद्धिनिर्माद्यम्फोटानि
म्यत्रकास्त ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स एव—

इस प्रकार घण्टानिर्हाद के समान अनुरणन आत्मा से उपलक्षित व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि के
रूप में व्यञ्जन किया जाता है । उसी प्रकार नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वग अन्य बुद्धि के
द्वारा किये जानेवाले शब्दों के अभिव्यञ्जक होते हैं वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं । नैसा
कि उही भगवान् न कहा है—

तारावती

लहरी से भर जाता है । इसी प्रकार वायुमण्डल में जब शब्द प्रविष्ट होता है तब उसको लहरें
एक के बाद दूसरी उठकर कर्ण विपर तक पहुँचती हैं जहाँ प्राहक यत्र के द्वारा शब्द ग्रहण
किया जाता है । दूसरा न्याय है कदम्बमुकुट न्याय । जैसे कदम्बमुकुट के शीर्ष में एक कल्ला
सी होती है जिससे एक वृत्त सा बनकर समस्त मुकुट को आवेष्टित कर लेता है । यही शब्द
की भी दशा है । वस्तुतः वीचीतरङ्ग न्याय ही ठाक है क्योंकि उसमें शब्द की एकता अनुप्य
बना रहती है । जलधारा में उठनेवाली तरंगें एक ही होती हैं किन्तु कदम्ब का कल्लियों में
वैसी एकता नहीं होती । अतः आचार्यों ने वीचीतरङ्ग न्याय को ही स्वीकार किया है कदम्ब
मुकुट न्याय का नहीं । वीचीतरङ्ग न्याय से उत्पन्न होनेवाले शब्द को शब्दव शब्द कहते
हैं । उत्पत्तिवादियों के अनुसार शब्द के दो भेद हैं ध्वनि और वर्ण । परते इत्यादि के अमि
पात से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं और कण्ठतालु इत्यादि के अभिधात से उत्पन्न शब्द
वर्ण कहलाते हैं । इस सन्दर्भ में प्रभुत्व लोचन को न्यायना करने चाहिये । 'मोक्षसङ्गुठी में
शब्द सन्तान (परम्परा) से आते हैं' का आशय यह है कि शब्द वीचावत्तरङ्ग न्याय से कर्ण
जुहरी में प्रविष्ट होकर प्राहक यत्र के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं । 'शब्दव शब्द का शब्दना
की ही वा चुम्बी । शब्दव शब्द का प्रत्यय अनुभव घण्टानुरणन में होता है । घण्टे के बज
चुकने के बाद जो उसमें एक प्रकार की झङ्कार होती रहती है वही शब्दव शब्द का स्वरूप
है । कारिका में सयोग और वियोग का आशय लेकर साधनों के द्वारा शब्द के उत्पन्न होने
को बात कही गई है । ये साधन ध्वनि में मृदङ्ग इत्यादि वा अभिधात और वर्णों में कण्ठ
तालु इत्यादि का अभिधात हो सकते हैं ।]

जिस प्रकार घण्टानाद में अनुरणनरूपता होती है और उस अनुरणन को ध्वनि सन्ना से
अभिहित किया जाता है उसी प्रकार (शब्द और अर्थ से) अनुरणन रूप में उपलक्षित होने
वाला व्यंग्यार्थ भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है । (इस प्रकार सत्त्वशब्दकल्पवृक्ष
अर्थध्वनिर्वा सृष्टोत्त हो गई । इनको उपलक्षण मान लेने पर धरे प्रकार के ग्रहणार्थों का
समावेश ध्वनि में हो गया ।) इसी प्रकार जो लाम (वैश्याकरण) शब्द को निय तथा
अनुष्ठ मानते हैं उनका कहना है कि वायु सयोग के द्वारा वर्ण प्रयक् शृणु रूप में अभि

चारावती

आत्मा भी कह दिया है, (उत्तर) वही वही ऐसा होता अवश्य है कि अलंकार भी ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। अलंकारध्वनि भी ध्वनिवाच्य का एक प्रकार है। किन्तु यह समझना ठीक नहीं कि समासोक्त शब्दादि अलंकारों में ही हमने किसी एक को ध्वनि कह दिया है, वहाँ क ध्वनि वही पर भी होती है जहाँ अलंकार ध्वनि नहीं होता। यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ समासोक्ति शब्दादि अलंकारों में किसी एक को भी ध्वनि नहीं होती वही पर भी ध्वनि काव्य हुआ करता है। जैसे अत्ता एवम् और 'कस्त वा ष' इन उदाहरणों में अलंकार-व्यतिरिक्त ध्वनि दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि अलंकारनिष्ठ ही नहीं होती।

छन्द इतिहास मनोविज्ञान शब्दादि आधारों पर सिद्ध किया गया है कि ध्वनि काव्य ही काव्य की आत्मा है। यहाँ पर यह प्रश्न उपरिष्ठत होता है कि यह सिद्धान्त यों ही मनमाने ढंग से वक्षित कर लिया गया है या इसमें कोई शाश्वत प्रमाण भी है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्वनिवार ने लिखा था 'सुरिभि कथित' और आलोचकार ने लिखा है कि 'यह उक्ति विद्वदुपमा है।' उपमा शब्द का अर्थ है प्रथम ज्ञान या उपनम। विद्वदुपमा शब्द में दो समास हो सकते हैं एक तो तत्पुरुष जिसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ज्ञान या विद्वानों द्वारा उपक्रम और दूसरा समास हो सकता है बहुमीहि, जिसका अर्थ होगा 'विद्वानों से प्रथम उपनम हुआ है जिसका।' यहाँ पर तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्पुरुष होने पर 'उपशोपक्रम तदादाचिख्याहायाम्' इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग हो आवेगा और 'विद्वदुपमा' न बनकर 'विद्वदुपम्' यह रूप बनेगा। बहुमीहि समास होने पर उक्ति का विशेषण हो जाने से छोटा ही समझा जा सकता है।

(विद्वदुपम् शब्द में विद्वत् शब्द का अर्थ है वैश्याकरण। क्योंकि वैश्याकरण ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते हैं। भगवान् भर्तृहरि ने वैश्याकरणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है.—

उपासनीय यत्नेन शास्त्र व्याकरण महत् ।

प्रदीपमूत्र सर्वासां विद्यानां यद्वक्ष्यतम् ॥

किं बहुना—

इदमाद्य पदरमान मुक्तिप्राप्तानवर्षणम् ।

इय सा भोक्षनाभ्यानामभिज्ञा रामपद्धति ॥

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महोत्तरे ।

ये व्याकरणसंस्कारपरिविद्यमुखा नरा ॥ वाक्यपदीय अ. का. ।

भामह ने आलंकारिकों के लिये व्याकरणज्ञान की अनिवार्यता स्वीकृत की है.—

'सदोपयुक्तं सर्वभिरन्यविद्यकरेणुभि ।

नादाराधितरा दुर्गर्भममु श्याकरणाप्यम् ॥

शब्दरत्न शेष गम्भनलकर्तृमयं जन ॥' (व्याख्याकार २-३)

छोचनम्

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीद ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरि-
गानेष्वपि ससुम् । यथोक्तम्—

अर्थायसापि यत्नेन शब्दमुच्चारित मतिः ।

यदि वा नैव गृह्णानि वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

तेषु तावत्स्वेव ध्रुवमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविद्यन्वादिवृत्तिभेदात्मा
प्रसिद्धानुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तैर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।

ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटगत्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

इससे व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि शब्द से कहे गये हैं । और भी वर्ण के उतने
परिमाण के होते हुए भी—जैसा कि कहा गया है—

‘अल्प प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किये हुए भी शब्द को बुझि या तो ग्रहण ही नहीं करती
या सम्पूर्ण वर्ण को स्पष्ट रूप में ग्रहण करती है ।’

उन उतने ही सुने जानेवाले वर्णों में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से द्रुत
त्रिभन्वित इत्यादि वृत्तिभेदात्मक अधिक व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है । जैसा कि
उन्हीं ने कहा है—

‘शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में जो वैज्ञानिक ध्वनियों कारण होती हैं उनसे स्फोट
रूप आना में भेद नहीं आता ।’

तारावती

उत्पत्ति होती है और उस अदृष्ट से स्वर्ग इत्यादि फल कालान्तर में प्राप्त होते हैं । स्फोट के
अन्तिम वर्ण से प्रदीप्त होने का यही आशय है ।]

इस सिद्धान्त का उक्त यह है कि नित्य तथा अखण्ड स्फोट की वर्णों के रूप में व्यञ्जना
वर्णों के रूप में ध्वनि के द्वारा होती है । इस प्रकार व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं । इसी साम्य
के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ ध्वनि कहे गये हैं । ध्वनि के प्रयोग में एक और बात
है—श्रोत्रेन्द्रिय से जितने वायु सयोग के द्वारा वर्ण सुनाई पक जावे, उस वर्ण का वही परिमाण
होता है । जैसा कि कहा गया है—

‘यदि प्रयत्न की षोड़ी भी कमों में शब्द का उच्चारण किया जावे तो उस शब्द को
बुझि या तो ग्रहण ही नहीं करती या स्फुट रूप में समस्त वर्णों को ग्रहण नहीं करती ।’

वाच्य यह है कि वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा सुनाई पकते हैं ।
उस प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से वक्ता का जो अतिरिक्त व्यापार होता है और जो कि द्रुत
विद्यन्वित इत्यादि वृत्तियों के भेद में कारण होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं । जैसा कि उन्हीं
(यंत्रहरि) ने कहा है—

‘शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में वैज्ञानिक ध्वनियों प्रसफुटित होती हैं किन्तु उनसे
स्फोट को आना में अन्तर नहीं आता ।

धारावती

रूप में सब एक हो जाते हैं। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता घाट करते जायें तो एकता या अमद को और अग्रसर हावे जावेंगे। जैसे लकड़ी की बनी हुई सैकड़ों वस्तुयें मिश्र होती हैं किन्तु लकड़ी के रूप में सब एक है। इसी प्रकार लोहे की वस्तुयें लोहे के रूप में, पत्थर की वस्तुयें पत्थर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी, पत्थर लोहा, लकड़ी सब एक दूसरे से मिश्र हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में सब एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार कार्य का निषेध करते हुए कारण की सत्ता मानते चले जायें तो समस्त तत्त्व एक हो जावेंगे। इसी तरह को ब्रह्म नाम से अभिहित किया जाता है। अन्तःकरणतत्त्व में शब्द ब्रह्म को यही एकता परावर्णी कहा जाता है। वहाँ पर जिस प्रकार घट घट मट्ट इत्यादि समी अघटतत्त्व एक हैं उसी प्रकार क' 'ख' ग' इत्यादि शब्दतत्त्व भी एक ही हैं। जब शब्दब्रह्म को घट घट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तो उस परावाणो का नाम परपन्ती हो जाता है। यदि हम अपने कान शब्द कर लें तो ब्रह्मदेव में एक प्रकार की सनसनाहट का हमें अनुभव होता है। इसे मध्वना नाम से पुकारा जाता है। परावाणो का स्थान नाभिदेश है परपन्ती का हृदय और मध्वना का कण्ठ। इन तीनों अवस्थाओं में क ख ग' इत्यादि वर्ण एक रूप रहते हैं। उनमें भेद नहीं होता। कण्ठ से जागे बढ़कर जब वर्ण स्थान और मयज्ञ के द्वारा पृथक् पृथक् होकर दूसरे द्वारा ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं तब उस वाणो को वैखरी कहते हैं। जिस वायुसयोग के द्वारा स्थान और मयज्ञों से शब्द अभिव्यक्त हुआ करते हैं उसे वैष्णवकारण लोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भाग होठ हैं—एक तो स्फोट या अर्धभाग और दूसरा वायुसयोगानन्त ध्वनि। स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार की उपाधि होती है, भेद ध्वनि में होता है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती है। नव परिपोठा वधू की ध्वनि और मकर की होती है, वीर व्यक्ति का ध्वनि और प्रकार की होती है तथा दूसरे लोगों की ध्वनि दूसरे प्रकार की होती है। इस ध्वनिभेद से स्फोट रूप शब्दब्रह्म में भेद नहीं होता। किन्तु यह स्फोटरूप शब्द ब्रह्म वायुसयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होता और अर्थवाग बिना ध्वनि के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसीलिये जब कभी मेढा इत्यादि शब्द होते हैं और बहुत से लोग एक साथ देखते हैं तथा उनके शब्द तो सुनाई पड़ते हैं किन्तु अर्थ समझ में नहीं आता, तब लोग यही कहा करते हैं कि वधूत वधो ध्वनि सुनाई पड़ रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिबन्धनीय स्थाति से ब्रह्म का विवश जगत् है उसी प्रकार शब्दब्रह्म से विवशित होनेवाला और उसी में परवसान को प्राप्त होनेवाला समस्त वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उस स्फोटरूप शब्दब्रह्म का ही विपरिणाम है। उसकी श्रवणा करनेवासे वायुसयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनिभेद हुआ करता है स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता यह इस प्रकार

बोधनम्

'गाम्भवं पुरुष पशुम्' इति वस्त्वमुच्चयोऽत्र चकारणं विनापि । तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्व ध्वनतीति कृत्वा । समिश्रणते विभावानुभावसंबलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दन शब्दः शब्दव्यापारः, न चामाविनिधारिरूप, अपि त्वात्मभूत, सोऽपि ध्वनन ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च चोऽर्थ मोऽपि ध्वनिः । उक्तप्रकार-ध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः ।

'गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, पशुम्' के समान विना चकार के ही समुच्चय हो जाता है । हमसे वाच्य भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों की व्यञ्जकता होती है 'ध्वनित करता है' इस व्युत्पत्ति का मानकर । शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार, यह अविधा शब्दादि रूप नहीं होता अपितु आत्मस्थानीय होता है, वह भी ध्वनन अर्थात् ध्वनि कहलाता है । 'काव्य' इस नामवाला जो अर्थ है वह भी ध्वनि होती है क्योंकि ध्वनि के एक चार प्रकारमत्र ही (काव्य) होता है । इसलिये साधारण हेतु बतलाते हैं—'व्यञ्जकत्वसाम्यादिति' न्यव्यञ्जकत्व मात्र सब पक्षों में सामान्यरूप में साधारण होता है यह अर्थ है ।

वारावली

इस प्रकार हम लोगों ने अधिधा, तात्पर्य और लक्षण इन तीन शब्दव्यापारों से मित्र व्यापार को ध्वनि उपा प्रदान की । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं । इन सब का संयोग होने के कारण समस्त काव्य को भी ध्वनि कहते हैं । विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यवस्था करना उचित नहीं है यह बात नहीं । अर्थात् भेद और अभेद दोनों का व्यवस्था उचित नहीं है । 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' में भेदव्यवस्था है क्योंकि काव्य शब्द में पशु और 'ध्वनिः' में मयना है । यही व्यङ्ग्य व्यञ्जक शब्दादि ध्वनि के अर्थ हैं । अतः भेदव्यवस्था किया गया है । इसी प्रकार 'स ध्वनिः' में दोनों शब्दों में प्रथमा है । अतः अभेदव्यवस्था है ।

('वाच्यवाचकसमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्य' ध्वनिरित्युक्तः ' इस वाक्य को एक दृष्टि में देखने पर सीधा अर्थ यह प्रतात जाता है कि 'वाच्य और वाचक से मिश्रित, शब्द आत्माजाले तथा काव्य इस नामवाले उक्त को व्यञ्जक को समानता के कारण ध्वनि कहा गया है ।' किन्तु बोधनकार ने इस वाक्य का और ही अर्थ लगाया है जिससे ध्वनि के सभी भेदों का इस वाक्य में समावेश हो जाता है ।) वहाँ पर समिश्र एक पृथक्त्व है, वाच्य वाचक शब्द के साथ उसका मध्यमनदलों समाप्त हो जाता है । अर्थात् वाच्य वाचक से युक्त समिश्र । शब्दात्मा एक पृथक् तत्व है और काव्यनित्यव्यवस्था यह

छोचनम्

यः संयोगविद्योगान्यां करणैरपञ्चयते ।

स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरदाहृताः ॥

‘जो संयोग विद्योग शब्दादि करणों से उत्पन्न किया जाता है वह स्फोट है। अन्य लोगों ने शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा है।’

तारावती

बाद भी एक प्रकार का बुद्धि उत्पन्न रूप अनुरूपत होता रहता है। यही बात मवंहरि ने इस प्रकार कही है,—

‘संयोग और विद्योग का सहारा लेकर जिह्वाग्रभाग शब्दादि करणों से उत्पन्न किया करते हैं उसे स्फोट कहते हैं। दूसरे लग शब्दज शब्द को ध्वनि के नाम से पुकारते हैं।’

[वक्त भय का समझने के लिये वर्णोच्चारण प्रक्रिया पर सज्जित प्रकार का अन्वय आवश्यक प्रतीत होता है। शब्द के विषय में तीन मत हैं—(१) शब्द अनित्य होते हैं। ये उत्पन्न और विनष्ट हुआ करते हैं। अन्य द्रव्यों के समान उनकी भी जाति होती है। यह सिद्धान्त है न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का। (२) वर्ण नित्य होते हैं, ये वर्ण ही शब्द का निर्माण किया करते हैं। जन्ती का भ्रम के साथ सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहते हैं। यह सिद्धान्त है भौमासा, वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों का। (३) वैय्यकरणों का स्फोटवाद अथवा अखण्डता का सिद्धान्त। य लोग शब्द के समान समस्त वर्णों की एकता तथा अखण्डता को मानते हैं। इनके सिद्धान्त का परिचय पहले दिया जा चुका है। अस्तु छोचन नैय्यादिकों के उत्पत्तिवाद को मानकर लिखा गया है। अतः इस प्रकार का ठीक रूप में समझने के लिये नैय्यादिकों का उत्पत्तिवाद समझ लिया जाना चाहिये। नैय्यादिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं क्योंकि शब्द के कारण होते हैं, कारण से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ अनित्य हुआ करते हैं। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्त होता है इन्द्रिय प्राप्त सभी उत्पन्न अनित्य होते हैं जैसे रूप शब्दादि अनित्य हुआ करते हैं। कार्यवस्तुओं के समान मन्दरीय शब्दादि व्यवहार शब्द के विषय में भी हुआ करता है। इन्हीं कारणों से शब्द श्लोक अथवा अनित्य माना जाता है। इस शब्द का उत्पन्न करनेवाले दो कारण होते हैं—संयोग और विभाग। जैसे मृदङ्ग और हाथ के संयोग से, अथवा सुगरी और षष्ठी के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे संयोगज शब्द कहते हैं। बाँट के फटने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे विभागज शब्द कहते हैं। किन्तु जहाँ पर शब्द उत्पन्न होता है उससे श्रोत्रेन्द्रिय कुछ न कुछ दूर ही जाता ही है। अतः शब्दज में ही श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती। जिस प्रक्रिया के द्वारा शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—बीबीटाङ्ग न्याय और बदर सुवृत्त न्याय। बीबीटाङ्ग न्याय का अर्थ यह है कि जिस प्रकार किसी सारार में एक छटा सा पत्थर का टुकड़ा पकें दिया जाने से सारार में छहरे उत्पन्न हो जाते हैं। पहले गंठाकार एक छहर उत्पन्न होती है फिर दूसरी, फिर तीसरी इसी क्रम से सारा सरोधर

लोचनम्

यत्पुनरुत्पद्यते 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्परिहरति—न चैव-
विधस्येति । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुष्ये द्वे रूपे । तद्वेदा यथा—अर्थान्तर-
सङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविधिशितवाच्यस्य; असंलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तर-
भेदाः । महाविषयस्येति असौषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषप्रदूषणेनान्यापकत्व-
माह । मात्रशब्देनाङ्गित्वामावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां
तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकार-
कारणं चेतो येषामिति । अभाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना
अपीत्यर्थः ।

और जो यह कहा गया कि 'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से इत्यादि। उसका
परिहास कर रहे हैं—न चैव विधस्य इत्यादि। कहे जानेवाले प्रमद जैसे—मुख्य दो रूप हैं।
उनके भेद जैसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये अविधिशितवाच्यपरवाच्य
के भेद हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्याप्य और संलक्ष्यक्रमव्याप्य ये (दो भेद हैं)
उसमें भी अवान्तर भेद होते हैं। 'महाविषयस्य' का अर्थ है समस्त लक्ष्य में व्यापक। विशेष
प्रदूषण से अन्यापकता बतलाते हैं। मात्र शब्द से अङ्गित्व का अभाव (बतलाते हैं) उसमें
अर्थात् ध्वनिस्वरूप में भावित अर्थात् दे दिया गया है चित्त जिन लोगों का अथवा चमत्कार-
रूप उस अक्षर के द्वारा भावित अर्थात् अधिवासित अतएव मुकुलित लोचनत्व इत्यादि विकार
का कारण है चित्त जिनका। अभाववादी अर्थात् अवान्तर तीनों प्रकारों से निश्चयी।

तारावती

भेद और उपभेदों के कारण, बिनका निरूपण आगे चलकर द्वितीय उद्योत में किया जावेगा।
ध्वनि का विषय महान् है।' उसके प्रभेद इस प्रकार है—मुख्य रूप से ध्वनि के दो रूप
होते हैं—अविधिशितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य। उनके उपभेद इस प्रकार हैं—अवि-
धिशितवाच्य दो प्रकार का होता है—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।
विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का होता है—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।
उनके भी बहुत से अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार ध्वनि का विषय महान् हो जाता है
अर्थात् काव्य शब्द से जो कुछ भी अभिहित किया जाता है उस सबमें ध्वनि व्यापक रूप में
रहती है।' केवल विशेष प्रकार के अलङ्कारी में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।' इस
वाक्य में 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कार व्यापक नहीं होते जब कि ध्वनि काव्य में
व्यापक होती है। 'केवल' शब्द का अर्थ है अलङ्कार केवल आरूपण ही हो सकते हैं वे
अङ्गी (प्रधान) नहीं हो सकते। 'उद्भावितचेतसान्' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा
सकता है—बिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त लगा दिया है उनके प्रति ईर्ष्यालु
नहीं होना चाहिये। दूसरा अर्थ है—'ध्वनि को चमत्कार रूप में समझते हुये बिन्दोने उसी

बोधनम्

प्रत्ययैरनुपाख्यातैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।

ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधारयन्ते ॥

‘उपाख्यान में अशक्य तथा (स्फोट के) ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किये हुये शब्द में स्वरूप का अवधारण किया जाता है ।’

तारावती

रक्त होते हैं । इस प्रकार अभ्यन्तक होनेवाले वर्णों को नाद शब्द से अभिहित किया जाता है । ये वर्ण स्फोट के अभि-यन्तक होते हैं और स्फोट का अभिन्त्यन्तक तथा ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा दुष्प्रकाश करता है । यही बात भगवान् मनुंहरि ने इसी प्रकार कही है:—

‘स्फोट को ग्रहण करने के अनुकूल इस प्रकार के कुछ अन्तराल प्रत्यय होते हैं जिनके स्वरूप का वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सकता । किन्तु उनके द्वारा ध्वनि से प्रकाशित किये हुये शब्द में स्फोट के स्वरूप को समझ लिया जाता है ।’

उपर कही गया है कि स्फोट का ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा होता है । अन्तिम बुद्धि शब्द का आशय ठीक रूप में समझ लेना चाहिये । एक नियम है शब्द बुद्धि और अर्थ द्वैतभाववादी होते हैं । वे प्रथम क्षण में उदय होते हैं, दूसरे क्षण में स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं । जिन प्रयत्नों का आशय लेकर एक वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार के दूसरे प्रयत्नों का आशय लेकर दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है । अब मान लीजिये एक ‘षट्’ शब्द है । इसमें चार वर्ण हैं ‘ष’ ‘अ’ ‘ट’ ‘अ’ । पहले ‘ष’ की उत्पत्ति होगी, यह पहले क्षण में उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण में स्थित रहेगा ; उसके स्थितिकाल में ही दूसरे क्षण में ‘अ’ की उत्पत्ति होगी । तीसरे क्षण में ‘ष’ नष्ट हो जावेगा, ‘अ’ स्थित रहेगा और ‘ट’ की उत्पत्ति होगी । फिर चतुर्थ क्षण में ‘अ’ नष्ट हो जावेगा, ट स्थित रहेगा और अ की उत्पत्ति होगी जो कि प्रथम क्षण में बना रहेगा और षष्ठ क्षण में नष्ट हो जावेगा । वर्णान्तरतावादीयों के मत में उत्पत्ति का अर्थ होगा ध्वनिप्रकाश । इस प्रकार ‘षट्’ शब्द पूर्ण रूप से कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता, इन वर्णों का सहाय कभी बनेगा ही नहीं । अब प्रश्न यह है कि फिर ‘षट्’ षट् से षट् अर्थ का अवगम कैसे हो सकता है ? हमने वाक्यों का ही सांख्यिक अवगमन और ध्वनि असम्भव हो जावेगा । फिर उनका अर्थबोध कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि इन वर्णों का नाश हो जाता है तथापि इनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है । वह संस्कार स्थायी रहता है और दूसरे वर्ण के संस्कार से उसका योग होता है । इस प्रकार ‘षट्’ शब्द के चारों वर्णों का सामूहिक संस्कार अन्तिम वर्ण ‘अ’ पर संग्रहित है जिससे सामूहिक भावना प्रतीय की अभिव्यञ्जिका होती है । यह इसी प्रकार होता है जैसे यद्यपि अर्थ जिस क्षण किये जाते हैं उसके दूसरे क्षण स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं । किन्तु उस अर्थ से स्वर्ण इत्यादि की प्राप्ति बहुत समय बाद होती है ; उसके लिये यह कल्पना की जाती है कि यद्यपि इत्यादि कारणों से एक प्रकार के अदृष्ट की

लाचनम्

अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति । विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति । तत्रार्थ-
कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति । कदाचिदनुपपद्यमान
इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्ता तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति ।
अथ एवार्थोऽत्र प्रधान्येन व्यञ्जक, एवत्र शब्द । ननु च विवक्षा चान्यपरत्व
चेति विरुद्धम् । अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्मको विरोधः ? सामान्येनेति । वस्त्व-
लङ्कारसामना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुन्मान्यामवाभ्या सरुगृहीत इति भावः ।

वर्तित होत हुये भी जा वाच्य है । विवक्षितान्यपर हाते हुये जो वाच्य है यहाँ उसमें अर्थ
कदाचित् अनुपपद्यमान होने इत्यादि निमित्त के द्वारा अविवक्षित होता है । कदाचित् उप-
पद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है । व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को तो अपने सौभाग्य को
महिमा से भर देता है । अतएव यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यञ्जक होता है । पहले तो शब्द
(व्यञ्जक हाता है) : (मूल) विवक्षा और अन्यपरत्व ये विरुद्ध हैं ? (उत्तर) अन्यपरत्व
के रूप में विवक्षित होने में क्या विरोध है ? 'सामान्य रूप में' यह । भावार्थ यह है कि वस्तु
रस और अलङ्कारालोक निस्सन्देह तीन प्रकार की भी ध्वनि इन दोनों ही भेदों के द्वारा
सृष्ट हो जाये ।

वाराधती

विचार करना है किन्तु उदाहरण के आधार पर ही लक्षणपात्र की स्थापना भी की जा
सकती है और उसका उद्धार भी दिया जा सकता है । अतएव यद्यपि लक्षणपात्र और अर्थात्
वक्तव्य पद्य का परिहार पहले करना चाहिये तथापि इस प्रकारपात्र विषय का अतिक्रमण
करके उदाहरण देने की सुविधा के लिये इतिहास ने ही ध्वनि के प्रमुख भेदों का पहले
निरूपण किया है । ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण दूसरे उद्योत में विस्तारपूर्वक किया
जावेगा । उसी का अनुवाद यहाँ पर कर दिया गया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है—
अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । (अविवक्षितवाच्य शब्द में एक तो बहुव्रीहि
समास ही संज्ञा है और दूसरा कर्मधारय ।) बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने में लुटोया, सप्तमी,
पञ्चमी, षष्ठी और चतुर्था के अर्थों में बहुव्रीहि मानकर ध्वनि के पाँचों अर्थों में सामानाधिकरण्य
की महीमादि शोभना को जानो चाहिये । ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और
अविवक्षितवाच्य में 'वाच्य' शब्द का प्रयोग किया हो गया है । अतएव ध्वनि का अर्थ
वाच्यार्थ होने पर वाच्य का अर्थ करना चाहिये 'अपनी भावना' इसके 'अविवक्षितवाच्य' शब्द
का अर्थ हो जावेगा—'अविवक्षित अर्थात् अन्यान्य कर दिया है अपनी भावना को जिसने
अर्थात् व्यञ्जक अर्थ । 'अविवक्षितवाच्य' में विभिन्न अर्थों में बहुव्रीहि करने पर ये अर्थ
होगे—(१) षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् वाचक शब्द,
(२) लुटोया के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य रूप स्वभावा जिसके
द्वारा अर्थात् वाच्य अर्थ । (३) सप्तमी के अर्थ में बहुव्रीहि—'अविवक्षित कर दिया गया

लोचनम्

अन्नाभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारैर्म्योर्निघातात्पदलक्षणाल्लेभ्योऽ-
तिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः । एवं चतुष्कमपि ध्वनिः । तद्योगाच्च ममस्त्वमपि
काव्य ध्वनिः । तेन व्यतिरेकव्यतिरेकव्यवदेशोऽपि न न युक्तः । वाच्यवाचक-
समिध इति । वाच्यवाचकमहितः समिध इति मध्यमरद्वारो मनामः ।

‘हमारे द्वारा मा अभिषा, आपसे और छजनारूप प्रसिद्ध शब्दव्यवहारों से अतिरिक्त व्यापार को ध्वनि कहा गया है । इस प्रकार चतुर्णो ध्वनि होता है और उनके योग से सनत् काव्य ध्वनि कहा जाता है ।) अपने नेद और भेद का अन्वय मा ठीक न हो वह बात नहीं है । ‘वाच्यवाचकसमिध’ इति । वाच्यवाचक सहित समिध वह मध्यमरद्वारो मनाम है ।

कारावर्ता

[इस सनत् विचार का अन्वय यह है कि—‘ध्वनि दो प्रकार की होती है—मातृ और वैतृ । मातृ ध्वनि ‘बल’ ‘हस्तन’ ‘आपुस्तन’ इत्यादि धर्मावहित होता है । यद्यपि स्पष्ट तब प्रकल्पित होता है तथापि वह निष्कान्त वातुक्षणों से अवलोक्य रहता है । इस अवस्था का निराकरणकर स्पष्ट का प्रकल्प करना ही मातृ ध्वनि का कर्म है । यह प्रकल्पित स्पष्ट ध्वनि से अन्वय प्राप्त होता है । अन्वय स्पष्ट एक होता है, निव होता है, व्यापक होता है और नाना प्रकार का ध्वनियों के स्वरूप से आकल्प होकर प्रकृत हुआ जाता है और वह यह पूर्व कर्त्तव्य सत्त्व होकर सत्त्व होकर अन्वय पर अन्वितक हाता है और अन्वयों काता है । मातृ ध्वनि को ही कर्म कहते हैं । स्पष्ट कर्त्तव्य ही मातृ ध्वनियों से रहित प्रतीत नहीं होता । इच्छित्ये मूल इति से विचार न करवाक नैर्ध्वनिक होने पर स्पष्ट का सत्य ही आकर नहीं आता । वैतृ ध्वनि का कर्म यह है कि वह मातृ ध्वनि के द्वारा सत्त्व हानकरके पूर्व में सत्त्व विच्छिन्न इत्यादि गुणनद का दया है । कहा ही जाता है कि एक ही कर्म प्रकृत व्यक्त न ध्यान उपचारण किया अतुक्त न विच्छिन्न से किया । वनों की, नदें बहती का, कोर में मरें व्यक्त की ध्वनियों में को एक-एक नेद होता है वह नेद मा वैतृ ध्वनि का ही होता है । वैतृ ध्वनिनेद होते हुए मा मातृ ध्वनिनेद नहीं हाता, अन्वय अन्वय इत्यादि की एककता कही जाती है । वैधा-कारावर्तन ध्वनि का दया सत्त्व है । इस विचार से यह सिद्ध होता है कि उपचारण को प्रकृत को मा ध्वनि कहते हैं । इस प्रकार दया पर दया अर्थात् ध्वनि का प्रयोग कदापि नया है (१) नैर्ध्वनिकों के अन्वय उपचार होनेपर अन्वय ध्वनियों के छिद्र । इस अन्वय पर सहायिक छेद अन्वयों का ध्वनि कहते हैं । अपने ध्वनियों में प्रकल्पित अथवा अन्वय-नल हाता (२) वैधाकारणों के नद में स्पष्ट अन्वय हाता है और मातृ ध्वनि वरुण अन्वयों काता है । इस प्रकार ध्वनि अन्वयक होता है । इसी ध्वन्य के कारण पर सहाय्य ध्वन्य में अन्वय का ध्वनि कहते हैं । यह अन्वय दो प्रकार का हाता है वाच्य और वाचक अन्वय । (३) वैतृ ध्वनियों वृत्तनद में अन्वय होता है । इस ध्वन्य के कारण पर अन्वयध्वनय का ध्वनि कहते हैं ।]

ध्वन्यालोकः

उपनिषत्संदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरपात्रयः ।

गूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

(अनु०) धनं पहले (अविश्रितवाच्य) का उदाहरण—

वर्ण को फूलनवालों पृथ्वी को जान ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं—वीर, सफळ और पूर्ण विद्यावाला तथा जो सेवा करना जानता है ।

लोचनम्

ननु उपनिषत्पृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम् ? उच्यते—अनेन हि नाम-
इयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धामिधावात्पर्यलक्षणानामख्यापारप्रितयाव-
गतार्थप्रतीतिः प्रतिपत्तगतायाः प्रयोक्त्रमिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्व-
मुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोञ्जोवितम् ।

सुवर्णपुष्पामिति । सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा । एतच्च वाक्यमेवा-
सम्भारस्वार्थमिति कृत्याऽविश्रितवाच्यम् । तत एव पदार्थमभिधायान्वय च
वात्पर्यलक्षणावगमस्यैव बाधरूपेण तमुपहृत्य सादृश्यात् सुलभमसृष्टिसमा-
घात्माननतां लक्षयति । तदुक्तप्रयोजन गूरुकृतविद्यसेवकानां प्राप्तस्यम-
शब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सद्वायिकाकुचकलशयुगलमिदं महापतामुपनयन्-
ध्वन्यत इति । शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तस्सहकारित्वेति
चत्वारो व्यापाराः ।

(मन्) उक्त नामों को पीछर नये नामों के समावेश का क्या लाभ ? (उत्तर)
प्राप्तते हैं—एक दोनों नामों के द्वारा ध्वननात्मक व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य
और लक्षणानाम तीनों व्यापारों से अवगत होनेवाले अर्थ का प्रतीति से प्रतिपत्ता के अन्दर
रहनेवालों और प्रयोक्त्र की अभिप्रायरूपिणा विवक्षा का सहकारित्व बतला दिया गया है इस
प्रकार नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रोञ्जोवित कर दिया गया है ।

सुवर्णपुष्पाम् इत्यादि । सुवर्णों को जो फूलती है उसे सुवर्णपुष्पा (कहते हैं) यह वाक्य
ही सम्भव स्वार्थमाला है इसलिये यह अविश्रितवाच्य है । उसी से पदार्थ को कहकर और
अन्वय को वात्पर्यलक्षिक से अवगत कराकर बाधकर उसको उपहृतकर सादृश्य से सुलभमसृष्टि
सम्भार को प्राप्त को लक्षण करता है । उस लक्षण का प्रयोजन शर, सफलविद्यावाले और
सेवकों का प्राप्तस्य अशब्दवाच्य के रूप में छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुच-
कलशयुगल के समान महापता को प्राप्त होने द्युवे ध्वनित करता है, इस प्रकार शब्द यहाँ पर
प्रधानतया व्यञ्जक है और अर्थ तो उसकी सहकारिता के रूप में (गूह्य होता है) इस
प्रकार कर व्यापार है ।

ध्वन्यालोकः

न चैवविद्यस्य ध्वनेर्व्यमाणप्रभेदतन्नेदसद्भवन्त्या महाविषयस्य यत्प्रकाशनं
तदप्रसिद्धाब्जहारविशेषमात्रप्रतिपाद्भेन तुस्यमिति उद्भावितचेतसां युक्त एव
साम्भः । न च तेषु कयच्चिदीर्घ्या कलुषितरोमुषीकरवमाविष्करणीयम् । तदेव
ध्वनेस्तावत्भाववादिनः प्रत्युक्ताः ।

(अनु०) जो ध्वनि इस प्रकार की है जागे चलकर किये जानेवाले भेदों उपभेदों से
बिनाका विषय महान् तथा व्यापक हो जाता है उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अपसिद्ध
केवल अलङ्कारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता । अतएव जिनके हृदयों में उस ध्वनि के
प्रति (भयवा अपसिद्ध अलङ्कारों के प्रति) भावना भरी हुई है उनके उच्छेदित होना उचित
ही है । उनके प्रति ईर्ष्या के कारण अपनी बुद्धि को कभी कलुषित नहीं बनाना चाहिये । इस
प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण हो गया ।

वारावती

एवम् उच्यते । यहाँ पर यद्यपि 'च' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समुच्चय हो जाता
है जैसे 'मैं गाव, पीका, पुष्प, पशु को जानता हूँ ।' इस वाक्य में यद्यपि 'और' का प्रयोग
नहीं किया गया है तथापि सभी का समुच्चय हो जाता है । इस प्रकार वाक्य अर्थ को ध्वनि
कहते हैं और वाचक शब्द को भी ध्वनि कहते हैं । दोनों अन्वयक होते हैं, दोनों अवस्थाओं
में न्युत्पत्ति होगी, 'ध्वनित इति ध्वनिः' । सम्मिश्र अर्थात् व्यङ्ग्य को भी ध्वनि कहते हैं ।
सम्मिश्र शब्द का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिश्रण के द्वारा भवगत किया जाने इस
प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ । इस अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग करने पर न्युत्पत्ति होगी 'ध्वन्यत
इति ध्वनि ।' अब 'शब्दात्मा' शब्द को छोड़िये । शब्द का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात्
शब्दव्यापार । अतएव 'शब्दात्मा' शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्दव्यापार जो आत्मा के रूप में
स्थित हो । ऐसा शब्दव्यापार अविधा नहीं हो सकता अपितु अन्वयना हो सकता है क्योंकि
वही कान्य को आत्मा है । इस प्रयोग में ध्वनि को न्युत्पत्ति होगी—'ध्वनन ध्वनि' । जिस
वाक्य के लिये 'कान्य' वह नाम दिया जाता है वह भी ध्वनि कहलाता है क्योंकि उसमें कोई
ऐसा उच्य नहीं होता जो उक्त चारों प्रकारों से भिन्न हो । उक्त समस्त प्रकारों में ध्वनि शब्द
का प्रयोग वैय्याकरणियों के अनुसार इस आधार पर होने लगा कि वैय्याकरण भी ध्वनि के द्वारा
शब्द को व्यङ्ग्यता मानते हैं और साहित्यिकों को ध्वनि में भी मूल आधार अन्वयना ही है ।
आशय यह है कि व्यङ्ग्य अन्वयक भाव का होना एक साधारण ठक है जो सभी पदा में सामान्य
रूप में लागू होता है । आशय यह है कि व्यङ्ग्य-अन्वयक भाव सामान्यतया सभी पदा में
साधारण रूप में पाया जाता है ।

अन्वयवाद क एक पदा में जो यह कहा गया वा कि 'ध्वनि अनन्त वाग्विकल्पों में ही
एक साधारण अलङ्कार माना जा सकता है ।' अब उसका उत्तर दिया जा रहा है—'ध्वने

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिवरिणि क्व नु नाम कियच्चिर किमभिधानमसावकरोत्तप ।
 तर्हिण पन त्वाधरपाटल दशति विम्बफळ शुक्रशावक ॥

(अनु०) दूसरे (विवक्षितान्यववाच्य) का उदाहरण—

हे तर्हिण न माटून इस शुक्रशावक ने किस पर्वत पर कितने दिनों किस नाय को तपस्या की जो इसे तुम्हारे अपर के समान पाटल विम्बफळ के दशन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । (जब अपर के समान विम्बफळ को प्राप्त करना इतना कठिन है तब तुम्हारे अपर को प्राप्त कर सकने की तो बात ही क्या !)

लोचनम्

शिवरिणाति । नहि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमा सिद्धि विदधुः । दिम्बकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमित काल । न चैवविधोत्तमफळ-जनकत्वन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तप धृतम् । तवेति भिन्न पदम् । समासेन विग-लिततया प्रतीयत, तव दशतोऽप्यभिधायण । तेन यदाहु 'वृत्तानुरोधार्थवधर-पाटल न कृत' मिति, तदसदेव ।

'शिवरिणि' इत्यादि । निर्विघ्न आर उत्तमासद्विवाले श्रीपर्वत इत्यादि भी इस सिद्धि को पूरा न कर सकें । दिम्ब कल्पसहस्र इत्यादि यहाँ पर परिमितकाल है । इस प्रकार के उत्तम फलजनक के रूप में पञ्चाग्नि प्रभृति तब भी नहीं मुने गये हैं । 'तव' यह भिन्न पद है । समास के द्वारा विगलित रूप में (अभिधान रूप में) प्रतीत होता है, तुम्हारा दशन करता है इस अभिधान से । इससे जो कहते हैं—' छन्द के अनुरोध से 'त्वधरपाटल' यह नहीं किया' यह ठीक नहीं है ।

वारावती

कर्मि का आभय सर्वत्र नहीं माना जा सकता । क्रमोत्पद विग्रह का विकल्प होगा बहुवाहि समास—'सुवर्ष है पुत्र त्रिसके' किन्तु इस विग्रह में सुवर्ष को पुष्पमात्र माना जा सकेगा । यह अर्थ नहीं निकल सकेगा कि पृथिवी भूर इत्यादि के लिये नित्य सुवर्ष को उत्पन्न करता है । इस अर्थ में एक नई छाया है । अतः लोचन की म्याल्या ही समीचीन है ।]

अब विवक्षितान्यववाच्य का उदाहरण लाजिये—विम्बफळरूपो शुक्रशावक ने तर्हिणी के अपर-दशन का जो मुन्धुर फल प्राप्त किया है वह ऐसी-वैसी तरस्या से प्राप्त नहीं हो सकता । लोक में बड़े से बड़े कितने भी तप प्रसिद्ध हैं वे इतना उषकटि का फल नहीं दे सकते । न तो वह स्थान ही दृष्टिगत होता है वहाँ ऐसी तरस्या की जा सके, न इतना समय हो है और न ऐसी तरस्या हो प्रसिद्ध है । तरस्या के उत्पन्न से उत्पन्न स्थान श्रीपर्वत इत्यादि हैं जिनकी निर्विघ्न उत्तम सिद्धि प्रदान करने की प्रसन्ना मुने गये हैं । किन्तु वे भी इतनी बड़ी सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते । सप्ताह में समय की गन्ना सीमित है जो स्वर्गिय सहस्र कल्प से

ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यइवेति द्विविधः सामान्येन ।

(अनु०) ध्वनि है । वह सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ।

लोचनम्

तेषां प्रयुक्तौ फलमाह—अस्तीति । उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं मुग्धञ्च सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरण-योग्येऽप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुमारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—सचेति । पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहु-श्रीद्वयार्थभ्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम् । वाच्येऽर्थे तु ध्वनी वाच्य-शब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानांकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः एव विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि । यदि वा कर्मधारयणार्थपक्षे

उनके प्रत्याख्यान का फल बतला रहे है—'ध्वनि है' इत्यादि । उदाहरण की पीठर भाक्तत्व की दृष्टा भी सरलता से हो सकती है और उसका परिहार भी सरलता से किया जा सकता है, इस अभिप्राय से भाक्तत्व और अलक्षण्यत्व के प्रथम परिहार योग्य होते हुए भी उनकी प्रतिस्नापन न करके भागे जानेवाले उद्योत के अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेद निरूपण कर रहा है—स च इत्यादि । पाँचों प्रकार के ध्वनिशब्द के अर्थ में 'जिसके द्वारा' 'जिसमें' 'जिससे' 'जिसका' 'जिसके लिये' इस श्रुत्योहि के अर्थ के अभाव से यथोचित रूप में सामानाधिकरण्य को योजना सुविधापूर्वक को जा सकता है । ध्वनि वाच्यार्थ को कहते हैं, यह मानने पर वाच्यशब्द से स्वात्मा कहा जाता है, उससे अविवक्षित अर्थात् प्रधान कर दिया गया है स्वात्मा जिसके द्वारा, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य अत्रक अर्थ (कहलाता है) । इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी । अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष में अवि-

तारावती

वाच्य से अपने चित्तों को अविवाहित कर लिया है उनके नेत्र मुद्वलित हो गये हैं उनके चित्तों में पल्लव का विकार उत्पन्न हो गया है । अतः उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से परिपूर्ण नहीं बनाना चाहिये । (क्योंकि वास्तविकता को न समझ सकने के कारण वे बेचारे दया के पात्र हैं ।) इस प्रकार तीन अन्तर प्रकारों में विभक्त अभाववादियों का निराकरण हो गया ।

अभाववादियों का फलितार्थ बतलाया जा रहा है कि 'ध्वनि है' । अभाववाद के निराकरण कर देने से यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि की सृष्टा का अलक्षण नहीं किया जा सकता । अब दो प्रश्न दिये रह गये—(१) क्या ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में कर दिया जाना चाहिये ? (२) क्या ध्वनि का लक्षण बनाना अशक्य है ? इन दोनों प्रश्नों पर हो

तात्पर्य

समास नहीं किया गया। भाष्य यह है कि यहाँ पर वक्ता मुल्यरूप से 'तव' शब्द पर जोर देना चाहता है। यों वे समास में सैकड़ों रमणियों हैं और अधिकतर विम्बफळ को उनके अन्ध की उपमा का सौभाग्य प्राप्त होता ही रहता है किन्तु 'तुन जैसी सुन्दरी' के अन्ध की उपमा का सौभाग्य निम्नन्देह एक नवी बात है जो साधारण तथा लोकप्रसिद्ध तपस्या का फल नहीं हो सकता। शुक्रशास्त्रक रमणिये धन्य है कि वह 'तुम्हारे' अन्ध दान कर रहा है। यह व्याप्य तमो व्यक्त हो सकता है जबकि 'तव' शब्द को पृथक् रखा जाये। यदि समास कर दिया गया होता तो 'तव' शब्द अन्ध का विशेषणमात्र बन कर रह जाता और वास्तविक अहंप्रत्यय को अभिव्यक्ति न कर पाता और इस पत्र में विशेषातिशय दोष आ जाता। [विशेष्य से विशेषण के लक्ष्मी विशेष सम्बन्ध का लेकर उसका क्रिया से अन्वय हो जाता है जैसे वैदिक वाक्य 'अहंपया विद्वांस्यैकदायन्या सोम कोषानि' में 'गो' से अन्वित आश्व्य वा साध्यता इत्यादि सम्बन्ध से ऋषण में अन्वय हो जाता है और 'भनवान् मुक्षी' इस लौकिक वाक्य में 'मनुष्य' के अर्थ से अन्वित धन का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से मुख में अन्वय हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर अन्ध से अन्वित त्वत्सम्बन्धित्व का विम्बफळकर्मक दान में प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से अन्वय हो जाता है। आशय यह है कि विम्बफळ तुम्हारे अन्ध की उपमा प्राप्त करने का सौभाग्यशास्त्री समझता है और शुक्रशास्त्रक प्रधानरूप तुम्हारे अन्ध की ही दृष्टिगत रख साहस्य के कारण विम्बफळ का दान कर रहा है। यही 'तव' के अन्तरूप में पढ़ने का विदित अर्थ है।] 'दत्त' शब्द का अर्थ है स्वाद लेना है; चखना है। भाष्य यह है कि स्वाद ले ले कर धीरे धीरे चख रहा है। जिससे प्रकृत विच्छेद नहीं होता। एक पैदू के समान सभी कुछ खा नहीं डालता। यदि पैदू के समान सभी कुछ खा जाये तो आस्राव वस्तु शीघ्र ही समाप्त हो जाये और स्वाद लेने के लिये उसे कुछ लेप न रहे। किन्तु यह शुक्रशास्त्रक ठीक रस है, रस ले-ले कर चख रहा है। जिस प्रकार उसको तुम्हारे अन्ध दान का सौभाग्य किसी अनुमत्त तपस्या के फल के रूप में मिला है उसी प्रकार रसशता भी तपस्या का ही फल है। 'शुक्रशास्त्रक' शब्द से व्यक्त हो जाता है कि वह भी तपस्या का ही फल है जो कि उसे ताक्य के कारण उचित समय में देना सौभाग्य प्राप्त हो गया। इससे व्यक्त होता है कि वक्ता अनुमत्त से भरा हुआ है; उसके हृदय में नायिका के अन्धपान को वक्त अभिजाता जिन्ही दुःख है, वह औचित्य का परिवर्णन न करते हुये विदग्धता के साथ अपने अभिप्राय को प्रकट करना चाहता है। इसीलिये चाटुकारिता के इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है जिससे रति को आच्छ-बननूत नायिका को उदासन हो जाये जो कि उसको अभिजाता के अनुकूल हो। वहाँ पर चाटुकारिता नायिका के लिये उदासन है।

प्रथम भेद (अविशतितवाच्य) में चार व्यापार ये—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना। यहाँ पर केवल तीन ही व्यापार हैं। लक्षणा की तीनों शतें मुख्यार्थवाच्य शब्दादि यहाँ पर नहीं मिलती। अतएव तीसरा व्यापार लक्षणा यहाँ पर नहीं होगा भयवा यहाँ पर किसी न किसी प्रकार मुख्यार्थ वाच्य को कल्पना की जा सकती है—नायक ने अन्धपान उस

तारावती

हे वाच्य जिसमें अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार (४) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ (५) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे अर्थात् व्यञ्जना व्यापार के वाच्य सामर्थ्य इत्यादि हेतु । इसी प्रकार विवक्षितान्तरवाच्य के भी विभिन्न अर्थ कर लेने चाहिये । अथवा कर्मकारण समास भी हो सकता है—अर्थात् जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है । इसी प्रकार जो अन्वयवत्ता के साथ विवक्षित है और वाच्य है । व्यञ्जनाव्यापार का आशय देने पर वाच्यार्थ को दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं तो वाच्यार्थ का अनुपपन्न (असङ्गत) होना इत्यादि कुछ ऐसे हेतु होते हैं जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाता है । कहीं कहीं वाच्यार्थ सङ्गत ही होता है अतएव उसका कहना वक्ता को अभीष्ट ही होता है । किन्तु एक तो उस शब्द का प्रयोग नवीन भङ्गिमा के साथ किया गया होता है, दूसरे उस शब्द में ही कोई ऐसी भिन्नता विद्यमान होती है कि उससे एक नवीन अर्थ व्यक्त होने लगता है । इस प्रकार वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से उस नवीन अर्थ को भी व्यक्त कर दिया करता है । अतएव वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति पर्यन्त उस शब्द का व्यापार चलता रहता है और वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से व्यङ्ग्यपर्यन्त एतद्वि उपपन्न किया करता है । प्रथम प्रकार की व्यङ्ग्यप्रतीति में वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, अतएव उसे अविवक्षित वाच्य कहते हैं और दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) के साथ वाच्यार्थ विवक्षित होता है, अतएव उसे विवक्षितान्तरवाच्य कहते हैं । द्वितीय प्रकार में अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है अतः प्रधानतया अर्थ व्यञ्जक होता है किन्तु प्रथम प्रकार में अर्थ अविवक्षित होता है अतः प्रधानतया शब्द व्यञ्जक होता है । (यहाँ पर महिम मट्ट ने एक प्रश्न उठाया है कि) अर्थ विवक्षित भी है अर्थात् वाच्यार्थ वा कथन अभीष्ट भी होता है और उसका वाच्यार्थ अतिरिक्त दूसरा भी अर्थ निवृत्तता है, यह बात परस्पर विरुद्ध है । इसका उत्तर यह है कि इसमें क्या विरोध है कि एक शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशेष अर्थ के साथ बहता है ? मूळ में कहा गया है कि ध्वनि सामान्यतया दो प्रकार की होती है । यहाँ पर सामान्यतया का अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये गये थे वस्तु, रस और अलङ्कार । तथापि इन तीनों भेदों का समग्र अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्तरवाच्य इन्हीं दो भेदों में कर दिया गया । (प्रश्न) पहले से ध्वनि के तीन नाम चले ही थे वस्तु, रस और अलङ्कार । वही की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट कर देने से क्या लाभ ? (उत्तर) इन दो नामों के रखने का एक विशेष प्रयोजन है ; यह बतलाना जा चुका है कि ध्वनि का एक अर्थ व्यापार भी है । उस व्यापार में शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं । अब प्रतिपत्ता (भोठा) किसी शब्द की प्रकृति है तब उसकी अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पूर्ण प्रसिद्ध तीनों व्यापारों से एक अर्थ की अवगत होती है । दूसरी ओर प्रयोज्य (वक्ता) का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ में होता है जिसे वक्ता की विदधा कहते हैं । अभिधा इत्यादि तीनों व्यापारों से अवगत तथा भोठा के अन्त करण में विराटमान अर्थ का और प्रयोज्य क

लोचनम्

उत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—मत्तया विभर्ति । उक्तप्रकार इति पञ्च-
स्वर्षेषु योज्यम्—शब्दार्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेद दर्शयितु
ध्वनेस्तावद्रूपमाह—वाच्येति । तात्पर्येण विधान्विधामतया प्रयोजनरत्नेनेति
यावत् । प्रकाशनं घोटनमित्यर्थः । उपचारमात्रमिति । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा ।
उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः । मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारा-
स्तर्थादादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनघोटनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवध्वन्यनु-
पयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः । 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजन
लक्षणम् । तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्रं स्यात् ।

उत्तरे प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—मत्तया विभर्ति इत्यादि । 'उक्त प्रकार' इस
शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना चाहिये—शब्द अर्थ व्यापार व्यङ्ग्य और समुदाय में ।
रूपभेद को दिखलाने के लिये ध्वनि के रूप को कहते हैं—वाच्य इत्यादि । 'तात्पर्येण' का
अर्थ है विधान्विधाम होने के कारण प्रयोजन के रूप में । 'प्रकाशन' का अर्थ है घोटन ।
'उपचारमात्र' इति । उपचार गुणवृत्ति को कहते हैं अर्थात् लक्षणम् । तत्ररूप अर्थात् अति-
पवित्र व्यवहार मात्र शब्द से यह कहते हैं—वहाँ तृतीय लक्षणाव्यापार वस्तुस्थिति से
सम्भव हाउं हुये भी अनुपयुक्त होने के कारण भादरणीय न होने के समान होता है । 'असि
ध्वं को लेक' यह प्रयोजन का लक्षण है । वहाँ पर मो लक्षण है अब किस प्रकार ध्वनन
और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं ?

तारावती

कि क्या सर्वत्र विवाचितान्यपरवान्ध में लक्षण दिखलाए जा सकती है ? उत्तर है नहीं ।
असत्त्वकर्मध्वन्य में तो लक्षण का उन्मेषनात्र भी नहीं होता । क्योंकि उसमें कोई कर्म
लक्षित किया हो नहीं जा सकता । इस प्रकार इस दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार
हाते हैं ।

ऊपर दोनों उदाहरणों में लक्षण का समावेश दिखलाया गया । अतएव 'उक्त ध्वनि को
लोग मात्र (लक्षणायम्) बतलाते हैं' इस पक्ष का उल्लेख कर उसमें दोष दिखलाये जा
रहे हैं । जिस लक्षणपक्ष का अधिन मकल्प में उपलब्ध किया गया है उसकी विवेचना से यह
सामान निकलता है कि लक्षण के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव करने से तीन विकल्प हो सकते
हैं—(१) ध्वनि और लक्षण दोनों एक ही वस्तु हैं, एक वस्तु के दो नाम रख दिये लक्षण
और ध्वनि, दोनों एक दूसरे के पर्यायवाचक शब्द हैं । (२) भक्ति या लक्षणा ध्वनि का
लक्षण है । लक्षण का उपयोग यह होता है कि वह किसी एक वस्तु को अन्य समस्त
वस्तुओं से पृथक् करता है । जैसे पृथ्वीतल या गन्धर्व, यह लक्षण पृथ्वी को जड़ इत्यादि
बेश समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है । मन्त्र यह है कि क्या इसी प्रकार भक्ति या लक्षण भी
ध्वनि का लक्षण अथवा व्यावर्तक धर्म है । (३) क्या भक्ति सत्त्वानात्र से ही ध्वनि का ल
क्षण होती है । जैसे कोश अथवा सत्त्वानात्र से ही देवदत्त के घर का परिचायक हाता है ।

वारावती

अभिप्रेत विवक्षित अर्थ का परस्पर सहकार अवश्य होता है यही सिद्ध करने के मन्तव्य से यहाँ पर नये मान रखे गये हैं। इस प्रकार नामों के द्वारा ही ध्वनि का स्वरूप भी मत्तु प्रतीकित कर दिया गया है।

अविवक्षित वाच्य का जो उदाहरण मूल में दिया गया है उसके सुवर्णपुष्पा शब्द को लीजिये। इसका अर्थ है—'जो सुवर्ण को फूलती है।' वह पृथिवी का विशेषण है। अतएव पृथिवी पर लता का आरोप हो जाता है। न तो पृथिवी एक लता ही है और न किसी लता में सोने के फूल ही आते हैं। इस प्रकार इस वाच्य का अपना अर्थ (वाच्यार्थ) असम्भव है, अतएव विवक्षित नहीं हो सकता। इसीलिये इसे अविवक्षितवाच्य कहते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार होगा—पहले यह शब्द पदार्थ का अभिधान करेगा अर्थात् अभिधावृत्ति से वाच्यार्थ-बोध होगा। इसके बाद (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) तात्पर्यशक्ति के द्वारा अन्वय का अवगमन होगा। (अन्वितान्वयान्वयवाद के अनुसार अन्वय की प्रतीति अभिधावृत्ति से ही हो जायेगी।) तब भाषा की प्रतीति होगी कि यह अर्थ असम्भव है। इससे उस अर्थ का हनन हो जायेगा। तब सादृश्य सम्बन्ध को हेतु मानकर इसका लक्ष्यार्थ हो जायेगा कि ऐसे व्यक्तियों को सम्पत्ति सुख्य होवे और वे उस सम्पत्ति के समूह के पात्र बन जाते हैं। इस लक्ष्यार्थ का प्रयोजन यह प्रकट करना है कि पूरे कुशल विदावाले और सेवक प्रसन्ननीय होते हैं। वास्तव में कहना यही है किन्तु इसे शब्द के द्वारा न कहकर छिपाते हुये कहा गया है। इस प्रकार जैसे सुन्दरियों के कुचकलश का जोड़ा छिपाये जाने पर ही बहुमूल्य बनता है उसी प्रकार यह अर्थ छिपाये जाने के कारण बहुमूल्य हो गया है। इसीलिये इसे ध्वनि करते हैं। यहाँ पर प्रधानतया शब्द व्यञ्जक है और अर्थ उसका सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है। इस प्रकार यहाँ पर (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) चार व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना। (अन्वितान्वयान्वयवाद के अनुसार तात्पर्य को छोड़ कर तीन वृत्तियाँ होती हैं।)

[यहाँ पर भावः सभी टीकाकारों ने लोचनकार द्वारा की हुई 'सुवर्णपुष्पा' शब्द की व्याख्या पर आपत्ति उठाई है। लोचनकार ने विग्रह किया था—'सुवर्णं पुष्पतीति' अर्थात् जो सुवर्ण को फूलती हो। यहाँ पर 'सुवर्ण' इस कर्म के उपपद होने के कारण 'पुष्प' धातु से 'कर्मव्यञ्ज' धृत् से अण् प्रत्यय हो जाता है। श्रीलिङ्ग बनाने के लिये उससे 'टाप्' किया गया है। इस पर एक आपत्ति यह है कि पुष्प धातु अकर्मक है; 'सुवर्ण' शब्द उसका कर्म कैसे हो सकता है? किन्तु यदि पिप्प का अर्थ अन्तर्भूत मान लिया जाये तो यह धातु अकर्मक हो सकती है। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि इस शब्द में अण् प्रत्यय है तो उसका लोचनकार शब्द बनाने में दीप् होना चाहिये और सुवर्णपुष्पी शब्द बनना चाहिये। किन्तु अन्वयविग्रह आकृतिकण्य है और उसमें पुष्प शब्द को मानकर टाप् हो सकता है। यद्यपि आकृतिकण्य का आशय अकृतिकण्य है तथापि यहाँ पर विशेष व्यञ्जना होने के कारण अण्वि-

ध्वन्यालोकः

माघैतत्स्याद्भक्तिलक्षण ध्वनेरित्याह—

अत्रिव्याप्तेश्चाव्याप्तैर्न चासौ लक्ष्यते तथा ॥ १४ ॥

नैव मस्त्या ध्वनिलक्ष्यते । कथम् ? अत्रिव्याप्तेश्चाव्याप्तैश्च । तत्राति-
व्याप्तिर्ध्वनियतिरिक्तोऽपि विषये मन्ते सम्भवात् ।

यत्र हि व्यङ्ग्यकृत महत्सौष्ठव नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध-
नुरोधप्रवर्तितव्यवहारो कवयो दृश्यन्ते । यथा—

(मनु०) यह न सही किन्तु मन्त्रि ध्वनि का लक्षण तो होता ही है । इस पर कहते हैं
'लक्षणा ध्वनि का लक्षण (व्यावर्तक धर्म) नहीं हो सकता, क्योंकि इससे अत्रिव्याप्ति और
अव्याप्ति व दा दोष आयेगे' ॥ १४ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि का व्यावर्तक धर्म लक्षणा है । यह कैसे ? (उत्तर)
अत्रिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण । उनमें अत्रिव्याप्ति इसलिये होगी कि ध्वनि से भिन्न
विषय में नो लक्षणा सम्भव है ।

वही व्यङ्ग्य के कारण बहुत बड़ा सुन्दरता नहीं आती वही भी काँच लोग प्रसिद्धि के
अनुरोध से आरोपित शब्दवृत्ति (लक्षणा) के द्वारा व्यवहार करते देखे जाते हैं । जैसे—

चौचनम्

द्वितीय पत्र दूषयति—अत्रिव्याप्तेश्चि । असाविति ध्वनिः । तथेति
मस्त्या । ननु ध्वननमेवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—
महत्सौष्ठवमिति । अतएव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्दुष्प्रकृतेन न कृत्य
किञ्चिदिति भावः । महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्वचति । यथोक्तम्—'समाधिरन्व-
धमेस्य स्वाप्यारोपो विवक्षितः' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा
व्यवहार इत्याह—प्रसिद्धचनुरोधेति । परस्परया तथैव प्रयोगात् ।

द्वितीय पत्र को दूषित करते हैं—अत्रिव्याप्ति इत्यादि । वह भ्रमात् ध्वनि । 'उससे' का
अर्थ है ध्वनि से । (मनु) ध्वनन अवश्यभावी है फिर तद्व्यतिरिक्त विषय कैसे हो सकता
है ? यह कहते हैं—'महत् सौष्ठवम्' इति । आशय यह है कि प्रयोजन के आदरणीय न होने
के कारण व्यङ्ग्यत्व से काँच कार्य नहीं । 'महत्' शब्द के ग्रहण से वह गोप्य ही होता है ।
जैसा कहा गया है—'अन्य धर्म के कहीं आरोप को समाधि कहा जाना अभाष्ट है ।' यह
दिखाते हैं । प्रयोजन के अभाव में वैसा व्यवहार कैसे होता है ? यह कहते हैं—'प्रसिद्ध-
नुरोध' इति । परस्पर से जैसे प्रयोग होने के कारण ।

चारावर्ती

अब द्वितीय पत्र का खण्डन किया जा रहा है—'अत्रिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह
उससे लक्षण नहीं होती । 'यह' का अर्थ है ध्वनि और 'उससे' का अर्थ है लक्षणा के द्वारा ।

बोचनम्

दशतीत्यास्वाद्यपि अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्पर मुद्ग्ये, अपि तु रसज्ञोऽप्रेति तत्प्रसिद्धदेव रसज्ञताम्यस्य तप प्रभावादेवति । शुक्रशावक इति । तारव्यादुचितफललामोऽपि तपस एवति । अनुरागिणक्ष प्रच्छन्नस्वाभिप्रायक्यापन-
वैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोदापन न्यद्रयम् ।

अत्र च त्रय एव व्यापारा—अभिधा, ताप्ययं, ध्वनन इति । मुद्ग्यार्थ-
बाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्याया लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात् । यदि वाकस्मिक
विशिष्टमशनाथानुपपत्तेर्मुद्ग्यार्थबाधायां सादृश्यालक्षणा भवतु मध्य । तस्यास्तु
प्रयोजन ध्वन्यमानभव, तत्पुंयकक्ष्यानिवाश, केवल पूर्व लक्षणैव प्रधान
ध्वननव्यापारे सहकारि । इह त्वमिधातत्पर्यशक्ती । वाक्यार्थसौन्दर्यादव
न्यद्रयार्थप्रतिपत्ते केवल छेदान लक्षणाव्यापारापयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम् ।
असहृद्यकमन्यद्रये तु लक्षणा समुन्मपमात्रमपि नास्ति । असहृद्यत्वादेव
क्रमस्यति वक्ष्याम । तेन द्वितीयाऽपि भेद चत्वार एव व्यापारा ॥ १३ ॥

दमति का अर्थ है स्व-इ छेदा है । अविच्छिन्न प्रबन्ध के रूप में, औदरिक के समान
रसज्ञ नहीं था बाधा । अर्थात् 'रसज्ञ है' यहाँ पर उसकी मात्रिक समान ही रसज्ञ
रसज्ञता भी तप के प्रभाव से ही है । शुक्रशावक इति । ताप्ययं के कारण अविच्छिन्न फल लाभ भी
उपस्थान्त्व ही है । अनुरागा का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय-दापन वैदग्ध्य के साथ चाटुविर-
चनात्मक विभाव का उदापन न्यद्रय है ।

यहाँ पर तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, ताप्ययं और ध्वनन । क्योंकि मुद्ग्यार्थबाध इत्यादि
के अभाव में तीसरी (वृत्ति) लक्षणा का प्रभाव है । अथवा वाकस्मिक विशिष्ट मन्त्र के अर्थ
की अनुपपत्ति से मुद्ग्यार्थबाध में सादृश्य से बाध में लक्षणा हो जावे । उसका तो प्रयोजन
ध्वन्यमान (प्रधान मूल-अभिव्यक्ति) ही है । वह चौथी कक्ष्या में निश्चित होनेवाला है । केवल
पहले लक्षणा ही प्रधान (तथा) ध्वननव्यापार में सहकारि है । यहाँ ता अभिधा और ताप्य-
यक्ति प्रधान हैं । वाक्यार्थ सौन्दर्य से न्यद्रयार्थप्रतिपत्ति हो जाने से केवल अभाव लक्षणा
व्यापार का उदापन भी है यह कहा गया । असहृद्यकमन्यद्रय में तो लक्षणा का समुन्मपमात्र
भी नहीं है क्योंकि क्रम का उल्लंघन न होना ही (उसमें कारण है) यह हम कहेंगे । सहृद्य
द्वितीय मंत्र में आचार ही व्यापार मात्र है ॥१३॥

तारावर्तः

आल नहीं जाती । उतना समय भी रस सिद्धि के लिये पर्याप्त नहीं है । अर्थात् इति मुद्ग्य
तन्मार्थों भी मुनी गर है किन्तु रस मकर के उतन पत्र का देनेवाली कर तपसा मात्र ही
नहीं है । तारावर्तलक्षणे में 'तार' शब्द पूरक है, यदि यहाँ पर समास कर दिया गया होता
तो उसका सक्ति धर्म हो जाता । 'तुम्हारा दमन कर रहा है ।' यह अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो
पाता । अतएव मुद्ग्य लक्षण का यह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ पर छन्द की वृत्ति के लिये

ध्वन्यालोकः

तथा-सुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरन्धिज्जइ सहस्सहूत्तमि ।

विरमिष पुणरमिज्जइ पियोज्जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥

[शतकृत्वाऽवरुद्धयते सहस्रकृत्वः सुम्ब्यते ।

विरम्य पुनारम्यत प्रियो जनो नास्ति पुनरुत्तम् ॥] इतिछाया ।

(अनु०) उक्तो प्रकारः—

‘अरने मियवम का सौ बार अलिङ्गन किया जाता है, हजार बार सुम्बन किया जाता है ।
रुद्ध-रुद्धर रम्य किया जाता है किन्तु वह पुनरुक्त नहीं होता ।’

लोचनम्

अवरन्धिज्जइ आच्छिद्यते । पुनरुत्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते उक्तार्थस्या-
सम्भवात् ।

‘अररुधज्ज’ शक्य अर्थ है अलिङ्गन किया जाता है । ‘पुनरुत्तम्’ शक्य अनुपादेयता
लक्षित होती है, क्योंकि उक्त अर्थ असम्भव है ।

तारावती

पर ध्वनि नहीं हो सकती । यदि हम यह लक्षण बनावें कि ‘जहाँ लक्षण हो वही ध्वनि हो
सकती है ।’ तो लक्षण होने से उन प्रतिबद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण चला जावेगा जहाँ
वस्तु, नहीं जाना चाहिये । यही अलक्ष्य में लक्षण का पटित हो जाना रूप अतिव्याप्ति दोष
कहा जाता है । वस्तुतः श्लोत्रिये प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण व्यञ्जकता से वहाँ
कोई आवश्यकता ही नहीं पूरी होती । ‘व्यञ्जना में अधिक सुन्दरता नहीं होती’ इस वाक्य में
अधिक शब्द का भासाय यह है कि ऐसे स्थान पर व्यञ्जना गुणीभूत होकर अलङ्कार का रूप
धारण कर लेती है । समाधि अलङ्कार का लक्षण करते हुए जैसा कि कहा गया है—जहाँ
अन्य धर्म का कहीं अन्यत्र आरोप विवक्षित हो उसे समाधि कहते हैं ।

(मन्त्र) जब दूसरे अर्थ में दूसरे शब्द के प्रयोग में कोई प्रयोजन नहीं होता तब वैसा
प्रयोग किया हो क्यों जाता है ?

(उत्तर) किसी अन्य अर्थ में अन्य शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ती है जिससे
प्रतिभा के समान वैसा ही प्रयोग होने लगता है ।

हम तो यह कहते हैं कि प्रतिबद्ध का अर्थ ही है प्रयोजन का छिपा न होना, यद्यपि ध्वनि-
मयल में भी प्रयोजन सर्वथा अस्पष्ट नहीं होता । वह इस रूप में व्यक्त किया जाता है कि
स्पृष्टरूप में अवभास के समान हो जाता है । तथापि उसमें कुछ न कुछ निगूढ़ता उसी प्रकार
अपेक्षित होती ही है जिस प्रकार कोष को निगूढ़ रखने की आवश्यकता होती है ।

अब प्रथम उदाहरण को लीजिये—‘वर्मलिनी पत्र की दाया कट रहा है’ इस वाक्य में
‘बदति’ ‘कटना’ चेतन का काम है । दाया कहने का काम नहीं कर सकती । अतः दाया-
पुराति से उक्त अर्थ हो जाता है ‘कट कर रहा है ।’ लक्षणा का प्रयोजन है—‘स्पृष्ट-

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं मक्तिर्ध्वनिरिति, तद्यत्तिसमाधीयते—

भक्त्या विनर्ति नैकत्वं रूपभेदादय ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं विनर्ति निब्रह्मरूपत्वात् । वाच्यव्यति-
रिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाम्ना तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र म्यक्ष्यप्रधान्यां स
ध्वनिः । उपचात्मात्रं तु भक्तिः ।

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'मक्ति ध्वनि है' इसका प्रति समर्थन किया
जा रहा है —

'दोनों में रूप भेद होने से मक्ति से ध्वनि एकलपता को धारण नहीं करती ।'

यह ध्वनि ब्रह्मके प्रकार ऊपर बतलाने का लुके है मक्ति के साथ एकलपता को धारण
नहीं करती क्योंकि दोनों का रूप भिन्न होता है । वहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य
व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य को प्रधानता में ध्वनि होती है । मक्ति
तो केवल उपचार को कहते हैं ।

लाघनम्

अतएवोन्नयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्त्याहुरित्यनुभाष्य दूषयति । अथ भाव—
मक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पयायवचान्नप्यम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या भन्यतो
भ्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुप-
लक्षणम् ?

अतएव दोनों उदाहरणों को पीठ पर ही 'लक्षणिक कहते हैं' यह अनूदित करके दूषित
करते हैं । भाव यह है—मक्ति और ध्वनि क्या दर्शक के समान उत्पन्न होती हैं ? अथवा
पृथिवीत्व के समान पृथिवी से अन्यत्र भ्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण उत्पन्न है ? अथवा
देवदत्त के घर के कोड़े के समान सम्भवमात्र होने से उत्पन्न है ?

तारावती

तयो से ऐसा विरिष्ट मन क्यों कर दिया ? 'उक्तप्रकार तो ब्रह्मरूप का सादृश्य ही
करत है, क्या उसके लिये इतनी बड़ी उदाहरणों की आवश्यकता है ? इन्हीं मतों के उत्तर
हाने से मुख्यदर्शक ही आता है । उससे नादिका का शीन्द्रातिरेक लक्ष्यार्थ के रूप में
टूटता जाता है, जिसका प्रधान है चाक्षुरिकता का समझ बननी उपरान्त की रक्षा को
भक्त काय दुने नादिका को उत्तर कर उत्तर करना । यह प्रधान बोधी करता में सत्रि
विष्ट हा मता है जो व्यङ्ग्यभाष्यरम्य है । इस प्रकार मध्य में उत्पन्न मानी जा सकती है ।
अतिशयवाच्य से इसमें भेद यह है कि अतिशयवाच्य के उदाहरण में उत्पन्न हो प्रधान
तया व्यङ्ग्यभाष्यर में सक्षरिणी भी किन्तु यहाँ पर अविधा और उत्तर्ये दो बृहदा
मपल रूप में सक्षरिणी होती है, क्योंकि वाच्यदर्शकत्व से ही व्यङ्ग्य को अतिशय हो
जाती है, उत्पन्न व्यङ्ग्य का उत्तर्ये वा उत्पन्न जाता है । अब मूल उपरिदत्त जाता है

क्षोषनम्

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः ।

तथा भ्रमति । कनिष्ठमायाया स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडा-
योगन मृदुकांसि प्रहारो दत्त सपर्शानां सीमाग्यसूचकं तत्क्रीडासीमाग्यम-
प्राप्तानां हृदय दुस्सहो जात मृदुलयादेव । अन्यस्य दत्तो मृदु प्रहारोऽन्यस्य
च सम्यगत । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दाननात्र फलवत्त्व लक्ष्यते ।

तथा परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयाऽनुभवतिशब्दो मुख्य एव,
तथाप्यप्रस्तुत इक्षी प्रशस्यमान पीडाया अनुभवननासम्भवता पीडावत्त्व
लक्ष्यते, तच्च पाल्यमानत्वे पर्यवस्यति । नन्यस्त्यत्र प्रयोजन तत्कमिति न
ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैव विध इति ।

यहाँ पर ग्रहण के द्वारा अनुपादेयता लभित जाती है, हरण से उसकी परतन्त्रता का
प्राप्ति लभित जाती है ।

तथा अत्र यह । कनिष्ठमाया के स्तन पृष्ठ में नवलता के काग्य काल के द्वारा उचित
क्रांता के योग से बोलभ भी दिया हुआ प्रहार उस सीमाग्यसूचक क्रीडा के सविभाग को न
मात्र करनशाली सीकों के हृदय में दुस्सह हा गया बोलभ हाने के कारण ही । अन्य का दिया
हुआ मृदु प्रहार अन्य क लिये हा जाता है । और मृदु होत हुये भी दुस्सह यह विचित्र है ।
दान से यही फलवत्ता लभित होती है ।

वाराचती

रूप में प्रकट कर रही है ।' यदि 'स्फुट प्रकट' कर रही है' यही कह दिया जाता तो क्या
असुन्दरता आ जाता ? यदि 'बहुती है' इस शब्द के द्वारा छिपा कर कहा गया तो क्या अधिक
सुन्दरता हो गई ? इस प्रकार अधिक सुन्दरता न हाने से ध्वनि नहीं हा सकती, किन्तु लक्षणा
है । इसीलिये अगली कारिका में कहेंगे कि ध्वनि का विषय वही हाता है जो उसी वास्ता
को प्रकट करे जिसका प्रकट काना दूसरी उक्ति से असम्भव हो ।'

अब दूसरा उदाहरण लीजिये । प्रिय कभी पुनरुक्त नहीं होता' इसमें अवरुन्धितका
अर्थ है 'आलिङ्गन किया जाता है ।' पुनरुक्त काइ शब्द या वाक्य हो सकता है, मनुष्य कभी
पुनरुक्त नहीं हो सकता । अत इसका बाध होकर उक्षयाय होता है—'प्रिय व्यक्ति कभी
अनुपादेय नहीं होता ।' यहाँ पर पुनरुक्त कहने में ऐसी कौन सा सुन्दरता है वा अनुपादेय
कहने में नहीं आता ?

अब तीसरा उदाहरण लीजिये—ग्रहण करे वस्तु की जाती है, महिष्ठार्ये ग्रहण नहीं की
जा सकती । इसी प्रकार हरण किसी मूर्त द्रव्य का होता है, हृदय का हरण नहीं किया जा
सकता । अत बाध हाकर ग्रहण और हरण का उक्षयार्थ समस्त 'उत्तरान' और 'अधन कर
लेना' होता है । ग्रहण और हरण इन दोनों शब्दों के प्रयोग में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो
उत्तरान और अधीन करना इन दोनों शब्दों में विद्यमान नहीं है ।

चौथा उदाहरण लीजिये—प्रियजन न जानी छोटा था के स्तनपृष्ठ पर उचित कीन

तारावर्ती

(किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कहाँ है ? दूसरे ने उत्तर दिया कि 'वह जहाँ कौशा बैठा है। यहाँ कौशा देवदत्त के घर का परिचायक है।) क्या इसी प्रकार लक्षणा भी ध्वनि की परिचायिका है ? लक्षणापक्ष में यही ठीक विकल्प है। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

ध्वनि भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करता। ध्वनि का प्रकार बतलाया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार ५ अर्थों में होता है— शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और सन्का समुदाय। इन सभी अर्थों में उक्त प्रकार की योजना करनी चाहिये। अर्थात् पाँचों अर्थों में ध्वनि और लक्षणा में रूपभेद होता है यह समझना चाहिये। रूपभेद की समझाने के लिये आञ्जोककार ने यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया है—जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ की तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित किया करते हैं और वही व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी होती है उसे ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य के द्वारा बहने का भाव यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विधान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही होती है। अतः विधान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप में व्यङ्ग्यार्थ ही अभिव्यक्त होता है। प्रकाशन का अर्थ है प्रोक्तन। यह हुई ध्वनि की बात। अब भक्ति को लीजिये। मञ्जु केवल उपचार को कहते हैं। उपचरण का अर्थ है व्यवहार का अविनाशन। अर्थात् श्रुतों के आधार पर व्यवसायपरम्परागत व्यक्त व्यवहार के कारण जहाँ एक शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जावे जो उस शब्द के वास्तविक अर्थ से सम्बन्ध रखता हो। 'केवल उपचार को लक्षणा कहते हैं' इस वाक्य में केवल शब्द का अन्वय यह है कि लक्षणा में ही यह बात देखी जाती है कि जिस अर्थ में शब्द प्रचलित न हो उस अर्थ में उसका प्रयोग करना अर्थात् लक्षणा में जिस प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे में प्रयोग किया जावे और प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यञ्जनाव्याप्य हो वही तो लक्षणा होती है। किन्तु लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ लक्षणा के अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना वस्तुस्थिति के कारण उपरिगत हो किन्तु उसका उपयग कुछ न हो रहा हो, अतः उसका आदर न किया जा सके तथा उसका होना न होना एक जैसा हो। न्यायसूत्रकार ने प्रयोजन का यह लक्षण दिया है— 'यमर्थमभिव्यक्त्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस उक्त को लेकर कोई शब्द प्रवृत्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ प्रयोजनाभिव्यक्ति के लिये व्यञ्जना का भाव्य लिया जाता है और ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (इसी प्रकार ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ तात्पर्य उपरिगत के कारण लक्षणा का विषय हो और प्रयोजनदान के लिये व्यञ्जना नामक चतुर्थ शक्ति का भाव्य लिया जावे तथा ऐसे स्थान पर भी हो जाता है जहाँ वाच्यार्थ वाच्य इत्यादि श्रुतों के न होने के कारण लक्षणा का बीज न हो।) इस प्रकार जब लक्षणा के अभाव में व्यञ्जना और व्यञ्जना के अभाव में लक्षणा सम्भव है तब दोनों एक ही कहे सकते हैं ?

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।

छावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

(मनु०) और भी—

जहाँ पर शब्द अपने विषय से भी भिन्न किसी दूसरे विषय में रूढ़ हो जाते हैं वे छावण्य रत्वादि शब्द प्रयुक्त होकर ध्वनि का स्थान कभी नहीं बनते ॥१६॥

लोचनम्

यत् उक्त्यन्तरेणेति । उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापार-
चित्तोपेनेत्यर्थः । शब्द इति पञ्चस्वर्येषु योन्यन् । ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—
ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः । उदाहृत इति । वदतीत्यादौ ।

एव यत्र प्रयोजनं सद्यपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र
मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार
इत्याह—किञ्चेति । छावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणारसयुक्तत्वादेः
स्वार्थादन्यत्र इत्यात्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसंनिध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः ।
यदाह—

‘यत् उक्त्यन्तरेण’ इत्यादि । उक्त्यन्तरेण का अर्थ है ध्वनि के अतिरिक्त स्फुट शब्दार्थ
व्यापार विशेष के द्वारा । ‘शब्द’ यह पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिये । ‘ध्वन्युक्तेर्विष-
यीभवेत्’ इति । अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा कहा जाता है । उदाहृत इति । वदति इत्यादिमें ।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुये भी आदरास्पद नहीं होता उसमें कौन ध्वननव्यापार
होता है ? यह कहकर वहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं और उपचार होता है वहाँ भी
कौन ध्वननव्यापार है ? यह कहते हैं— किञ्च इत्यादि । छावण्य इत्यादि जो शब्द अपने विषय
छावण्यरसयुक्तत्व इत्यादि स्वार्थ से भिन्न इत्यत्र इत्यादि में रूढ़ हैं और रूढ़ होने से ही तिनमें
(छावणा-प्रयोजनों) की सन्निधि के अपेक्षारूप व्यवधान से शून्य हैं । जैसा कि कहा है—

शारावती

(उच्यते) इस प्रकार के विषय में व्यङ्ग्यार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है इसलिये उसे हम ध्वनि नहीं
कह सकते ॥ १४ ॥

प्रस्तुत कारिका में इस बात का हेतु देते हुये कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता में भी ध्वनि क्यों
नहीं होती ? यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय कौन सा शब्द होता है ? ‘दूसरी
वक्ति के द्वारा’ कहने का आशय यह है कि जिस चारुता को कोई शब्द केवल ध्वनि के
आधार पर ही व्यक्त कर सके, विशेष प्रकार के वाच्य और वाचक के द्वारा वह चारुता
व्यक्त न की जा सकती हो, वही शब्द ध्वनि का विषय होता है । यही शब्द के पाँचों
अर्थ देने चाहिये (१) ‘शब्दों’ अर्थात् जो प्रकथित किया जावे अर्थात् अर्थ । (२)

ध्वन्यालोकः

परिमलान् पानस्तनजघनसङ्गादुभयतः-

स्तनोर्मध्यस्थान्त् परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं न्यस्तन्यास इक्षयभुज्जलताक्षेपवल्नै

वृन्नाह्न्याः सन्तापं वदति विसिनोपत्रशयनम् ।

(अनु०) 'यह कर्णलज्जोपशस्त्राप स्तनो और बचाओं के स्फुट होने के कारण उनका ससर्ग-प्राप्तकर दोनों ओर अत्यन्त नर्तित हो गया है किन्तु मध्य भाग के दृढ होने के कारण उसका निम्न प्राप्त न कर रहा बना हुआ है। डोली भुज्जलताओं के श्मर-उपर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्त भ्रष्ट हो गई है। इस प्रकार यह आस्त्राप उस उन्मत्तों के सन्ताप को कह रहा है।

लोचनम्

वयं तु ब्रूम — प्रसिद्धिया प्रयोजनस्यानिगूढतत्पर्यं । उच्चारणेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासद्भिर्गूढता निधानवदपक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटाकरणप्रतिपत्ति प्रयोजनम् । यद्यगूढ स्वशब्दनोच्यते, किञ्चिच्छास्त्रं स्यात् । गूढतया वर्णने वा किञ्चिच्छास्त्रमधिकं जातम् । अननैवाशयेन वक्ष्यति—यत् उक्त्यन्तरणाशयं यदिति ।

हम तो कहते हैं—अर्थ यह है कि प्रसिद्धि अर्थात् प्रयोजन को जो अनिगूढता भाव यह है कि उक्तान अर्थात् स्फुट अवभासमान रूप में वह प्रयोजन प्रकाशित होते हुये काव्य के समान निगूढता की अपेक्षा करता है। 'वदति' इसमें वरचारा (लक्षणा) होनेपर निस्सन्देह स्फुटीकरण की प्रतिपत्ति प्रयोजन है। यदि अगूढ को स्वशब्द से कहा जाता तो क्या अचाराता हो जाती? अथवा गूढरूप में बचन करने पर क्या अधिक चारुता उत्पन्न हो गई? इतनी प्रशंसा से कहें—'क्याकि जो दूसरी उक्ति से अशक्त होता है' इत्यादि ।

तारावर्ती

(प्रश्न) अर कि लक्षणा में ध्वनि का होना अनिवार्य है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त कैसे हो सकता है ?

(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जिनमें व्यञ्जना होती तो है किन्तु उसके कारण कोई विचार सुन्दरता नहीं आती। कहने का आशय यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति सवत्र होती है तथापि ध्वनिरूपता की भाव करने के लिये इस बात की आवश्यकता होती है कि उसमें कुछ न कुछ निगूढता अवश्य रहे। किन्तु ऐसे भी स्थान होते हैं जहाँ प्रयोजन विच्छिन्न गूढ नहीं होता। उन शब्दों का उल्लेख अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ती है और कवि लोग स्वभाविक रूप में उन शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं तथा सुननेवालों की उसमें चतुर्कार बंध नहीं होता। अतः वहाँ

लोचनम्

निरुद्धाः अत्रगा काश्चित्तामव्यादभियनवन् । इति । ते तस्मिन् स्व
विषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पद भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहार ।
उपचरिता शब्दस्य वृत्ति गौणा लाक्षणिकी चे यथं । आदिप्रहणेनानुलोम्य,
प्रतिहृत्य, सन्नद्धचारीत्येवमादय शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्त । लोभानामनु-
गतमनुलोम मदेनम् । वृत्तस्य प्रतिपक्षतया स्थित चात प्रतिहृत्यम् । तुल्यगुरुः
सन्नद्धचारी इति मुख्यो विषय । अन्य पुनरुपचरित एव । न चात्र प्रयोजन
द्विद्विदुद्विष्य लक्षणा प्रकृते त न तद्विषया ध्वननव्यवहार ।

'कुञ्ज निरुद्धा लणगायै सानर्थ्ये से अभिधानवत् होती है ' ये अने विषय से अत्र उक्त
विषय में प्रयुक्त होकर भा ध्वनि का स्थान नहीं हाना। वहाँ पर ध्वनि का व्यवहार नहीं
हता। अथ यह है कि शब्द की उपचरित वृत्ति गौणा और लाक्षणिकी होती है। आदि
प्रहण से अनुलोम्य, मानिकूल्य, सन्नद्धचारी इत्यादि लाक्षणिक शब्द प्रहण किये जाते हैं।
टोन के अनुगत अनुलोम मदन। कृत् (त्) के प्रतिपक्षरूप में स्थित धारा प्रतिहृत।
तुल्य गुरुताला सन्नद्धचारी यह मुख्य विषय है। वहाँ पर किसी प्रयोजन के वर्देय से लक्षणा
प्रकृत नहीं हुई है अतः तद्विषयक ध्वननव्यवहार नहीं होता।

तारावती

बिन्दुत्त होता ही नहीं।) उसे स्थान पर ध्वनन व्यापार का तो प्रश्न ही नहीं उठता,
क्योंकि ध्वनि का मूल प्रवृत्तिनिमित्त व्यवस्था वहाँ पर होती ही नहीं।

(लावण्य शब्द का मूल अर्थ है लवणसयुक्त। लावण्यसयुक्त वस्तु मिय होती है। इसी
साम्य के आधार पर इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में होने लगा है।) लावण्य इत्यादि
शब्द अने विषय लवणसयुक्त इत्यादि को छात्र का अने अर्थ से भिन्न रमणायता इत्यादि
दूर अर्थों में रूढ हो जाते हैं। क्योंकि व रूढ हात हैं इसी लिये उनमें लक्षणा की तीनों शक्तें
(लावण्य, सौन्दर्यमन्त्र और रुद्रियोक्ता-पर) छात्र नहीं हानों। जैसे कि कदा भी
गया है—'कुञ्ज निरुद्धा लणगायै प्रयोग सानर्थ्ये से अभिधा के समान ही यह है।' ये लण
पात्रे अत्र आने विषय से भिन्न उक्त (लक्षणा) में प्रयुक्त हानी भी है तथापि ध्वनि का स्थान
नहीं बनती। उनमें ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। शब्द की उपचरित वृत्ति का अर्थ है
गौणवृत्ति अत्र लणगायुक्त। 'लावण्य इत्यादि' में इत्यादि शब्द का अर्थ है लावण्य शब्द ही
नहीं अन्तु। इस के अर्थ और वस्तु से शब्द। जैसे अनुत्त न, प्रतिहृत, सन्नद्धचारी। अनुत्तान
शब्द का मूल अर्थ है—'टोनी का अनुगमन कानवाया।' सम्भवतः इस शब्द का पहला
प्रयोग मल्लिकार्जुन के लिये हुआ होगा। यदि रोनों की दिशा में मल्लिकार्जुन की भाव तो अच्छा
रहता है, यदि वसुसे विपरीत दिशा में मल्लिकार्जुन की भाव वा ठीक नहीं रहता। इसी लिये
सम्भवतः अनुत्तान मल्लिकार्जुन का प्रयोग होता रहा होगा। बाद में अनुत्तान शब्द का प्रयोग

ध्वन्यालोकः

तथा—कुविभावो पसवाभो भोरणमुहीओ विहसनाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअभं हरन्ति उच्छित्त महिबाओ ॥

उसी प्रकार :—

‘स्वैरिणो महिहार’ चहे कुविउ हो चाहे प्रसन्न हो चाहे रो रही हो चाहे हँस रही हो,
जिस रूप में ऊँचे प्ररण करी उसी रूप में हृदय को हर लेती है ।’

तथा—

अज्जापँ पहाओ जवज्जादाए दिण्णो पिण्ण घणवहे ।
मिउओ वि दूमहो विअज्जाओ हिअए सबत्तणिम् ॥
[नार्यायाः प्रहारो नवस्रतया दसः प्रियेख स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपर्यायान् ॥ इतिष्ठाया]

तथा—

परापँ यः पीडामनुभवति महेऽपि मधुरो
यदायः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यमिनत ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स नृशमक्षेत्रप ततो
किमिक्षोदोषोऽमी न पुनरगुणाया मरभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवति शब्दः न चैवविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

‘प्रियठन ने अदानी नरणा पलो के स्तनो पर वसकी नवस्रता के कारण एक हलका सा
महार प्रदान किया । वह महार कोनल होते हुए भी सपत्नियों के हृदय में बरहनीय सा
सर्वांग होने लगा ।’

पांचवीं उदाहरण—

‘जो शत्रु दूसरे के लिये पीडा का अनुभव करता है, जो पीडे जाने पर भी मधुर हो रहता
है, जिसका विकार भी सभी को अभीष्ट होता है, यदि इस प्रकार का शत्रु निदान्त दूषित क्षेत्र
में पस्कर बंद न सका तो क्या यह शत्रु का दोष है ? क्या यह गुणहीन मस्मूनि का दोष
नहीं है ?’

यहाँ पर शत्रु पक्ष में ‘अनुभवति’ शब्द (में उल्लेख होती है किन्तु ध्वनि नहीं ।) इस
प्रकार का प्रयोग ध्वनि का विषय क्या हो ही नहीं सकता ।

लोचनम्

कुपिता प्रसन्ना अवसदितवदना विहसन्त्याः ।

यथागृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

‘कुपित, प्रसन्न, रोउं हुये मुसवालो, विहंसतीं हुं जैसे भी महसूस को जावे जैसे स्वैरिणी
महिलाये हृदय को हर लेती है ।’

तारावर्ती

किसी शब्द का अपने बाधित अर्थ में प्रयोग प्रारम्भ होता है तब उसमें दो नहीं तीनों शब्दों विद्यमान होते हैं। किन्तु परम्पराप्रवाह में जब लोग उसका अतिशय से प्रयोग करने लगे हैं तब उसमें किसी भी शब्द की प्रतीति नहीं होती। अब कोई व्यक्त व्याख्यान में 'कुशल' इस शब्द का प्रयोग करता है तथा साधारण श्रोता को न तो इस बात का हा आभास होता है कि 'व्याख्या में कुशल का उदाहरण का क्या अर्थ?' मन बाधित होकर यह शब्द निरूपण अर्थ का प्रत्यापन करता है, विशेषकर रूप साधर्म्य ही लक्षणा का बीज है और 'असत्य के रस से राहत सत्य के ग्रहण का प्रत्यापन कराना' प्रयोग है। इन बातों पर विना हा ध्यान दिये श्रोता 'कुशल' का निरूपण अर्थ एकदम समझ जाता है। अभिधा से इसमें नेद यह है कि अभिधा में संकेतक माध्यम से किसी अर्थ में शब्द का प्रवृत्ति होती है और निरूद्ध लक्षणा में सर्वप्रथम बाधित होकर उल्लिखित वृत्ति से ही प्रवृत्ति जाती है, बाद में वह शब्द अभिधावत् जैसा बन जाता है। काव्यप्रकाशकार ने 'कुशलप्रवृत्तिसंज्ञायां' मूल प्रवृत्ति को लेकर कहा है और अभिनव गुप्त ने बाधकाल में बाध इत्यादि के प्रतिसन्धान न होने की बात लेकर 'दोनों शब्दों लागू नहीं होती' यह कहा है। अतः दोनों में कोई विराय नहीं।

(प्रश्न) कभी-कभी कवि लोग चमत्कार का आधान करने के मन्तव्य से रूपकालेय इत्यादि की योजना के लिये निरूद्ध लक्षणा के मूल अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। (इस विषय में लोचन में जिस प्राकृत गायिका का उदाहरण दिया गया है वह विशुद्ध स्पष्ट नहीं है और न उसकी संस्कृतच्छाया का ही पता चलता है। अतः विहारी का यह दोहा इसका अच्छा उदाहरण है—'सगुण सलोने रूप की जुन चरत तथा बुझार।' नमकीन पानी को कितना ही पीने चले जाओ उससे प्यास शान्त होती ही नहीं। रूप भी नमकीन है, अतः उसको पीने में नेत्रों की प्यास बुझती ही नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर नमकीन (लावण्ययुक्त) अग्ने निरूद्ध लक्षणा के रूप में ही नहीं लिया गया है किन्तु चमत्कार उत्पादन के लिये कवि ने उसके मूल अर्थ की ओर संकेत किया है।) ऐसे स्थान पर निरूद्ध लक्षणा में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती ही है फिर यह कैसे कह सकते हैं कि निरूद्ध लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। (उत्तर) यह सच है कि यहाँ पर निरूद्ध लक्षणा में ही व्यंग्यार्थ उल्लिखित है, किन्तु वह केवल लावण्य (नमकीन) शब्द से ही अवगत नहीं होता किन्तु सम्पूर्ण पारशर्य प्रतीति के बाद व्यंग्यताव्यापार से वह अर्थ आता है। यहाँ पर नेत्रों की प्यास न बुझने से ही नमकीन शब्द के मूल अर्थ का ओर संकेत होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि निरूद्ध लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता। अब इस विषय को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इसी लिये मूल में कहा है कि 'कहीं कहीं सम्भव होते हुए भी धानिव्यवहार प्रकारान्तर से प्रवृत्त होता है।' आन्वय यह है कि लक्षणावृत्ति के आधार पर लावण्य इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ही उस प्रकार की व्यञ्जना नहीं निकल सकती ॥ १६ ॥

ध्वन्यालोक

यत् —

उक्त्यन्तरेशक्य यत्तच्छास्त्रव प्रकाशयन् ।

शब्दव्यञ्जकतां विद्मद्भवन्मुक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचास्त्रवन्व्यक्तिहत्तु शब्द ।

(अनु०) इसमें कारण यह है —

ध्वनि की वक्ति का विषय नहीं शब्द हो सकता है जो व्यञ्जनावृत्ति का आशय लेकर ऐसी चास्ता प्रकाशित करे जो कि व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न किसी अन्य उपाय से प्रकाशित हो न की जा सके ॥१५॥'

यहाँ पर उदाहरण दिये हुये विषय में जिस शब्द में लक्षणा है वह किसी ऐसी रमणीयता की अभिव्यक्ति में हेतु नहीं होता जो अन्य शब्द से व्यक्त न की जा सके ।

तारावती

प्रसङ्ग में उसको नबलता तथा कोमलता का विचार करते हुए बहुत ही कोमल प्रहार किया जा, किन्तु फिर भी जिन सौतों ने इस सौभाग्य सूचक क्रीडा-सविधान को प्राप्त नहीं कर पाया उनके लिये वह कोमल भी प्रहार असह्य हो गया । क्योंकि कोमल प्रहार या (कोमल प्रहार प्रेम का सूचक था । यदि शिवतन ने जोर से मारा होता तो शायद सौते प्रसन्न हो जातीं ।) यहाँ पर अन्य के कोमल प्रहार किया गया था और अन्य पर उसका प्रभाव पडा, यह असङ्गति अलङ्कार है । यह आश्चर्य की बात है कि प्रहार कोमल किया गया था और ही असह्य गया, यह विरोधाभास है । दान किसी वस्तु का किया जाता है, प्रहार का दान करना असम्भव है । अतः प्रहार प्रदान किया का लक्ष्याय है 'प्रहार किया' । लक्ष्या का प्रयोजन है— 'सफल प्रहार किया ।' 'प्रहार प्रदान किया' इन शब्दों में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो 'सफल प्रहार किया' इन शब्दों में नहीं आ पाती ।

पौचवी उदाहरण अमस्तुतप्रशसा या अन्योक्ति का है । 'इष्टु इतना गुणवान् होते हुये भी मरुमूर्ति में शक्ति को प्राप्त नहीं हो सका' यह अमस्तुत है, इससे अस्तुत अर्थ निकलता है— 'यदि महापुरुष किसी बुरे स्थान पर पहुँच कर उन्नति न कर सके तो इसमें महापुरुष का क्या दोष ! इसमें तो उस स्थान का ही दोष है । यहाँ पर 'अनुभवति' शब्द लक्षक है । अनुभव करना चेतन धर्म है । गन्ना कभी अनुभव नहीं कर सकता । अतः उसका लक्ष्यार्थ होता है— 'गन्ना पीसा जाता है ।' यहाँपर 'पीसा का अनुभव करता है' इस कथन में ऐसी काह चास्ता नहीं जो पीसा जाता है' कहने में न हो । यद्यपि अस्तुत महापुरुष के दृष्टिकोण से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है तथापि अब कि अमस्तुत इष्टु की प्रशंसा की जाती है तब पीसा के अनुभव के साथ इष्टु के अन्वय की असम्भवता स्पष्ट ही है । उससे पीसावान् में लक्षणा होती है और उसका पृथक्स्थान पीसे जाने में जाता है ।

(मरन) अब कि यहाँपर प्रयोजन विषयान है । तब ध्वनि क्या नहीं मानी जाती ।

लोचनम्

मुख्यं वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परित्यज्य गुणवृत्त्या लक्षणारूप-
याऽयंस्थानुद्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्कल कर्मभूत प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते,
तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः । न चासी लक्षणैव; यतः स्वलक्ष्णी
बाधरूप्यापारेण विपुर्त्तक्रियमाणा गतिरवबोधनेशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो
व्यापारो लक्षणा । न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः । तथाभावे
तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनावस्थानात् । तेनार्थं लक्षणाया

मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाव्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणा रूप
में स्थित गोणावृत्ति से अमुख्य अर्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यायन, वह जिस फल अर्थात्
कारणरूप में स्थित प्रयोजन के उद्देश्य से किया जाता है उस प्रयोजन में तो (कोई)
अन्य व्यापार होता है । यह लक्षणा तो नहीं ही होती क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात्
अवबोधन शक्ति स्वच्छिन्न हामवाली अर्थात् बाधक व्यापार से विपुर्त्त को जानेवाली हो उसके
व्यापार को लक्षणा कहते हैं ? प्रयोजन का भ्रमग्रस्त करानेवाले शब्द का बाधक योग नहीं
होता । स्वीकृि ऐसा होनेपर वही पर भी दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से
अनवरथा हो जावेगा । भाव यह है कि रखे यह लक्षणा का विषय नहीं होता ।

वारायती

है । लक्षण धर्म होता है और लक्ष्य धर्म होता है । लक्षण-लक्ष्यभाव अभी बन सकता है जब
कि दोनों का एक विषय हो । जिनका विषय भिन्न होता है उनका धर्म धर्मों भाव बन ही नहीं
सकता । अब लक्षणा और ध्वनि को ले लीजिए । लक्षणा का विषय होता है अमुख्य अर्थ,
(जैसे 'गङ्गाया घोषः') में लक्षणा का विषय है अमुख्य अर्थ गङ्गातट) इसके प्रतिकूल ध्वनि
(शब्दवत्ता) का विषय है लक्षणा का प्रयोजन (जैसे 'गङ्गाया घोषः' में शैल्य पावनत्व इत्यादि)
इस प्रकार विषयभेद होने के कारण न इनका लक्षणलक्षणभाव बन सकता है न धर्मधर्मभाव ।
(प्रश्न) यहाँ पर दो लक्षणान्व्यापार मानकर काम चल सकता है । प्रथम व्यापार के द्वारा
टट में लक्षणा हा और द्वितीय व्यापार के द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जावे । इस प्रकार दो
लक्षणान्व्यापारों को मानकर काम चल जावेगा, धृदक् स्वधत्ता तथा ध्वननव्यापार को मानने
को क्या आशयकता रह जावेगी ? (उत्तर) दो लक्षणान्व्यापार नहीं माने जा सकते क्योंकि
लक्षणा की सामग्री दिव्य शर उरस्थित नहीं है । इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका (१७
नी कारिका) लिखी गई है । इसका व्याख्य यह है—शब्द की मुख्यवृत्ति अथवा प्रधान
व्यापार अभिधाव्यापार ही है । लक्षणा करने में उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाता
है और गोणावृत्ति से जिनका कि दूरात नाम लक्षणा है, अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है ।
इस लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है वह अर्थ भी मुख्य नहीं किन्तु
अमुख्य (गौण) ही होता है । वह लक्षणा जिस फल अथवा प्रयोजन को लेकर की जाती है

शारावती

'शब्दत्रेऽनेन' जिसके द्वारा प्रकथन किया जावे अर्थात् शब्द (३) 'शब्दन शब्द.' अर्थात् व्यापार (४) 'शब्दत्रे' जो व्यक्त किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ (५) इन सबका समुदाय । ये सब तमो ध्वनि का स्वरूप धारण करते हैं अब कि अन्य प्रकार से उसकी रमणीयता वा अभिधान सम्भव न हो । 'ध्वनि वक्ति का विषय होता है', अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा पुकारा जाता है । 'उदाहरण लिये हुये विषय में' अर्थात् 'वदति' इत्यादि स्थानों पर ॥१५॥

यहाँ तक यह बात बतलाई गई कि जहाँ लक्षणा में प्रयोजन की अभिव्यक्ति होती तो है किन्तु सौन्दर्य के लिये उसका उपयोग न होने के कारण वह अभिव्यक्ति व्यर्थ हो जाती है । अब यह बात बतलाई जा रही है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ लक्षणा होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं । (सारांश यह है कि लक्षणा दो प्रकार का होती है—निरूपा तथा प्रयोजनवती । निरूपा लक्षणा उसे कहते हैं जो कि प्रयोग परम्परा के कारण अपने मूल अर्थ को सर्वथा छानकर एक शब्द बन जाती है । पहले-पहल किसी व्यक्ति ने किन्ता विशेष प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग किया । बाद में उसी के अनुकरण पर दूसरे लोगों ने बिना उस प्रयोजन पर ध्यान दिये उस शब्द का उही रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार परम्परा चल पड़ी । धीरे धीरे उस शब्द का मूल अर्थ भिरीहित हो गया और वह शब्द दूसरे अर्थ में एक जैसा बन गया । उदाहरण के लिये कुशल शब्द की लीकिये । कुशल शब्द का मूल अर्थ है कुशां को बिननेवाला । बहुतेर कुशां को बानने में एक प्रकार की निपुणता अपेक्षित होती है । कुशां के आस पास और बहुत से वृष उग आते हैं । अतः कुशां के उपादान में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कुशां के साथ और पास सम्मिश्रित न हो जाव । इसी भाँधा पर किन्तो ने कुशल शब्द का प्रयोग निपुण के अर्थ में कर दिया । बाद में लोग उसी अनुकरण पर सामान्यतया निपुण के अर्थ में कुशल शब्द का प्रयोग करने लगे । यह प्रयोग रचना बड़ा कि मूल अर्थ छूट गया और कुशल शब्द निपुण के अर्थ में सामान्यतया एक हो गया । इस प्रकार प्रयोग-परम्परा के कारण जो शब्द अर्थान्तर में एक हो गये हैं और किन्को मुनकर मूल अर्थ को प्रतीति नहीं होता उन्हें निरूपा लक्षणा कहते हैं । इनसे भिन्न जो लक्षणाये होती हैं उनमें अर्थान्तर में शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को हेतु होता है । उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यङ्ग्यतावृत्ति का आशय रचना पड़ता है । यह व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो ऐसा होता है कि यदि उसका अभिधान दूसरे शब्द के द्वारा किया जावे तो वह सुन्दरता नहीं आती जो लक्षणा-मूलक विशेष शब्द के प्रयोग से आती है । दूसरा ऐसा होता है कि उसका अभिधान दूसरे शब्द से करने पर भी रमणीयता में कोई अन्तर नहीं आता । ध्वनि का श्रेष्ठ प्रथम प्रकार की ही प्रयोजन-वती लक्षणा है द्वितीय प्रकार की नहीं । क्योंकि ध्वनि के लिये यह अनिवार्य है कि रमणीयता का पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ में हो ही । विठले वृत्त में कई उदाहरणों के द्वारा ऐसे रमण दिखलाये जा चुके हैं जहाँ लक्षणा तो होती है किन्तु दूसरे शब्दों से भी कहे जाने को वाक्यत्रा रचने के कारण ध्वनि नहीं होता । अब निरूपा लक्षणा पर विचार किया जा रहा है जिसमें प्रयोजन

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चाख्यातिशयविशिष्टाधंप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्द-
स्यामुक्तता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टत्व स्यात् । न चैवम् ।

(अनु०) प्रयोजन का लक्षण है ऐसे अर्थ को प्रकाशित करना जिसमें सौन्दर्य को विशेष
रूप से अभिप्राय हो । यदि उसके बहुत करने में शब्द को मुख्यवृत्ति का आग्रह लिया जावे
तो उपर्युक्त प्रयोग ही दूषित हो जावे । किन्तु ऐसा होना नहीं ।

श्लोचनम्

न विषय इति भावः । दर्शनमिति प्यन्तो निर्देशः । कर्तव्य इति । अग्रगमयितव्य
इत्यर्थः । अमुक्यतेति । बध्नेन त्रिपुरीकृतस्यार्थः । तस्येति शब्दस्य ।
दुष्टत्वमेति । प्रयोजनावगमस्य सुरसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्-
मुक्तार्थे । यदि च 'सिंहो बटुः' इति शौचातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्तल्लङ्गा-
तिस्यं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीति नैव कुर्वाणिति किमर्थं तस्य प्रयोगः ? उपचारेण
कश्चिद्वर्तमानि चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्य तत्राप्युपचार इत्यनवस्था । अथ न
तत्र स्तल्लङ्गातिः तर्हि प्रयोजनेऽग्रगमयितव्ये न लक्षणादपो व्यापारः तस्या-
मप्यभावात् । न च नास्ति व्यापारः । न चासावभिधा समसस्य तस्याभावात् ।
यद्व्यापाराभारमभिधालक्षणातिरिक्तं स प्यननव्यापारः । न चैवमिति । न च
'दर्शनम्' मे निबन्ध निर्देश है । कर्तव्य इति । अर्थात् अग्रग काश्र आता चाहिये ।
अमुक्यता इति । अर्थात् बाधक के द्वारा शिथिल किया जाना । 'तस्य' का अर्थ है शब्द का ।
दुष्टत्व इति । प्रयोजन के अग्रगमन की सुविधापूर्वक निष्पत्ति के लिये उस अमुक्य अर्थ में
शब्द का प्रयोग किया जाना है । यदि 'सिंहो बटुः' में सिंह के अग्रगमन कराये जाने का
लक्ष्य होनेपर शब्द को गति का स्थलन हो जावे तो उस प्रतीति को उपश्र नहीं करेगा कि
उसका प्रयोग ही किमलिये (किया गया) ? उपचार (अमुक्य वृत्त लक्षणा) के द्वारा का
देगा तो बहोर भी दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण करना पड़ेगा; बहोर भी उपचार (मानना
होगा) यह अनवस्था आ जायेगा । यदि बहोर गति का स्थलन न माना जावे तो प्रयोजन
का अग्रगमन कराने में लक्षणा नामक व्यापार नहीं होगा क्योंकि उसकी सामग्री नहीं है ।
यह बात नहीं है कि बहोर (कोई) व्यापार न हो । वह अभिधा है नहीं क्योंकि बहोर संकेत
नहीं है । लक्षणा और अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है बहोर प्रननव्यापार है । न चैव-

शारावती

अतः त सरी शर्त भा शरती रहो । एक बात और है—यदि कोई प्रयोजन दूँ भी निकाला
जावे तो उसके प्रयावन के लिये भा बहोर सब सामग्री जुटानो पड़ेगी । किं उसने भी तोसरी
शर्त प्रयोजन की हागी जिसके लिये पुनः सामग्री जुटानो पड़ेगी । बहोर अनवस्था दोष है
जिसके कारण मूल रूप में ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है । इससे यह
सिद्ध हुआ कि प्रयोजनप्रतिरिक्त लक्षणा-लक्षणा का विषय नहीं है । (लक्षणा दो प्रकार का

ध्वन्यालोक.

तेषु चापचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये ध्वनिव्यवहार प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

इन शब्दों में शब्द की उपररितवृत्ति (लक्षणावृत्ति) होना ही है । इस प्रकार के विषय में कहीं कहीं मूल अर्थ सम्भ्रम होते हुये भी उनमें ध्वनि-व्यवहार दूसरे रूप में प्रवृत्त हुआ है । उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचनम्

ननु 'द्वन्द्वित्ति लुणादि पलुश्रमिगमिज्वाकवणुश्रयञ्ज गुमरिफोऽह परण्य (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतापमानामिस्थानि, सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दान् । अपिपु समग्रवाक्यार्थप्रताप्यनन्तर ध्वननभ्यापारादव । अत्र हि मियतमामुत्स्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्व ध्वन्यत इत्यल बहुना । तदाह— प्रकारान्तरेणिति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादिस्थर्थ ॥१६॥

(मधुन) 'द्वन्द्वित्ति लुणाह पलुश्रमि गमिज्वाकवणुश्रयञ्ज गुमरिफोऽह परण्य' इत्यादि में लावण्य इत्यादि के सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है । (उच्यते) सन ही किन्तु वह लावण्य शब्द से नहीं होनी अपिपु समग्र वाक्यार्थ का प्रतापिक बाद ध्वननभ्यापार से ही होती है । वहीर निस्तन्द मियतमामुत्स्य का ही समस्त दिशाओं का प्रकाशकत्व ध्वनित होगा है । वम, बहुत की क्या आवश्यकता ? वह कहत है—प्रकारान्तरेण इत्यादि । अर्थात् व्यञ्जकत्व के द्वारा ही । उपररित लावण्य इत्यादि शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं ।

तारावती

हो 'अनुकूल दिशा में' इस अर्थ में होने लगा । इसी प्रकार प्रतिकूल शब्द का मुख्य अर्थ है कूल अर्थात् तट की दूसरी ओर । पहले यह शब्द नदी की धारा के लिये प्रयुक्त हुआ होगा कि नदी का धारा 'प्रतिकूल' अर्थात् तट की दूसरी ओर है । किन्तु बाद में सभी विपरीत दिशा की वस्तुओं के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा । इसी प्रकार साथी अर्थात् एक गुण के पास पड़नेवाले दो ब्रह्मचारियों की सन्नध्याचारी कहते होंगे बाद में इस शब्द का प्रयोग किसी भी समान गुण रखनेवाले व्यक्ति के लिये होने लगा । (इसी प्रकार कुण्डल, मण्डप इत्यादि शब्दों के विषय में समझना चाहिये ।)

लोचनकार ने लिखा था कि निरुद्धा लक्षणा में लक्षणा की तीनों शर्तें लागू नहीं होतीं । इस पर श्रीमहादेव शास्त्री ने लिखा है—'वरतुत निरुद्धा लक्षणा स्थल पर भी मुख्यावस्था और मुख्यावस्था वग की अपन्ना होती हो है, केवल प्रयोजन अपन्ना नहीं होता । नहीं तो लक्षणा का अर्थ ही नहीं हो सता और अभिप्राय से भेद तथा [रह जायगा] इसीलिये निरुद्धा लक्षणा क उदाहरण 'वनजि कुण्डल' इत्यादि में काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'कुण्डलमण्डप इत्यादि के अर्थ का प्रयोग न होने के कारण ।' यह बतकि तथा सन्नत होती है जब कि निरुद्धा लक्षणा में मुख्यावस्था और मुख्यावस्था अपन्ना हो ।' मेरा निवेदन है कि जब

ध्वन्यालोक.

तस्मात्--

वाचकत्वाद्येणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।

व्यञ्जकार्थकमूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम् ॥ १८ ॥

(अनु०) अतएव—गुणवृत्ति । गौणोवृत्ति तथा लक्षण) वाचकत्व का आशय लेकर ही व्यवस्थित होती है । अतएव वह (उक्त) ध्वनि का लक्षण वैसे हो सकती है जिसका एकमात्र मूल व्यवस्था ही होती है ॥ १८ ॥

लोचनम्

उपसहरति—तस्मादिति । यतोऽभिधापुञ्जभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाभ्यापारमाश्रिता तद्वाधननोऽयानात्तत्पुञ्जभूतत्वाच्च गुणवृत्ति गौण-आक्षिपिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्न-विषयत्वादिति ।

उपसहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि लक्षणा अभिधा-पुञ्जभूता ही होती है इस हेतु से उसके बाधन से उठने के कारण और उसकी पुञ्जभूता होने के कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाभ्यापार का सहारा लेनेवाली गुणवृत्ति अर्थात् गौण आक्षिपिक (नामक) प्रकार । वह किस प्रकार व्यवनात्मक ध्वनि का लक्षण होगा ? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है ।

तारावती

यदि को कि प्रयोजन के प्रत्यायन में शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती तो मानना पड़ेगा कि प्रयोजन के अग्रगम में लक्षणा नामक व्यापार होता ही नहीं क्योंकि उसकी सामग्री तो रही हो नहीं यह तो आप कह ही नहीं सकते कि वहाँ पर कोई व्यापार होता ही नहीं । वहाँ व्यापार होता है । वह व्यापार 'अभिधा' नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजन में संकेतग्रहण नहीं हुआ है । (कोस प्रश्नों में गङ्गा का अर्थ शीतल और पावन लिखा नहीं होता । अतएव प्रयोजनप्रत्यय के लिये कोई दूसरा व्यापार ही मानना पड़ेगा ।) अभिधा और लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वन्यव्यापार कहा जाता है । वृत्ति में कहा गया है—'यह बात वहाँ नहीं होती' इस वाक्य का आशय है कि आक्षिपिक शब्द के प्रयोग में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति किसी भी विषय से रहित तत्काल हो जाती है । इसका अभिधाय यह है कि अब अभिधा मुख्य अर्थ में प्रविष्ट होने लगती है तब वाचक आकर उसे रोक देता है । अब चूँकि अभिधा चरितार्थ हो नहीं पाती अतएव वही दूसरे अर्थ (अनुल्य अर्थ) में बट जाती है । आशय यह है कि लक्ष्यार्थ भी अभिधा का अनुस्यार्थ ही है, इसलिये लक्ष्यार्थ के लिये लग कहा करत है कि यह इसका अनुस्यार्थ है । इसी प्रकार अनुस्य रूप में संकेत ग्रहण भी वहाँ पर माना जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर बसा करता है ॥१७॥

ध्वन्यालोकः

अपि च—

सुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्फुल्लङ्गातः ॥ १७ ॥

(अनु०) और भी—

‘मुख्य (अभिधा) वृत्ति को छोड़कर गौणी (लक्षणा) वृत्ति से जिस फल की अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यापन किया जाता है उस फल को धोतित करने में शब्द की गति फल-लित नहीं होती।’

लोचनम्

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावद्वास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्ति-लक्षणं तदा भक्तिसिद्धिर्धौ सर्वत्र ध्वनिभ्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि व्रमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाभ्यापारो न तद्विषयो ध्वननभ्यापारः । न च मिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः । धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावद्सुख्यार्थविषयो स्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाभ्यापारो युक्तः लक्षणसामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति होती है वहाँ-वहाँ ध्वनि होती है यह तो सही है। उससे यदि भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो भक्ति के निकट सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जावेगा। इससे अतिव्याप्ति होगी। श्लोकार करके भी हम कहते हैं—‘हो, जहाँ-जहाँ भक्ति वहाँ वहाँ ध्वनि।’ तथापि यद्विषयक लक्षणाभ्यापार होता है तद्विषयक ध्वनि-भ्यापार नहीं होता। विभिन्न विषयवाले दो पदार्थों का धर्मधर्मो भेद नहीं होता। और धर्म ही लक्षण (होता है) यह कहा जाता है। उसमें लक्षणा तो अनुस्वार्थविषयक भ्यापार होता है और ध्वनन प्रयोजन-विषयक होता है। उसके विषय में भी दूसरा लक्षणभ्यापार तो उचित नहीं है क्योंकि लक्षण की सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं—अपि च इत्यादि।

सारावली

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जहाँ-जहाँ लक्षणा हो वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। अतएव यदि लक्षणा के द्वारा ध्वनि पहिचानी जाती है तो जहाँ-जहाँ लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि का व्यवहार होने लगेगा, यह अतिव्याप्ति दोष होगा। अतएव हम योही दोष के लिये यह श्लोकार किये लेते हैं कि जहाँ-जहाँ लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि अवश्य होगी है। तथापि हमें यह कहना है कि लक्षणाभ्यापार का जो विषय होता है ध्वनिभ्यापार का वही विषय नहीं होता। लक्षण उसे ही कहते हैं जो जिसमें नियमित रूप से रहता है। (जैसे गन्धरत्न नियमित रूप से पृथिवी के अन्दर रहता है अतः गन्धरत्न पृथिवी का लक्षण है।) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असाधारण धर्म को ही लक्षण करते

साक्षात्कृतौ

[वही पर 'लक्षण ही ध्वनि का लक्षण मान सकते हैं या नहीं' इस प्रश्न पर विचार किया गया है लक्षण का अर्थ है लक्षण रूपात्ता या पहिचान कर्ता। उदाहरण के लिये किमा क यह पुछन पर 'गाय केवां होती है ? हम उसे गाय को एक ऐसा विशेषता बतला दें जिससे वह गाय को ठकड़ा पहिचान ले। उसी विशेषता को लक्षण कहते हैं, गाय का लक्षण भी अनिर्वाचन, ऐसा ही जाना चाहिये जो ममा गावों में लागू हो जाय तथा गाय से भिन्न किना अन्य वस्तु में लागू न हो। तथा लक्षण का पूर्णता कही जायगी। यदि गाय का लक्षण किना जाय और वह भेस में मा लागू हो जाय तो वह लक्षण का दोष होगा और वह लक्षण अनुद्ध करा जायेगा, इस लक्षण दोष का अनिर्वाचन करते हैं। यह कि वह लक्षण का लक्षण से अधिक में व्याप्त हो जाना है। जैसे—यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जिसके चार टांगे ही उसे गाय कहते हैं।' यह लक्षण अनिर्वाचन है यह कि वह गाय में भिन्न घोडा गवा भेस इत्यादि में मा लागू हो जाता है। इस प्रकार यदि गाय का ऐसा लक्षण बनाया जाय जो अन्य गावों में तो लागू हो जाय और बाकी गावों में लागू हो न हो तो लक्षण को अन्यात लक्षण कहेंगे। जैसे यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जो साम्नादिमान् द्वेत्त वस्तु हो उसे गाय कहा दें' यह लक्षण काटा गावों में लागेगा ही नहीं। अतः यह अन्यात लक्षण है। अन्यात लक्षण भी अनुद्ध माना जाता है। इस प्रकार अन्वयति और अन्याति य दो लक्षण-दोष होते हैं। यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और वह ऐसे स्थान पर भी लागू हो जाये जिसे ध्वनि न माना जा सके तो उस लक्षण को अनिर्वाचन कहेंगे। 'लक्षण ही ध्वनि का लक्षण है' इस लक्षण में पिछले मकलप में विस्तारपूर्वक अनिर्वाचन दोष दिखलाया जा चुका है। (इसके विचार के लिये देखो १४ वीं तथा १५ वीं कारिकाओं का व्याख्यान।) यह अन्याति का लक्षण—यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और ध्वनि के ही कुछ मार्गों में पथ्य न हो तो वह लक्षण का अन्याति होगी। परन्तु मकलप में यही अन्याति दिखलाया जा रही है।]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया था कि 'अनिर्वाचन तथा अन्याति के कारण गुणवृत्ति या लक्षण ध्वनि को लक्षण नहीं करती।' इसको अनिर्वाचन का ता यह ले व्याख्या की जा चुका, अब अन्याति का व्याख्या की जा रही है। 'इस लक्षण में अन्याति दोष भौं है' वृत्ति क इस वाक्य में 'इस' शब्द का अर्थ है—'गुणवृत्तिरूप लक्षण में' गुणवृत्ति को लक्षण मानने में तभी अन्याति दोष नहीं हो सकता जब कि वही कही ध्वनि हो वही सर्वत्र लक्षणा या गुणवृत्ति अथवा विद्यमान हो। किन्तु ऐसा होता नहीं है। [ध्वनि के कुछ भेदों में तो गुणवृत्ति रहती है और कुछ में नहीं रहता। पहले ध्वनि के भेद किये गये थे अन्वि-विश्रुतग्राह्य या लक्षणानुद्धक ध्वनि और विश्रुतग्राह्यरवाच्य या अनिर्वाचक ध्वनि] इनमें अन्विश्रुतग्राह्य में तो लक्षण ही होती है जिसके उदाहरण 'श्रुतपुष्पां पृथीम्' इत्यादि हो

तारावती

सप्त प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये किमी अन्य वृत्ति को न मानना अनिवार्य है । (कारिका में फल शब्द में कर्म का प्रयोग किया गया है । वैय्याकरणों के मत के अनुसार धातु के दो भव्य हात हैं—फल तथा व्यापार । जैसे लकड़ा काटना एक क्रिया है, इसमें हाथ से कुल्हाड़ी उठा कर लकड़ी पर मारना व्यापार है, और लकड़ी के दो टुकड़े हो जाना फल है । जिसके अन्दर व्यापार रहता है उसे कर्ता कहते हैं और जिसके अन्दर फल रहता है उसे कर्म करते हैं । प्रायेण व्यापार का कोई न कोई फल अवश्य होगा है । लक्षणा भी एक व्यापार है इनका भी फल होना चाहिये । अब मग्न यह है कि उन फल अथवा प्रयोजन क प्रत्यायन के लिये कौन सा व्यापार माना जाना चाहिये ? क्या वह भी लक्षणा ही है ?) यह लक्षणा नहीं हो सकती। क्योंकि लक्षणा वही पर हाती है जहाँ शब्द की गति स्थित हो जावे अर्थात् जहाँ शब्द की अवबोधनशक्ति किसी बाधक व्यापार के द्वारा कुण्ठित कर दी जावे । (जैसे प्रवाह में धर बन सकने की अवबोधनशक्ति के कारण जब शब्द की गति कुण्ठित हो जाती है तब उससे दूसरा अर्थ लिया जाता है ।) किन्तु जब शब्द प्रयोजन का अवबोधन कराने लक्षणा है, तब उसमें शब्द की अवबोधनशक्ति कुण्ठित नहीं होनी । (जैसे 'गङ्गा तट पर घर' यह कटने में शब्द की शक्ति बाधित नहीं होनी । यदि प्रयोजन के प्रत्यायन में भी बाधक बाध तथा लक्षणाव्यापार माना जावेगा तो लक्षणाव्यापार को सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे प्रथम बार लक्षणा के लिए कोई सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक प्रयोजन माना जाता है । उसी प्रकार प्रयोजन की अवगति के लिये भी कोई नया सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा । इससे अनवरत दोष होगा । (आशय यह है कि लक्षणा की तीन शक्तें होती हैं—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थ सम्बन्ध और (३) रूढ़ि अथवा कोम प्रयोजन । यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये हम लक्षणा का सहारा लेंगे तो लक्षणा की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य में लक्षणा की तीनों शक्तें विद्यमान हैं—(१) प्रवाह में घर नहीं बन सकता इससे गङ्गा के मुख्य अर्थ प्रवाह का बाध हो जाता है । (२) तट का गङ्गा से सम्बन्ध है इससे गङ्गा शब्द से तट अर्थ छे लिया जाता है । (३) गङ्गा तट के स्थान पर 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग गङ्गागत शैल्य पावनत्व की प्रतीति के लिये किया गया है । यही बाधित प्रयोग का प्रयोजन है । अब इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये हमें दूसरी बार लक्षणा करनी है । इसमें लक्षणा को कोई भी शक्ति नहीं मिलती (१) एक तो गङ्गा का 'गङ्गातट' अर्थ मुख्य नहीं है, दूसरे 'गङ्गा तट पर घर' यह वाक्य अतम्भ नही है, जिससे उसका बाध हो जावे । अतः पहली शक्ति समाप्त हो गई । (२) जिस प्रकार प्रवाह और तट का सम्बन्ध है तट तथा शैल्य पावनत्व का नहीं है । तट की अपेक्षा तो प्रवाह में ही अधिक शक्ति और शक्तिवत्ता होती है । अतः कोई ऐसा निमित्त दिखाया नहीं पड़ता जिससे दूसरी बार लक्षणा हो सके । (३) शक्ति व और पावनत्व से भिन्न और प्रयोजन क्या होगा जिसके लिये यह लक्षणा की जानी चाहिये ? स्पष्ट हो है कि ऐसा कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं है ।

वारावती

नहीं गया है। यह लक्षणा है। किन्तु आलङ्कारिकों को यह विभेद मान्य नहीं। उनका कहना है कि बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी विद्यमान है ही फिर इन दोनों वृत्तियों के भेद मानने की क्या आवश्यकता ? शब्द प्रयोग कान्ता को प्रेमा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है जो वृत्तिभेद का ही प्रयोजक हो जावे। गोमासकों के सिद्धान्त वा आरमभारु काने के लिये आलङ्कारिकों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं गौणी और शुद्ध। सादृश्य सम्बन्ध में गौणी लक्षणा हवी है तथा सादृश्यभिन्न सम्बन्ध में शुद्ध। गोणी लक्षणा में भी सर्वत्र शब्दों का प्रयोग नहीं होता। नहीं होता है वही वह रूपक का बीज बन जाता है अन्वय रूपकानिशाशोक्ति का बीज होता है। इसी मन्वन्ध से यहाँ पर कहा गया है कि लक्षणा गौणी का भी व्याप्त कर लेती है। अब यह दिखलाना जा रहा है कि गौणी स्थल पर एक दूसरे अर्थ को कहता किस प्रकार है ? तथा जब उस अर्थ का वाचक शब्द भी साथ में रखला होता है तब उससे उसकी प्रकृता कैसे बनती है ? यहाँ पर शब्द को तीन प्रकार को किया हो सकती है—(१) केवल लक्षक शब्द ही वाचक के अर्थ को लक्षित कराकर उसके साथ सामानाधिकार्य को प्राप्त हो जावे। (एक ही अर्थ को निम्न निम्न शब्दों द्वारा प्रकट करने को शब्दों का समानाधिकार्य कहा जाता है।) जैसे 'सिंहो वटु' इस वाक्य में (सिंह शब्द लक्षक है और वटु शब्द वाचक। सिंह शब्द 'वटु' का अर्थ बढ़कर वटु के साथ सामानाधिकार्य को प्राप्त हो जाता है।) (२) अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक शब्द के साथ दूसरे वाचक शब्द को समानाधिकार्य बना देता है (३) अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक साथ दूसरे शब्द और अर्थ को लक्षित करा कर उनके साथ मिल जाते हैं। यही शास्त्रिक का गौण से भेद है। जैसा कि कहा गया है— 'गौणी में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं।' (किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। गौणी में भी शब्द प्रयोग नहीं होता और लक्षणा में होता भी है। लक्षणा के दो भेद हैं सारोना और साध्यवसाना। सारोना रूपक अलङ्कार का बीज है इसमें लक्षक शब्द के साथ वाचक का भी प्रयोग होता है जैसे 'सिंहो वटु।' साध्यवसाना रूपकानिशाशोक्ति वा बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे बालक के लिये केवल सिंह शब्द का प्रयोग। वह तो गौणी को बतलाने है। सादृश्येतरसम्बन्ध अर्थात् लक्षणा के दूसरे भेदों में भी दोनों दशायाँ होती हैं। जैसे कार्यकारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्धनु' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि ही सानेशले शक्ति के लिये कई बहवहे कि यह आयु खा रहा है तो यह साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार दोनों स्थानों पर दोनों अवस्थाएँ हा सकती हैं। अब आलङ्कारिकों का ही मत ठीक है कि गौणी वा समावेश लक्षणा में ही होता है।) गौणीवृत्ति में भी लक्षणा होती ही है। अतएव (बाधित शब्द के प्रयोग में) सर्वत्र लक्षणा व्यापक ही होगी। वह लक्षणा (सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त) ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—(१)

बोद्धवम्

प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविधेनेव प्रतीते । तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे
वाधकेन प्रविष्टि सुनिश्चयमाना सर्वा अधरिर्गार्थत्वादन्यत्र प्रसरति । अत एव
अमुख्योऽस्यायमर्थ इति स्पष्टहार । तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रा
स्वात्मनिधापुच्छभूतैव सा ॥ १७ ॥

मिति । इस प्रकार के प्रयोग में कई दुष्टता नहीं ही हैं क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति बिना
विध्न के ही हो जाती है । इससे अभिधा ही मुख्य अर्थ में प्रवेश की इच्छा करते हुए वाधक
के द्वारा रोक दी हुई होकर चरितार्थ न होने से अर्थ प्रसरित होती है । इसलिये इसका यह
अर्थ अमुख्य है यह व्यवहार होता है । वही प्रकार अमुख्य रूप में वहाँपर सकेत ग्रहण भी
है इसीलिये लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर ही चलती है ॥ १७ ॥

सारावती

होती है उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा । उपादान लक्षणा बही होती है जहाँ लक्षणा
के साथ शब्दार्थ का भी परित्याग नहीं होता । इसे ही अजहल्लक्षणा लक्षणा कहते हैं । जहाँ
शब्दार्थ वा सर्वथा परित्याग कर लक्ष्यार्थ सबथा भिन्न रूप में लिया जाता है उसे लक्षणलक्षणा
या जहल्लक्षणा लक्षणा कहते हैं । 'गद्गार्य घोष' में उपादान लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँ पर
प्रकाह अर्थ का सबथा परित्याग हो जाता है । लक्षणलक्षणा का विषय भी घोष पावनर
इत्यादि नहीं अर्थात् तट ही है ।) कारिका में 'अवदशनम्' शब्द का प्रयोग किया गया है ।
इसमें दशन शब्द 'दुरा' धातु से निष्पन्न होकर लुट् प्रत्यय होने से बना है । अर्थात् इसका
आशय है अर्थ का दिखलाया जाना (देना जाना नहीं) सारांश यह है कि मुख्य वृत्ति को
छोड़कर जिस कल के उद्देश से गौणी वृत्ति के द्वारा अर्थ दिखलाया जाता है तबमें शब्द की
गति स्थिति नहीं जाती ।' वृत्ति में टिप्पणी है— यदि प्रयोजन करने में शब्द की अमुख्यता
हो तो उसके प्रयोग में दुष्टता आ जायेगी' इस वाक्य में 'करने में' शब्द का अर्थ है 'अव
गमन कराने में', 'अमुख्यता का अर्थ है वाधक के द्वारा कुण्ठित कर देना और 'उसके' का
अर्थ है शब्द के' । इस प्रकार उक्त वाक्य का आशय यह है— (मुख्य अर्थ को छोड़कर)
उस (तट इत्यादि) अमुख्य अर्थ में (गद्गार्य घोष) शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता
है जिससे प्रयोजन का अवगम सुविधापूर्वक हो जाये । (जैसे 'जहल्लक्षणा अयन्त वार है' यह
बहने के स्थान पर 'जहल्लक्षणा वार है' इस वाक्य का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि जिससे
शौचाधिक्य की अभिधा क्लृप्त हो जाय ।) यदि 'जहल्लक्षणा वार है' इस वाक्य के द्वारा शौचा
धिक्य की प्रतीति बनाने में शब्द की गति कुण्ठित हो जाय तो यह शब्द उस शौचाधिक्य की
मत उभरा ही नहीं सकेगा । तो उसका प्रयोग ही क्यों किया गया ? यदि बहो उसको
मठा त उपचार (लक्षणा) के द्वारा ही आयेगी तो उसके लिये भी कोई प्रयोजन हुँदना पड़ेगा,
अपने ही लक्षणा करनी पड़ेगी । (फिर तीसरी फिर चौथी इस प्रकार लक्षणाओं की लड़ी
सी लग जायेगी और उनको कहीं समाप्त ही न हो सकेगी ।) यह अनर्थवा दोष होगा ।

साधनम्

तथाहि—'सिद्धरिणि' इत्यत्राकस्मिन्प्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्या-
लक्षणासम्भवः । नन्वत्राज्ञावृत्तैव मध्य लक्षणा, कथं तद्युक्त विवक्षितान्यपत्तिः ?
तत्रेदादत्र मुख्योऽसल्लक्ष्यकमाना विवक्षितः । तत्रेदंशब्दन रसभावतदाभास-
तत्प्रसामभदास्तदज्ञान्तरभदाश्च, न च तेषु लक्षणाया उपपत्तिः । तथाहि—
विभावानुभावप्रतिपादक काव्य मुख्यार्थे तावद्राधकानुप्रवेशोऽप्यसम्भवः इति
का लक्षणावकाशः ?

वह इस प्रकार—'सिद्धरिणि' इसमें आकस्मिक प्रश्न विशेष इत्यादि बाधक का अनुप्रवेश
में सादृश्य से लक्षणा है ही । (प्रश्न) निमित्त-हृद्दहोपर मध्य में लक्षणा अज्ञावार ही कर
ली फिर इसे विवक्षितान्यपत्ति यह क्या कहा गया ? (उत्तर) यही पर उसका असल्लक्ष्य
कमाना मक मुख्य भद कहा जाता अभास है । तद्भद शब्द से रस भाव उनका आभास उनके
प्रसाम भद तथा उनके अवान्तर भद (आत है) उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं हो जाती ।
वह इस प्रकार—विभावानुभाव प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का अनुप्रवेश ही
असम्भव है फिर लक्षणा का क्या अवकाश !

तारावती

लक्षणा ही जाती है । (५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का
अपहरण करनेवाले के विषय में कहा वृह—'यह हमारे प्राण हर रहा है ।' (अन्न प्राण का
कारण है अतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण के अर्थ में कर दिया गया है ।
इस प्रकार इस बीच भदावाली लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है । वह इस प्रकार—पहले
विश्विगतान्यपरवाच्य का उदाहरण दिया गया था—'न जाने इस शुक शावक ने कितने दिनों
किस पर्वत पर कौन सी तपस्या की है जो इसे तुम्हारे अर्ध-दत्तन का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।'
इस उदाहरण में भी बाध उपस्थित होता है—क्योंकि नायक ने अकस्मात् यह प्रश्न क्यों कर
दिया यह समझ में नहीं आता । अतः विशेष प्रकार के प्रश्न के अकस्मात् किये जाने से
बाधक का अनुप्रवेश हो जाता है और अर्ध चुम्बन में विवक्षित तथा नायक का सादृश्य
हाने का कारण लक्षणा हो ही जाती है । (सिद्धान्ती) पिछले प्रकरण में मैंने इस उदाहरण
में मध्य में लक्षणा मान हा ली । (पूर्वपत्नी) फिर आप यहाँ पर एक दूसरा भेद विवक्षितान्यपर
वाच्य क्यों मानते हैं ? उसे लक्षणा मूलक विवक्षितवाच्य में ही क्यों सम्मिलित नहीं कर देते ?
(उत्तर) विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे— असल्लक्ष्यकमन्वद्भय रस इत्यादि
तथा उनके भेदों की ध्वनि तथा सल्लक्ष्यकमन्वद्भय वस्तु तथा अलङ्कार की ध्वनि । तथा
उसके 'भद' का अर्थ है—रस, भाव, रसभास, भावाभास और भावप्रदान (भावोदय,
भावशान्ति, भावसन्धि और भावशरन्त्रा) की ध्वनि तथा उनके अवान्तर भद । यह असल्ल-
क्ष्यकमन्वद्भय ही विवक्षितान्यपरवाच्य का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती ।
वह इस प्रकार—विभाव और अनुभाव इत्यादि प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक
का अनुप्रवेश असम्भव है । अतः लक्षणा का अवकाश ही यहाँ पर क्या हो सकता है ?

ध्वन्यालोक

तस्माद्भव्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्ति । अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य नहि
ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षण अन्ये च बहव प्रकारा मत्तया व्या-
प्यन्त । तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ।

(अनु०) अत्रय ध्वनि अन्य होता है तथा गुण वृत्ति और हातो है । इस लक्षण में
अव्याप्ति शय भी है विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का मद् तथा और बहुत से प्रकारों
में लक्षणा व्याप्त हाता हो नही । अत लक्षणा ध्वनि का लक्षण नही हो सकती ।

लोचनम्

एतदुपसहरति—तस्मादिति । यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तद्यमज्ञेन च मित्र-
विषयव तस्माद्दूतोरि यर्थ । एवम् 'अतिव्याप्तर्न चासौ लक्ष्यते तथा'
इति कारिकागतातिव्याप्ति व्याचष्टे अव्याप्तिरप्यस्यति । अस्य गुणवृत्तिरूपस्ये-
त्यर्थ । यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेद्य स्यादव्याप्ति । न चैवम्—

इमका उपसहार करते हैं—तस्मादिति । बोधकि अतिव्याप्ति बतलाइ है उसके प्रसङ्ग से
मित्रविषयता भा जाती है इसलिये अतिव्यप्ति है । इस प्रकार 'अतिव्याप्त और अव्याप्ति से
यह उनके द्वारा लक्षण नहीं का जाता' इस कारिका में भाइ दुई अतिव्याप्ति का व्याख्या कर
अव्याप्ति की व्याख्या कर रहे हैं—'अव्याप्तिरप्यस्य इति' । अर्थात् इस गुणवृत्तिरूप की । वही
वही ध्वनि हातो है वही वही मद् भक्ति हो ता अव्याप्त न हावे । ऐसा नही है ।

ताराचता

अट्टारहरी कारिका में भक्ति ध्वनि का लक्षण हातो है । इस मान्यता पर विचार का
उपसहार किया गया है । कारण यह है कि लक्षणा अभिधा की पूछ पकड़कर हो भागे पढ़ती
है इसी कारण वाचकव अत्रात् अभिधा-व्यापार को आश्रय कही जाता है । इसके दो कारण
हैं—एक तो लक्षणा का उचान हो अभिधा की बाधकर हाता है दूसरे लक्षणा अभिधेयार्थ
की अङ्गति के पाठे आतो है । गुणवृत्ति का प्रर्थ है गौणो लक्षणा वा प्रकार । वह
अन्यनामक ध्वनि का लक्षण हा ही कमे सकती है ? क्योंकि दाना के विषय मित्र हाते
हैं । (आगे यह है कि लक्षणा बतल अमथा के सम्बन्ध में ही हाता है । वह अभिधा से
निरपण हाकर रह हा नहीं सकती । गद्गा' इत्यादि पद से तीर' इ वा द लक्षणा नमा लिये
जाते है अरु कि यह पाठ हा जाता है कि प्रस्तुत वाच्य गद्गा वा मुखार्थ 'प्रसाह सङ्ग
नहीं है और प्रसाह का निकृत्वार्थ सम्बन्धी तार' उम अर्थ का पूरक तथा सङ्गतिकारक हाता
है । इसक प्रतिदूत ध्वनि में न तो मुखार्थ वाच्य की अङ्गता हाता है और न मुखार्थ सम्बन्ध
की । ० ग्यार्थ असा भी हा सकता है जिसका वाच्यार्थ से गिना प्रकार का सम्बन्ध ही न
हो । इतना अधिक मेद हाते क कारण लक्षणा का हम ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते ।)
इस लिये वृत्तकार ने उपसहार करत दुये लिखा है कि 'ध्वनि और हातो है तथा गुणवृत्ति
और हातो है ।'

लोचनम्

नन्वेवं धूमाग्निमानन्तरमग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तर रत्यादि-
चित्तवृत्तिप्रतिपत्तिमिति शब्द-व्यापार एवात्र नास्ति । इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो
मीमांसक प्रष्टव्य — किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसर्थात्प्रतिरभिमत
भवति । न चैव भ्रमितव्यम्, एव हि लोकागतचित्तवृत्त्यानुमानमाश्रमिति का
रता ? यस्त्वलौकिकघनकारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्चणाप्राणो
नासी स्मरणानुमानादिनाम्प्येन तिलोकारपात्रीकृतव्य । किन्तु लौकिकेन कार्य-
कारणानुमानादिना संस्कृतद्वयो विभावादिप्रतिपत्तमान एव न ताटस्थेन
प्रतिपद्यते, अपितु इदयसवादापरपर्यायमहदयस्वपरवसीकृततया पूर्णमविष्य-
द्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणसरणिमनास्त्वैव तन्मयोभवनोचितचर्चणाप्राण-
तया । न चासौ चर्चणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्व यन्दानी स्मृति स्यात् । न
चाधुना कुतश्चिन्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात् । अतएवा-
लौकिक एव विभावादिष्यवहार । यदाह विभावो विज्ञानार्थ' लोके कारण-
मेवाभिधीयते न विभाव । अनुभावोऽप्यलौकिक एव— यदयमनुभाववति

(प्रश्न) इस प्रकार धूम आग के अनन्तर अग्नि के स्मरण की भाँति विभाव इत्यादि
की प्रतिपत्ति के अनन्तर रति इत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति होती है । इस प्रकार यहाँ
शब्द का व्यापार ही नहीं होता । (उत्तर) प्रतीति के स्वरूप को जाननेवाले इस मीमांसक
से यह पूछा जाना चाहिये—नया यहाँपर दूसरे को समी 'मकार की चित्तवृत्ति को प्रतिपत्ति
आपके लिये रसप्रतिपत्ति अभिमत है । ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । ऐसा होने पर
लोकागत चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेने में ही क्या रस रह जावेगा, जो अलौकिक चमत्का
रामक रसास्वाद है, जिसका माण है काव्यगत विभाव इत्यादि को चर्चणा वह स्मरण अनु-
मान इत्यादि के साम्य से व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाना चाहिये । किन्तु लौकिक कार्य
कारण के अनुमान इत्यादि के द्वारा संस्कृत महदयवाला विभाव इत्यादि को प्रतिपन्न होते हुए
ही तटव्य के रूप में उसे प्राप्त नहीं करता । अपितु जिसका पर्याय महदयसवाद है उस
सहृदयपर के द्वारा परवस हो जाने के कारण अने चलनर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अङ्क-
रित हो जाने से अनुमान स्मरण इत्यादि की सरणि पर बिना ही आन्ध्र हुए तन्मय होने के
योग्य चर्चणा का प्राण के रूप में स्वीकार कर (उसे प्राप्त करता है) । यह चर्चणा न तो
पहले दूसरे प्रमाण से उत्पन्न हुई थी और न अब ही किसी प्रमाणान्तर से उत्पन्न
हुई है, क्योंकि अलौकिक में प्रयत्न इत्यादि का व्यापार नहीं होता । अतएव
(रसप्रतीति के अलौकिक होने से ही) विभावादि व्यवहार भी अलौकिक ही होता है ।
जैसा कहते हैं—विभाव विज्ञानार्थक है, लोक में कारण ही कहा जाता है विभाव
नहीं । अनुभाव भी अलौकिक ही होता है जो वाणी अह और सत्य से किया हुआ अनिश्च

लोघनम्

अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पा'मित्यादी । 'शिलरिणि' इत्यादी तु सा कथम् ? ननु लक्षणा तावद्गौणमपि भ्याप्नोति ? केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्य मञ्जते 'सिंहो वटु.' इति । अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन यद्वाचकं सामानाधिकरण करोति । शब्दार्थो वा युगपत् लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिथोमञ्जत इत्येवं लक्षणािकाद्गौणस्य भेदः । यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्वयेति सर्वत्र सैव भ्यादिका । सा च पञ्चविधा । उच्यते—

'सुवर्णपुष्पान्' इत्यादि अविवक्षित वाच्य में भक्ति है । 'शिलरिणि' इत्यादि में वह कैसे ? (प्रश्न) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है । केवल शब्द उस अर्थ को लक्षित कराकर उसी के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है 'सिंहो वटु' इत्यादि में । अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक के साथ उसके वाचक का सामानाधिकरण्य कर देता है । अथवा शब्द और अर्थ एक साथ उसको लक्षित कराकर दूसरे ही शब्द और अर्थ से मिलित हो जाते हैं इस प्रकार लक्षणिक का गौण से भेद है । जैसा कहा है 'गौण में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं ।' वहाँपर भी लक्षणा है ही इस प्रकार सर्वत्र वही व्यापक होती है । वह ५ प्रकार की होती है । वह इस प्रकार—

वारावती

सकते हैं जिसको व्याख्या पहले की जा चुकी है । विरहितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिलरिणि वह तु नाम' इत्यादि पद्य में वह लक्षणा ही ही जिस प्रकार सकती है ? (अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा न होने में 'वहाँ ध्वनि होती है वहाँ लक्षणा अवश्य होती है' यह नियम जाता रहता है, यह अन्यासि दोष है, अत लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।) (प्रश्न) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है । (इस विषय में दो मत हैं—एक है भौमासकों का और दूसरा है आलङ्कारिकों का । भौमासक मानते हैं कि गौणी और लक्षणा ये पूरक-पूरक वृत्तियाँ हैं । गौणीवृत्त में गुणों के साम्य के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर भिन्न अर्थ में होता है और लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है । इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणी वृत्ति में जिसके लिये बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी साथ में ही प्रयोग किया जाता है किन्तु लक्षणा में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे 'सिंहो वटु' में शौर्य इत्यादि गुणों के कारण 'वटु' के लिये सिंह कहा गया है और वटु क साथ सिंह का प्रयोग भी सम्मिलित है । अतः यह गौणी वृत्ति है । इसके प्र'ठकूट 'गङ्गा में पर' इसमें सामीप्य सम्बन्ध से 'ठट', के अर्थ में गङ्गा का प्रयोग किया गया है 'ठट' का प्रयोग किया

तारावती

इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान या स्मरण निपुणतया कर लिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पहले घूमनेवाला अनुभव होता है और बाद में अग्नि वा अनुमान या स्मरण, वही प्रकार पहले विभावदि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार स्मरणविरति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होता। (अब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होता वर्यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें) [यहाँपर प्रतिपत्तियों दो मद्भाग की है—परकोपि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीनासक क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है? यदि ऐसा है तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकोपि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुर्घटानात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते हैं। अब उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँ से आवेगा? इसी आशय से लोचनकर यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उतर दे रहे हैं।] यह मीनासक प्रतीति के स्वरूप को तो मञ्जीमौलि समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं? आप इस भ्रम में न रहें। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमें रसत्व (आत्मादन) ही क्या रहे आवेगा? रसात्वाद और ही वस्तु है। रसात्वाद को आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्रायः काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्चणा है। यदि रस प्रकार के उक्त रसात्वादन को स्मरण और अनुमान को सन्तान प्रदान की जावेगी तो उसमें रसत्व भर्न ही क्या रहेगा? अतः स्मरण और अनुमान को तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु बिन लोका के अन्त करण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संशुद्ध हो चुके हैं किन्तु समय के लोचनकाव्य वा नाट्य में विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं उस समय उन्हें वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले निरानन्द परकीय ही नहीं मानते रहते। किन्तु उनका हृदय उस समय सदृश्यत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सदृश्यता का अर्थ है हृदय का हम प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सा जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसात्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, भर्न अर्थ काम मोग्य के चारों उसके फल हैं। सदृश्यों के हृद्यों में विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसात्वादनका कल्पवृक्ष का फल बहुत बन जाता है। इस प्रकार सदृश्यों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर बिना ही आरूप रूपे वन्द्य हो जाते हैं। इस वन्द्यता के अनुकूल (विभाव इत्यादि का जो चर्चणा होती है वही रस रस का प्रायः है। यह चर्चणा किसी दूसरे प्रमाण से रसात्वाद के पहले उत्पन्न नहीं

लोचनम्

अभिधेयं सयोगान् द्विरक शब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्द द्वी रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रपराशब्देन यस्य सयोग सम्बन्ध पदपदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरकशब्देन लक्ष्यते । अभिधेयसम्बन्ध व्याख्यातरूप निमित्ताकृत्य । 'गङ्गाया घोष ।' समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थं, 'यष्टो प्रवेश्य' इति यथा । वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चित् प्रवाति—'किमिवापकृतं न तन मम' इति । क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थं । यथा—अज्ञापहारिणि व्यवहार प्राणानय हरति इति । एवमनया लक्षणया पञ्चविजया विश्वमव व्याप्तम् ।

अभिधेय के साथ सय ग से । द्विरक शब्द वा जो आभवेव 'दा रेफ है जिसमें ग्ह (भ्रव्य) होने से भ्रमरशब्द, उम भ्रमर शब्द से जिस पदपद लक्षण अय वा सयोग सम्बन्ध है वह अय द्विरक शब्द से छद्मिन क्रिया जाता है । यद्) उस अभिधेय सम्बन्ध का निमित्त के रूप में मानकर हाता है । जिसका स्वरूप को व्याख्या की जा चुको । सामान्य से (जैसे) 'गङ्गा में घर' । समवाय से अर्थात् (नित्य) सम्बन्ध से जैसे 'छद्मिन् को प्रवृत्त कराओ ।' वैपरीत्य से जैसे शत्रु का उद्दिष्ट कर कोई कहें—'उसने भेरा क्या उपकार किया ?' क्रियायोगान् वा अय है कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले में 'वह व्यवहार हा कि वह प्राणी को हर रहा है' । इस प्रकार इस वाच प्रकार की छद्मिन् से सारा विश्व ही व्याप्त है ।

तारावती

(१) अभिधेय अर्थात् वाच्य में सयोगसम्बन्ध होने पर । (यहाँ पर सयोग का अर्थ है वाच्य वाचकभाव सम्बन्ध) उदाहरण के लिये 'द्विरक' शब्द को लोचिने । इसमें बहुव्रीहि समास है, अतः इसका अनुवाचि हागो—'दा है रेफ जिसमें' इससे इसका अभिधेयार्थ मिद्ध हुआ भ्रमर शब्द । (अब जैसे एक वाक्य है—'द्विरक उड़ रहा है' इसका वाच्यार्थ हुआ 'भ्रमर शब्द उड़ रहा है ।' शब्द का उड़ना असम्भव है अतः तात्पर्यानुवाचि के कारण अभिधेयार्थ का बोध हो जाता है ।) भ्रमर शब्द का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है पदपद अर्थात् छद्मिन् वैपरीत्याले एक विजाय प्राणा से । अतः द्विरक शब्द से पदपदरूप लक्ष्य अर्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है । इस लक्ष्यार्थ ग्रहण में अभिधेय सम्बन्ध ही निमित्त है जिसकी व्याख्या की जा चुकी है । (२) सामान्य सम्बन्ध से जैसे—'गङ्गा में घर ।' (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से । जैसे 'छद्मिन् को जाने दा' (छद्मिन् का जाना असम्भव है । अतः इस अर्थ का बोध हातर छद्मिन् प्रवृत्त' यह अर्थ ले लिया जाता है । छोटी तथा छद्मिन् प्रवृत्त प्राणी का समवाय सम्बन्ध है । क्योंकि जब तक प्रवृत्तों के पास छोटी नदी हागो तब तक व छोटीवाले नहीं कई जावेंगे ।) (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से जैसे शत्रु के विषय में कह यह कह—'इसने हमारा क्या उपकार नही किया ?' (यहाँ पर वैपरीत्य सम्बन्ध से अन्वय में

लोचनम्

ननु यदि नेत्रं ज्ञस्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलीकिको रसः । ननु विभाव्यादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी । ननु चर्वेतद् दृष्टमन्यत्र ? यत एव न दृष्टं तत एवा-

(मदन) यदि यह ज्ञापन भा नहीं और निष्पत्ति भी नहीं तो यह क्या है ? (उतर) यह वह नहीं है (किन्तु) अलीकिकरस है । (मदन) विभाव इत्यादि यहाँ पर क्या ज्ञापकहेतु है या कारक ? (उतर) न ज्ञापक है न कारक, अपितु चर्वणोपयोगी है ।

सारावती

रसस्मृता वो धारण कारको है । दूसरी बात यह है कि रस चर्वणा सदा हृदयसंवाद के द्वारा ही होता है । हृदयसंवाद में उपयोग होता है लोक चित्तवृत्ति का परिधान । क्योंकि जब तक लोकगत चित्तवृत्ति का परिधान नहीं हो जाता तब तक एक चित्तवृत्ति दूसरी चित्तवृत्ति से मेल खा ही नहीं सकती । जब लोकगत चित्तवृत्ति के परिधान के द्वारा सदृश्यों का हृदय दूसरों को चित्तवृत्ति से मेल खा जाता है तब प्रमदा उद्यान इत्यादि विभाव और पुलक इत्यादि अनुभावों के द्वारा रति इत्यादि स्वाधीभाव का अवगमन हो जाता है । (इतालिये स्वाधीभाव ही रस स्मृता का प्राप्त होता है यह सिद्धान्त माना गया है तथा विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव से उसे पूरक रखा गया है ।) यद्यपि रति इत्यादि स्वाधीभावों के समान सञ्चारी भाव इत्यादि अभिचारीभाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं किन्तु अन्तर् यह होता है कि सञ्चारीभाव रूप में चित्तवृत्तियाँ सर्वदा मुख्य चित्तवृत्ति रति इत्यादि स्वाधी भावों के अधीन होती हैं (तथा उसे पुष्ट करती हैं) इतालिये (प्रोफेक्टरा साम्य को लेकर) सञ्चारी भाव को भा विभाव इत्यादि के साथ सम्मिलित कर दिया गया है । अतएव रसास्वादन की निष्पत्ति को ही रसनिष्पत्ति कहते हैं । रसास्वादन का अर्थ है वेसी चर्वणा जिसमें प्ररन्वगत बन्धु समागम इत्यादि कारणों से होनेवाली हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियों को नीचा करके चर्चकोटि का एक नई ही चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है । अतः चर्वणा की अभिव्यक्ति ही होती है । जिस प्रकार शब्दियों के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन होता है उस प्रकार का ज्ञापन रस का नहीं हो सकता । जिस प्रकार दण्डधक इत्यादि के द्वारा घट इत्यादि का उत्पादन होता है उस प्रकार रस का उत्पादन भी नहीं हो सकता । किन्तु इसका केवल अभिन्वयन ही होता है ।

(मदन) यदि रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता तो और होगा क्या है ? (उतर) रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता यही तो रस की अलीकिकता है । (इसी अलीकिक क्रिया के लिये अभिन्वयना नामक एक नया व्याख्यान मानना पड़ता है ।) (मदन) विभाव इत्यादि को क्या कारक हेतु मानते हैं या ज्ञापक ? (उतर) न यह कारक ही होता है न

लोचनम्

मनु किं वाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिबंध-
णोच्यते' इति । इह चामिधेयानां विनावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति
लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वान्, व्यभिचारिणः च तत्सहकारि
त्वादिति चेत्—मैवम्, धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव
स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात् । धूम-
शब्दस्य स्वार्थविधान्तत्त्वान्न तावति न्यायः इति चेत्, आयात तर्हि मुख्यार्थ-
बाधो लक्षणाया जीवितमिति । सति तस्मिन् स्वार्थं विधान्त्यभावाद् । नच
विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति ।

(मन्) बाधा की क्या आवश्यकता ! लक्षणा का यही स्वरूप माना जाने—'अभिधेय से
अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा कहते हैं' । यहीपर रस इत्यादि अभिधेयों से अविनाभूत ही
बद्धित होते हैं, क्योंकि विभाव और अनुभाव कारण कार्य रूप हैं और व्यभिचारी उनके सह-
कारी हैं । (उत्तर) ऐसा नहीं है । (ऐसा मानने पर) धूम शब्द से धूम के प्रतिपन्न ही
जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित ही होगी । उससे अग्नि से शीतापनोदन
स्मृति इत्यादि अपर्यवसित शब्दार्थ होगा । यदि कहे धूम शब्द के स्वार्थविधान्त होने के
कारण उतने में न्यायः नहीं होता तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन (होता है) यह भा
गया । क्योंकि उसके होने पर (ही) स्वार्थ में विभाव का अभाव होता है । विभाव इत्यादि के
प्रतिपादन में कोई बाधक ही ही नहीं ।

वारावती

(मन्) लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थबाध के समावेश को आवश्यकता ही क्या !
लक्षणा की इतनी ही परिमाण भी नहीं मानो जाती कि—अभिधेय के साथ अविनाभूत
प्रतीति (किसी रूप में सम्बद्ध होने) को लक्षणा कहते हैं । अस्तित्वव्यवस्था में भी विभाव
अनुभाव इत्यादि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति होती है । अतः उन्हें भी लक्षणा में ही
सन्निविष्ट कर सकते हैं । क्योंकि विभाव रस में कारण होते हैं और अनुभाव रसमें कार्य
होते हैं । तथा व्यभिचारी मात्र सहकारी होते हैं । अतः ये सब इसके साथ अविनाभूत
होते हैं इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर धूम शब्द से वाच्यार्थ धूम की प्रतिपत्ति होने
के बाद अग्नि का स्मरण होता है वहाँ भी आन लक्षणा मानेंगे । इसके बाद शीत के दूर
होने की स्मृति भी जो कि अपर्यवसित अर्थ है, लक्ष्यार्थ ही माना जावेगा ।' क्योंकि
धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध तो ही ही ।) यदि आप कहें कि धूम शब्द स्वार्थ
विधान्त है क्योंकि उसका अर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है अतएव अग्नि तथा शीतापनोदन पर्यन्त
अथो में लक्षणान्तर नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि जहाँ किसी
शब्द के अर्थ की स्वतः पूर्णता न हो वहाँ लक्षणा होती है । इसके यह स्पष्ट हो जाता है कि

लोचनम्

स्वार्थाद् घनन्यापारः । अतएवालङ्कारमता । यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केन-
चिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया । शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्-
युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात् कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत् । अविरुद्धत्वे वा
वाचान्तो वाच्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्य न्यापारायोगः । पुनरुच्चारितेषुपि
वाक्ये न एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात् । प्रकरणसमयप्राप्त्यर्थतिरस्का-
रेणाथोन्ताप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकामः' इति
प्रती सादेच्छ्वनासमित्येष नार्थं इति का प्रमेति प्रसज्यते । तत्रापि न काचिदि-
यच्छेत्यनाथासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम् । इह तु विभावाद्यव प्रतिपाद्यमानं
चर्वणा विषयतोऽनुसमिति समयाद्युपयोगामाव । न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि,
... लौकिकत्वात् ।
... पूर्वापरकाबानु-

(शब्द और अर्थ में अनुरक्त हात्र दुस लोक) नहीं (देखा जाता) । उदाहरण करके भी
अन्यथा परिभाषा कर दिया जाता है' इस न्याय से जिसने प्रतापि कर दी है (अर्थ ज्ञान करा
दिया है) उस (शब्द) का उपयोग नहीं होता इस प्रकार शब्द का भी यहाँ पर घनन
न्यापार (होता है) । इसलिये अलङ्कारमता (बड़ी जाती है) जो किसी ने कहा था कि
वाक्यभेद हो जायेगा वह अनभिज्ञता के कारण । निस्तन्दह एक बार वच्चारण किया हुआ शास्त्र
सकेत के बल से अर्थ का प्रतिपादन करते हुये एक साथ विरुद्ध अनेक अर्थों के सकेत स्मरण
के असम्भव होने के कारण किन्तु प्रकार दो अर्थों का प्रत्यायन करा सकेगा विरुद्ध न होने पर
उतना एक ही वाच्यार्थ हो जायेगा । क्रम से भी विरुद्ध हाकर न्यापार होना असम्भव है ।
पुनः उच्चारण किये हुये वाक्य में भी वहा (अर्थ निकलेगा) क्योंकि सकेत और प्रकरण तो
तदवस्थ ही रहते हैं । प्रकरण और सकेत से प्राप्य अर्थ के विरुद्धार के उपाय दूसरे अर्थ के
प्रत्यायन कराने में कोई नियम नहीं है इस प्रकार उससे 'स्वर्ग को कामना से अग्निहोत्र में
हवन करना चाहिये' इस अर्थ में 'कुचे का मास खाना चाहिये' यह अर्थ नहीं है इसने क्या
प्रत्याय है वह (दोष) प्रसक्त हो जायेगा । उसमें भी कोई शक्यता नहीं है इसलिये अविरतस-
वीक्यता हो जायेगी इस प्रकार वाक्यभेद दोष है । यहाँ पर तो प्रतिपादन किया जाता हुआ
विभाष इत्यादि ही चर्वणाविषयता की ओर अनुसृत हा जाता है इस प्रकार सकेत इत्यादि के
उपयोग का अभाव है । 'नियुक्त किया हुआ मैं (यह कार्य) करूँ'; 'मैं छुआयँ हूँ' इस
प्रकारोप प्रतीति के समान यह नहीं है । वहाँ पर कर्न की ओर अनुसृत होने से लौकिक-
कता है । यहाँ तो विभाष इत्यादि की चर्वणा अद्भुत पुण के समान वही सत्य के (वर्तमान-
क'उ के) सार के रूप में उदित (होता है) पूर्वापरकाळ की अनुसन्धिनी नहीं होती इस
प्रकार लौकिक आत्मा और यागियों के विषय से यह सत्त्वाद् सर्वथा भिन्न ही है ।

लोचनम्

वागद्भस्त्वकृतोऽमिनयस्तस्मादनुभाव इति । तच्चित्तवृत्तितन्मयोमवनमेव अनु-
भवनम् । लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः । अत एव परकीया न चित्तवृत्ति-
गन्धत्वे इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्प्रसन्ननिष्पत्तिः' इति सूत्रे
स्थापिग्रहणं न कृतम् । तदप्युक्तं शक्यभूतं स्यात् । स्थापिनस्तु रम्योभाव औचि-
त्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितवृत्तिसुन्दरचर्वणोदयात् । इदयसंवादोपयोगि-
लोकचित्तवृत्तिपरिष्ठानावस्थायामुदानपुष्ककारिभिः स्थापिभूतरक्ताद्यवगमान्च ।
व्यभिचारी तु विसृष्ट्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवत्त एव चर्च्यते इति विभा-
भानुभावमध्यं गणितः । अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः यद्यप्यन्धप्रवृत्त-
वन्पुस्तमागमादिकारणोद्दिष्टहर्षादिविचित्रवृत्ति-व्यभिचारेण चर्वणारूपत्वम् । अतश्चर्व-
णात्मागमिष्यजनमेव, न तु क्षणं प्रमाणव्यापारवत् । नाप्युत्पादन हेतु-
स्यापारवत् ।

(स्थायी और व्यभिचारी को) अनुभव गोचर बनाता है इससे अनुभाव कहलाता है । उस
चित्तवृत्ति का तन्मय होना ही अनुभव है । लोक में तो कार्य ही कहे हैं अनुभाव नहीं ।
अतएव परकीया चित्तवृत्ति अवगत नहीं की जाती इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारि-
सयोगात्प्रसन्ननिष्पत्ति' इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया गया । प्रयुक्त वह शक्यभूत हो
जाता । स्थायी की तो रसतन्मासि औचित्य से कहे जाती है । विभाव और अनुभाव के योग्य
चित्तवृत्ति के सस्कार के (उद्बोधन से) सुन्दर चर्वणा के उदय हो जाने से वह (स्थायी
की रसत्व प्राप्ति) होती है । इदयसंवाद में उपयोगी लोकचित्तवृत्ति के परिष्ठान की अवस्था
में उदान पुलक इत्यादि के द्वारा स्थायीभूत रति इत्यादि के अवगमन से भी (स्थायी की)
रसता प्राप्त हो जाती है । व्यभिचारी ही चित्तवृत्तिपात्मक होते हुए भी मुख्य चित्तवृत्ति के
आधीन होकर ही चर्वणागोचर होता है, अतः विभाव और अनुभाव के मध्य में उसको गणना
की गई । अतएव रस्यमानता (आस्वादनगोचरता) की यही निष्पत्ति होती है कि प्रबन्ध में
आये हुए वन्पुस्तमागम इत्यादि कारणों से उत्पन्न हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा
करके चर्वणा रूपता प्राप्त कर देता है । अतः यही चर्वणा का अर्थ व्यभिचयन ही है क्षण
नहीं होता, जैसा कि प्रमाण व्यापार का (क्षण) हुआ करता है । उत्पादन भी नहीं होता,
जैसा कि हेतु व्यापार (से उत्पादन होता है) ।

शारावती

मुख्यार्थवाच्य शब्दा का जीवन है । यद्यपि पर्यवसान का अभाव होता है । विभाव इत्यादि
क द्वारा रस के प्रतिपादन में कोई बाधक होता ही नहीं, अतः यदापर शब्दाणां नहीं मानी
जा सकती ।

कतिपय मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार धूमप्रसन्न के बाद अग्नि का अनुमान
वा स्मरण कर लिया जाता है उसी प्रकार विभाव शब्दादि की प्रतिपत्ति के उपरान्त रति

छोचनम्

अतएव शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थवाधादिकमनपेक्ष्यैव सहृदया वचनमिष्येव चादुप्रा याम्क सवदयन्ते । अत एव ग्रन्थकार सामान्यतया विवक्षितान्यपरत्वाच्चध्वनौ मन्त्रेणभावमभ्यधात् । अस्माभिस्तु दुर्दुस्तु प्रत्यापयितु मुक्तम्—मवचन लक्षणा अलक्ष्यक्रम तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति । यदि तु न कुप्यत 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थवाधादिलक्षणा सामप्रामनपक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविध्वान्तिरित्यल बहुना । उपसहरति—तस्माद्भक्ति रिति ॥ १८ ॥

अतएव शिखरिणि' इत्यादि में भी मुख्यापराध इत्यादि कन की अपेक्षा बिना किये हुये ही सहृदय लोग वक्ता के चादुपतीतिरूप अभिप्राय को जान लेते हैं । इनलिये ग्रन्थकार ने सामान्यतया विवक्षितान्यपरत्वाच्च ध्वन में भक्ति का अभाव बतला दिया हमने तो शिखरिणी की टर-टर का प्रत्यायन कराने के लिये कह दिया—यहाँ लक्षणा ही आवे अलक्ष्यक्रम में तो कुपित होकर भी क्या कर लगे ? यदि कुपित नहीं होते तो 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षितवाच्य में भी मुख्यापराध इत्यादि लक्षणा सामग्री की बिना ही अपेक्षा किये हुये व्यङ्ग्यार्थ की विध्वान्ति हो जाती है । बस अधिक को क्या आवस्यकता ? उपसहार करते हैं— तस्माद्भक्ति इत्यादि ॥ १८ ॥

वारावता

किन्तु काव्य में अभिधा के द्वारा विभाव इत्यादि का प्रतिपादन हाता है और फिर विभाव इत्यादि रसचरणा की ओर वामुक्त हो जात हैं । अतएव उनमें सनेत्र प्रकण्ड इत्यादि सामग्री का अपेक्षा नहीं होती । अन्य शास्त्रों में शास्त्रीय वाक्यों से आदेश मिलता है । उनमें पाठक या शिखरिणीक वह अनुभव करता है कि मुझे शास्त्र ने अनुक्त काव्य में निपुक्त किया है अत एव काव्य को करू, और अब वह शास्त्रीय विधा को पूरा कर चुकता है तब उसे यह अभिमान होता है कि मैं यह काव्य सफलतापूर्वक कर चुका । किन्तु ऐसा मद काव्य में नहीं होता । शास्त्र लौकिक होते हैं क्योंकि उनमें उत्तर काल में (शास्त्राध्ययन क अनन्तर) काव्य में मन लगाया जाता है । किन्तु काव्य में ऐसा नहीं हाता । अत काव्य अलौकिक हात हैं । काव्य में विभाव इत्यादि का चरणा इन्द्रजाल में दिखतये हुए पुष्प क समान वाक्यावस्था सन्कल में ही होती है । पहले पीछ का इसमें कोई नियम नहीं होता । इसीलिये लौकिक आत्माद तथा वागियों के विषय से रसास्ताद एक बिन्दुल मिश्र वस्तु है । इसीलिये विवक्षितान्यपरत्वाच्च के उदाहरण शिखरिणि ननु नाम ' इत्यादि में भी वाक्यावस्था इत्यादि कन की बिना ही अपेक्षा किये हुए सहृदय लोग चतुर्द्वारा और मन्त्रज्ञा रूप वास्तार्थ को समन लेते हैं । यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से विवक्षितान्य

धारावती

ही चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसको उपरि कितने दूसरे मनाप से नहीं हाठी। क्योंकि अलौकिक तत्व के ग्रहण करने के लिये मत्पन इत्यादि को किया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात मरत मुनि ने माध्यशास्त्र में कहा है— विभाव वा अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विश्व रूप से धात (भावित) किये जायें उन्हें विभाव कहते हैं। लोक में कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उचान इत्यादि को कारणार्थ विभाव इत्यादि मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अभुपातादि के द्वारा भी स्थायी को अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उचान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विश्व रूप से उनका परिचय होता है। क्योंकि अभुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इत्यादि कहते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस अर्थ में आते हैं शक्ति, आदिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गात्र बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्ति के अनुकूल वन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे को चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही उदात्त रूप में परिष्कृत हो जाती है। इसीलिये— विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से अभिव्यक्ति होती है। इस मरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। बरतुत्र कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द को अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी प्रयत्न अविश्व को अवश्यकता ही नहीं पड़ती। (यदि यहाँपर विभावादिकों का संयोग स्थायीभाव के साथ बतलाया गया होता तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि परकीय चित्तवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।) इस प्रकार अर्थप्रतीति में यह एक अमिष्ट सत्य हो जाता। यह कहना उचित ही है कि स्थायी भाव ही रसरूपता को धारण करता है। कारण यह है कि दूसरे व्यक्तियों (नायक इत्यादिकों) में जो रति इत्यादि स्थायीभाव रहता है उसके सम्बन्ध रखनेवाले विभाव अनुभाव के अनुकूल को चित्तवृत्ति बनती है उसके सञ्चारी से जब सहृदयों की चित्तवृत्तियाँ भी उत्कृत हो जाती हैं तब रसरसादन का उदय हाता है। इस प्रकार स्थायी चित्तवृत्तियाँ ही

लोचनम्

मुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च । किं बहुक्षणेनेत्या-
शङ्कपाह—यदि चेति । अभिधानामभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापक , तदुच्चा-
भिधावृत्ते वैय्याकरणमीमांसकैरुपि कुर्यादासीमलङ्कारकाराणां व्यापार । तथा
हेतुबलात्कायं जायत इति तार्किकैरुक्ते किंमिदानामीश्वरमृतीनां कर्तृणां ज्ञानूणां
वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति भवति निरासम्भ स्यात् । तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्य-
प्रसङ्ग इति ।

बाणी ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जावेंगे । फिर उसके लक्षण बनाने को क्या
भावश्यकता ? यह शङ्का करके कहते हैं—यदि च इत्यादि । अभिधान और अभिधेयभाव अल-
ङ्कारों का व्यापक है फिर अभिधाव्यापार के वैयर्थ्यकरण और मीमांसकों द्वारा निरूपित कर
दिये जाने पर अलङ्कार (शास्त्र)कारों का व्यापारक्षेत्र कहा होगा ? उसी प्रकार हेतु के बल
से कार्य होता है यह तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर इश्वरमृति कर्ताओं और छात्राओं
का अनूर्ध्वकृत्य क्या होगा ? इस प्रकार सभी कुछ आसम्भ हो जावेगा । वह कहते हैं—
'लक्षणकारणवैयर्थ्यप्रसङ्ग' यह ।

वारावती

(लक्षणानुसंधान के अर्थ में तीन विकल्पों का कल्पना की दो (१) लक्षण ध्वनि का
स्वरूप ही सकता है । (२) लक्षण ध्वनि का लक्षण हो सकता है । (३) लक्षण ध्वनि
का उपलक्षण ही सकता है । पिछले प्रकरण में दो पक्षों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया
गया । अब तीसरे पक्ष को लोचिये—माय देसा होता है कि लक्षणकार स्वस्त समूह में किसी
एक लक्षण का परिचय दे दते हैं । उसी के आधार पर सब समूह भी समझ लिया जाता करता
है । इसे उपलक्षण कहते हैं । उपलक्षणवादियों का आशय यह है कि ध्वनि का कारण एक
भद्र ही देसा होता ही है जिसमें लक्षण विद्यमान है । तब उसे उपलक्षण मानकर सब भद्रों
का उसी में समाहार हा जावेगा, ध्वनि के पृथक् लक्षण बनने की क्या आवश्यकता ? अब
इसी पक्ष पर विचार किया जा रहा है ।) (प्रश्न) ध्वनि और मक्ति को एकरूपता न मानो
जावे, ध्वनि का लक्षण भा मक्ति न हो किन्तु उपलक्षण तो हो ही सकती है । बुद्ध देखे मा
स्मृत होते हैं जहाँ ध्वनि होता है और वहाँ मक्ति हाठी ही है, बस इतना ही पर्याप्त है,
मक्ति क द्वारा ध्वनि उपलब्ध हा जावेगा । ध्वन क समस्त भद्र मं मक्ति नहीं हाता इससे
हमारे प्रतिपक्षियों का क्या कथन बन जाता है भा हमारा क्या विपक्ष जाता है ? इसी का उत्तर
देने के लिये यह कारिका लिखी गई है कि लक्षण 'वक्ष्य भद्र का उपलक्षण ही सकता है ।
अब यहाँ पर यह प्रश्न उपपद्यत होता है कि चिरन्तन आचार्यों ने मक्ति का पूर्णरूप से
निरूपण कर दिया । उसी को उपलक्षण मानकर समग्र भद्रवालो ध्वनि का लक्षित भा कर लेंगे
और जान भी जावेंगे । फिर ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? इसा अक्षर का

लोचनम्

लौकिकमित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात् ; अस्तु किं ततः ? तच्चर्वणात् एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमभ्यदर्शनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत् ; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्येव चर्वणात्मत्वादित्यत्र बहुना । अतश्च रसोऽयमलौकिकः । येन ललितपरूपानुप्रासस्थाथानिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का तत्र वक्षणायाः शब्दापि ? काव्यात्मकमन्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा वृद्ध्यते । वृद्ध्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये ह्येया.' इति न्यायेन कृष्टप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्द-

(प्रश्न) यह अन्यत्र कहाँ देखा गया ? (उत्तर) क्योंकि नहीं देखा गया रसालिये अलौकिक है यह कहा गया । (प्रश्न) इस प्रकार तो यह रस अप्रामाणिक ही जानगा ? (उत्तर) हो जाने तो उससे क्या ? उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर और क्या मार्शनीय है । (प्रश्न) यह तो अप्रमाणावला है ? (उत्तर) ऐसा नहीं है क्योंकि यह स्वसंवेदन सिद्ध है । क्योंकि ज्ञानविशेष ही चर्वणात्मक होता है; उस अधिक को क्या आनन्दकता ? इसलिये यह रस अलौकिक है । क्योंकि अर्थानिधान में अनुपयुक्त ललित और परस्व अनुप्रास का भी रस के प्रति अभिव्यञ्जकत्व होता है उसमें लक्षणा का शक्य भी क्या ? काव्यात्मक मन्द के निष्पीडन से ही वह चर्वणा देखी जाती है । सहृदय लोक उसी काव्य की बार बार पढ़ते हुए और चर्वण करते हुए देखा जाता है । काव्य क

चारावती

सापक ही किन्तु चर्वणोपयोगी नये ही प्रकार का हेतु होता है । (प्रश्न) अन्यत्र यह बात कहाँ देखी गई है कि कोई हेतु न वाक्य हो न सापक ? (उत्तर) कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई है इसलिये तो रस अलौकिक होता है । (प्रश्न) यदि कोई भा लौकिक दृष्टान्त नहीं मिलता तो रस तो अप्रामाणिक ही जानगा ? (उत्तर) हो जान ता उससे क्या ? (अप्रामाणिक होकर भी उसकी रसोपेक्षा रूप वायंकारिता तो बना ही रहती ।) उसकी चर्वणा के द्वारा हृदय में जो आनन्द का आविर्भाव होता है उसी से प्रीति और व्युत्पत्ति (आनन्दवादन के साथ व्युत्पत्ति) सिद्ध हो जाता है उससे बढ़कर भाषकों और कौन सा प्रमाण चाहिये ? (प्रश्न) इसमें कोई प्रमाण तो पर भी प्राप्त नहीं हो सका ? (उत्तर) इसका स्वप्रकाशरूप और स्वसंवेदन सिद्ध होना सबसे बड़ा प्रमाण है । (प्रश्न) जब रस निष्पत्ति के लिये एक विशेष प्रकार की चर्वणा अपेक्षा होती है तब आप उसे स्वसंवेदन सिद्ध किस प्रकार कह सकते हैं ? (उत्तर) चर्वणा और कुछ भी नहीं एक प्रकार का शान ही है । अतः रस की स्वसंवेदनसिद्धता में कोई छूटि नहीं जाती । अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? (इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस चर्वणा अलौकिक होता है ।)

लोचनम्

दिना । उक्त्या नोत्था 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम् ।
 वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति—'अर्थान्तरे सङ्गमितम्'
 इत्यादिना । तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् ।
 द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुद्येन
 मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयानुसारेण तु वृत्तिरुद्भवोद्योते मूल-
 विभागमवोचत्—स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिति—लौकिकानां शास्त्रीयाणां
 चेत्यर्थः । अतिशयोक्त्येति । यथा—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इति
 चर्तितशयोक्त्यानाद्येयतोत्ता साररूपता प्रतिपादयितुमितिदृष्टितमितिनिवम् १९

किं लोचनं विनालोको माति चन्द्रिकयापि हि ।
 तं नाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
 यदुन्मीलनस्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
 स्वात्मायतनविधान्तां ता वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥
 इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यपर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते
 सहृदयश्लोकलोचने ध्वनिसङ्केतो नाम
 प्रथम उद्योतः ।

शब्दो वा' इति सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया । आगे चलकर वही जानेवाली नीति
 से 'अर्थान्तरे सङ्गमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेष लक्षण हो जावेगा । वृत्तमें प्रथम उद्योत में
 कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया । द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तरविभाग
 और विशेष लक्षण को बनाते हुए अनुवाद मुख से दो प्रकार के मूल विभाग की सूचना दी ।
 उसके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में मूल विभाग को कह दिया—'वह दो
 प्रकार का है' यही 'सभी का' अर्थात् लौकिकों का और शास्त्रियों का । 'अतिशयोक्ति के
 द्वारा' यह । जैसे 'वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित कर रहे हैं' इसके समान अतिशयोक्ति के
 द्वारा साररूपता के प्रतिपादन के लिये कथन की अराक्यता दिखलाई गई । इस प्रकार सब
 कल्याणकारक हो ॥ १९ ॥

क्या लोचन के बिना चन्द्रिका से भी आशोक शोभित होता है ? इसके अविनवगुप्त ने
 यहाँ पर लोचनोन्मीलन कर दिया ।

जिसकी उन्मीलनी शक्ति के द्वारा ही विश्व क्षणभर में उन्मीलित हो जाता है, अपने
 आत्मारूपो आयतन में विश्राम करनेवाली उस कल्याणकारिणी प्रतिभा की हम वन्दना करते
 हैं । अथवा प्रतिभा अर्थात् घनरूपिणी सिता (पार्वती) की हम वन्दना करते हैं ।

यह है महामाहेश्वर आचार्यवर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित

सहृदयश्लोकलोचन में ध्वनिसङ्केत नामक

प्रथम उद्योतः ।

उपरावती

यह छलित और परव्य अनुपास भी रस के अभिव्यञ्जक होते हैं जिनमें अर्थाभिप्राय तक की आवश्यकता नहीं होती तब लक्षणा के द्वारा रसभिव्यक्ति के गताय होने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। काव्यात्मक शब्दों के निष्कोटन से ही रसचर्चणा देखी जाती है। माय. दत्ता जाता है कि सहृदय लोग उसी काव्य को बार-बार पढ़ते हैं और उसका स्वाद लेते हैं। काव्य के शब्द (तथा वाच्यार्थ) में आस्वाद नहीं होता (अपितु अभिव्यञ्जमान रस की चर्चणा में ही भ्रान्द होता है)। चर्चणा के विषय में काव्य शब्द उपायमृत होते हैं, किन्तु उनके विषय में उपाय की यह परिभाषा लागू होती है कि 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाय उन्हें उपाय कहते हैं।' अतएव जिन काव्य शब्दों की प्रतीति हो चुकती है उनका उपयोग हो जाता है। अतः काव्य क लिये भी ध्वनन-वाचक शब्द का प्रयोग होता है। अलक्ष्यक्रमव कहे का भी यही अभिप्राय है कि शब्द से रसभिव्यक्ति हो जाती है। यदि बीच में अर्थ व्यवधान अनिवार्य हो तो अलक्ष्यक्रमव कहे का सर्वथा असङ्गत हो जावे। कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि व्यंग्याय की सधा मानी जावगी तो वाक्यभेद मानना पड़ेगा' यह कथन सर्वथा अलमिपता का परिचयक है। जब कोई वाक्य एकबार बोला जाता है तब तब वह सकेत के बल पर अर्थ प्रतिपादित करने लगता है तब पक्षसाय दो अर्थों को किस प्रकार कह सकता है ? यदि वे दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध हैं तो एक साथ अनेक विरोधा सकेतों का स्मरण असम्भव है, यदि न दोनों अर्थ परस्पर विरोधी न हों अर्थात् एक क्रिया में दोनों का अन्वय हो सकता सम्भव हो तो जितना भी बोध होता है उतना सम्पूर्ण एक ही वाच्यार्थ माना जावेगा { जैसे 'स्वर्ण भावति' में 'स्वैठ.' के दो अर्थ हैं 'स्व+स्व.' अर्थात् 'कुटा स्वर से' तथा 'स्वैठ वणवाला' दोनों में विरोध नहीं है, अतः दोनों का एक क्रिया में अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार 'सर्वदोमाभव' वाक्य में 'सर्वदोमाभव' क दो अर्थ हैं 'सब कुछ देनेवाले भगवान् शुभ्य' तथा 'सर्वदा+उमाभव.' अर्थात् 'सर्वदा भगवान् साहू' यही पर शुभ्य और शिव दोनों का एक क्रिया में अन्वय सम्भव है, अतः दोनों का मिष्टाकर एक ही वाच्यार्थ माना जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।) एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ निकल नहीं सकता क्योंकि शब्दों की क्रिया एक एक कर हाता नहीं। यदि दो बार भा वाक्य बोला जाव तो प्रकरण सामथी इत्यादि तो वही बनी रहेगा। अतः दो विभिन्न अर्थ तो निकल हा नहीं सकेगे। ऐसा कह निदम नहीं कि प्रकरण बार सकेत के आधार पर प्राप्त होनेवाले अर्थ का तिरस्कार करके किन्तुल नया ही अर्थ छ लिया जावे। यदि ऐसा माना जावेगा तो 'स्वर्ण' की कामना से अग्निहोत्र करना चाहिये।' इस वाक्य का 'पुत्रे का मांस छाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा और कोई व्यवसाय नहीं रह जावगा। क्योंकि यह अर्थ नहीं होता इसमें प्रमाण ही क्या होगा ? अतः भा कि अर्थों की कोई सीमित संख्या नहीं रहेगी। अतः अर्थों की वास्तविकता पर विश्वास जम ही नहीं सकेगा। इस प्रकार वाक्यभेद एक दोष माना जाता है। यह तो दुर्लक्ष्य की बात।

तारावती

हो जावेगी।' यही पर कहा हुए नीति का आशय है ध्वनि परिभाषा की कारिका—'यथायं शब्दो वा - इत्यादि।' कही जानेवाली नीति का आशय है—'अर्थान्तरे सकमितम्' इत्यादि कारिका के द्वारा उसके भेदोपभेद किया जाना। प्रथम उद्योत में कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे उद्योत में विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेद किये गये हैं। किन्तु कारिकाकार ने यह नहीं कहा कि उसके भेद कितने होते हैं? केवल अवान्तर भेदों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेदों का परिचय देते हुए ध्वनिकार ने यह सूचित कर दिया कि ध्वनि मूळ रूप में दो प्रकार की होती है। इस आशय के अनुसार वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में ही लिख दिया कि 'वह ध्वनि दो प्रकार की होती है'। सभी के विषय में छागू हो जावेगी' इस कथन में सभी का अर्थ है सभी लौकिक तथा प्राणीय विषयों में। (आशय यह है कि इस ग्रन्थ ध्वन्यालोक में ध्वनि का सामान्य लक्षण भी दिया दिया गया और विशेष भी। अतः इस बात का स्वतः निराकरण हो गया कि ध्वनि का लक्षण वन ही नहीं सकता।) अथवा 'ध्वनि का लक्षण नहीं बनाया जा सकता इस कथन में अतिशयोक्ति मानी जा सकती है और इसका आशय यह माना जा सकता है कि ध्वनि काव्यतत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व इतना अधिक है कि वह सभी काव्यतत्त्वों का अतिक्रमण करनेवाला होता है। यहाँपर अतिशयोक्ति का आशय है कि उसका प्रकथन किया ही नहीं जा सकता यह कथन उस ध्वनि का प्रसादापरक मान है। जैसे—

निद्रानिमोहितदृशो मदमन्धराया

नाप्यवन्ति न च यानि निरबंकाणि ।

अथापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या

तान्दशराणि हृदये कियपि स्फुरन्ति ॥

'निद्रा के कारण आधी आँखों को बन्द किये हुए उस मृगानयनी ने मद से मन्धर कुछ ऐसे मधुर अशरों का उच्चारण किया जो न तो सार्थक हो ये न निरर्थक हो। आज भी वे अशर मेरे हृदय में किसी भावना का स्फुरण कर रहे हैं।' यहाँ किसी नई भावना का अर्थ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् जो महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार ध्वनि का अर्थान्त नहीं किया जा सकता इन शब्दों का यह अर्थ हो सकता है कि ध्वनि एक सात्त्विक पदार्थ है। वम ध्वनि स्थापना के विषय में मुझे (अभिनव गुप्त को) यही कहना है। (तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पद की विशेष मोर्मासा की गई है वहीं देरी जानी चाहिये।) यह मरी व्याख्या मेरे समस्त पाठकों को निररूपिणा हो।

क्या लोचन के न जाने पर चन्द्रिका से भी आलोक की शोभा हो सकती है? इतोऽपि अभिनव गुप्त ने लोचनान्मोहन किया है। (आशय यह है कि यदि चन्द्रनी छिडकी हुई हो प्रकाश फैल रहा हो तो भी जिसके आँखें नहीं हैं वह प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता।

ध्वन्यालोक

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रथमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्मान्येत, यदि च गुणवृत्तयश्च ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधान्यापारण तदितरोऽलङ्कारवर्गं समग्रं पृथक् लक्ष्यते इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

(अनु०) यह लक्षणा सम्भवतः किसी ध्वनिभेद वा उपलक्षण हो जावे ।

आगे चलकर ध्वनि क ना भेदाभेद बतलाये जावेंगे उनमें किसी एक भेद का उपलक्षण सम्भवतः लक्षणा हो जावे । यदि कहो कि सारा ध्वनि (उपलक्षण के रूप में) गुणवृत्ति क द्वारा ही लक्षित हो जावेगा तो इसपर नेरा कहना यह है कि आंमभा व्यापार के द्वारा उससे निम्न सारा अलङ्कारवग लक्षित ही हो जावेगा फिर प्रत्येक अलङ्कार का पृथक् पृथक् लक्षण बनाना व्यर्थ ही हो जावेगा ।

लोचनम्

ननु मा भूद्ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम् । मा च भूद्ध्वनिर्ध्वनिलक्षणम् । उपलक्षणं तु भावप्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति मन्वापुपलक्षितो ध्वनिः । न तावदतसर्वत्रास्त, इयता च किं परस्य सिद्धम् ? किंवा न च्युटितम् ? इति उदाह कस्याचदित्यादि । ननु भक्तिस्तावद्विरन्तैरुक्ता उपलक्षण-

(प्रश्न) ध्वनि और भक्ति ये दोनों एक रूप न हों, ध्वनि भक्ति का लक्षण भी न हो, उपलक्षण तो हो जावेगा—जहाँ ध्वनि होती है वहाँ भक्ति भी होती है इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होता है । यह सच नहीं होता इससे क्या दूसरे (विरोधी) का बन गया और क्या हमारा सिद्ध गया ? (उत्तर) इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचित् इत्यादि ।

(प्रश्न) भक्ति का मायानो के द्वारा कही गई है । उसक उपलक्षण के द्वारा समग्रभेदों

वारावता

परवाच्य ध्वनि में लक्षणा का न होना ही स्वीकार कर लिया है । मैंने केवल विराधियों को टरटाहट का दान्त करने के लिये (दुःखनाश न्याय से) यह कह दिया कि विवक्षितान्यपर वाच्य के सल्लक्ष्यकमन्यग्व के उदाहरण (शिखरिणि ननुनाम इत्यादि) में जैसे तैल वाच में लगाया मान भा ला जावे फिर भी तुम अल्लक्ष्यकमन्यग्व रसध्वनि में क्या करोगे ? (उसक लिये ठा न्यजनाश्च मानने क अविरिक्त और कोर चारा नहीं । अरे माह काय का क्या वाम सच्चो वाच कहना चाहिये ।) यदि शोध वा काम नहीं और तुम वर्णित न हा आशा हम ठा वहाँ ठरू कहने का उद्यत हैं कि अविवक्षित वाच्य के उदाहरण 'शुभर्णपुष्पा इष्वान्' इत्यादि में भा लगाया की सामग्री सर्वहित होते हुए भी उसकी बिना ही अपेक्षा किये न्यग्व का विधानि हो जाता है । रस, इस विषय में मुझ इतना ही कहना है, अधिक का क्या आनन्दवदता ? इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि का लक्षण भक्ति कभी नहीं हो सकती ।

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणोऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सवृत्ताः स्मः । येऽपि सहृदयद्वन्द्वसवेद्यमनाख्येभ्यमेव ध्वनेरात्मानमात्मानसिपुस्तेऽपि न परीक्ष्य-वादिनः । यत उक्त्या नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यथानाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तुनैः तत्प्रसक्तम् । यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काम्यान्तरातिशायितैः स्वरूपमाप्यायते तत्तेऽपि युक्त्याभिधायिन एव ।

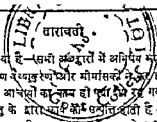
(अनु०) और भी—यदि अन्य आचार्यों ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है ।

यदि पहले कुछ आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है । क्योंकि हमारा पक्ष है कि ध्वनि है । यह पहले ही सिद्ध हो गया, इस प्रकार हमारा समी ही अर्थ तो बिना ही प्रत्यक्ष के सम्पन्न हो गया । जिन लोगों ने यह कहा कि 'ध्वनि की आत्मा (तत्त्व) सहृदयद्वन्द्वसवेद्य ही है उसका आस्वादन ही ही नहीं सकता ।' वे भी सोच-समझकर कहने लगे नहीं हैं । क्योंकि जो नाति हम बतला चुके हैं या जो प्रागे क्लृप्तर बतलाई जावेगा उससे ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देनेर भी यदि यही कहा जावेगा कि ध्वनि का प्रकटन ही ही नहीं सकता तो यह बात तो सभी के विषय में लागू हो जावेगी । यदि हम अतिशयोक्ति के द्वारा वे लोग ध्वनि के विषय में यह कह रहे हैं कि ध्वनि दूसरे का यों का अंतवचन करता है तो वे भी ठीक ही रहते हैं ।

लौचनम्

माभूद्वाऽपूर्वोन्मीलन पूर्वोन्मीलितमेवास्मानिः सम्यक् निरूपित तयापि को दोष इत्यभिप्रायेष्वाह—किञ्चेत्यादि । प्रागेवति । अस्मत्प्रयत्नादिति शेषः । एव त्रिकारममाववाद्, नक्तयन्तर्भूतता च निराकुर्वता अलक्षणाद्यत्वेतन्मध्यं निराकृतमेव । अत एव मूलकारिका साक्षात् चित्कारणार्था न ध्रुयते । वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कष्टेन तत्पथमनुत्त निराकरोति—वेपात्या-

अथवा अर्बुब उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलन को ही इन लोगों ने ठीक रूप में निरूपित कर दिया है फिर भी क्या दोष है ? इस अभिप्राय से कहते हैं—'किञ्च' यह । 'प्रागेव' यह । 'हमार प्रत्यक्ष से' यह शेष है (अर्थात् हमारे प्रत्यक्ष से पहले) । इस प्रकार तान प्रकार के अवयवाद् और मूल के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए इसके बाव में अलक्षणीयता का निराकरण कर ही दिया । अतएव इसके साक्षात् निराकरण के अर्थवाली मूलकारिका नहीं इनकी देना है । वृत्तिकार तो निराकरण किये दूजे को भी प्रमेयशय्या की पूर्ति के निमित्त कष्ट से इस पक्ष का अनुवाद कर दूजित कर रहे हैं—'वेपात्यादि' । उक्त नाति से 'दशार्थः



उत्तर वृत्तिवार ने इस प्रकार दिया है—सभी अर्थद्वारों में अभिप्रेत भूय व्यापक रूप में रहता है। अभिभावृत्ति का पूर्ण निरूपण वैश्वरूपेण और मोर्मासके ने कर हो दिया था। फिर अल द्वाशस्व का प्रणयन करनेवाले आचार्यों का नाम ही पूर्ण हो रहा गया। इसी प्रकार ताकिरों ने जब यह कह ही दिया कि हेतु के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है तब फिर ईश्वर इत्यादि विभिन्न वायों छाताओं इत्यादि का निरूपण क्यों कर रह जावेगा? इस प्रकार धारत्रों का सारा उद्योग ही व्यर्थ हो जावेगा। (आज यह है कि किसी सामान्य बात को कह देने के बाद उसके विशेष प्रतिपादन की आवश्यकता होती ही है। अतः लक्षणा भी उपलक्ष्य मान देने पर भी ध्वनि का समस्त प्रपञ्च तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं हो जाता।)

अथवा यह भी माना जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं। पुराने आचार्यों ने जिसका उन्मीलन कर दिया है उसी का सम्यक् निरूपण हमने कर दिया है। ऐसा मानने में भी क्या दोष? इसी अभिप्राय से उन्नासवीं कारिका का उत्तरार्थ लिखा गया है। इसका आशय यह है कि यदि पहले हा और छोरा ने ध्वनि का निरूपण कर दिया है तो इससे हमारा ही पत्र सिद्ध होता है कि ध्वनि विद्यमान है (और वह काव्य की आत्मा भा है)। पहले ही लिखने का आशय है हमारे लिखने के पहले। (आज यह है कि यदि प्रतिपत्नी यह कहे कि ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों ने लक्षणा का प्रतिपादन किया था। लक्षणा की व्याख्या उपलक्षणपरक करने से ध्वनि का लक्षण स्वतः ही जाता है। अतः ध्वनि का प्रतिपादन कोई नई वस्तु नहीं। प्रतिपत्तियों का यह कथन तो ध्वनिकार के दावे को ही सिद्ध करता है कि ध्वनि होती है। अतः प्रतिपत्तियों के इस कथन से ध्वनिकार का कुछ नहीं बिगड़ता।) ध्वनि प्रस्तावना में विराधियों के ५ मतों का उल्लेख किया गया था—३ अभाववाद सम्बन्धी १ लक्षणा में अन्तर्भाव और १ अनास्यवक्तव्यवाद। इस उद्योग में अभाववाद के तीनों पक्षों का निराकरण कर दिया गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया कि ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब अनास्यवक्तव्यवाद का निराकरण दोष रह गया। इसके लिये ध्वनिकार का एक आध बारिवा हानी चाहिये थी। किन्तु अब तीन प्रकार के अभाववाद का निराकरण हो गया और ध्वनि की लक्षणवृत्ति समझना भी निराकृत कर दी गई तब अनास्यवक्तव्यवाद का निराकरण भी स्वाभाविक रूप में ही हो गया। अतएव उसके निराकरण के लिये कोई मूल कारिका मुझ ई नहीं देती। किन्तु वृत्तिकार ने प्रमेव सन्निवग का पूरा करने के लिये अभिभावृत्ति में ही उसका अनूदित कर निगूह्य कर दिया है। वह इस प्रकार है—'ओ एग ध्वनि को सद्दरपद्दयसवममात्र क्दपग उमको निर्वचनानर्हता का प्रतिपादन करते हैं ने भा सोच समझकर नहीं बालू, क्योंकि वही दूह तथा कही जानबाली नीति से ध्वनि ५ सामान्य विभिन्न लक्षणों का प्रतिपादन कर देने पर भी यदि उसको अनास्यवक्तव्य कहा जावेगा तो यह बात तो सभी के विषय में पठित

सारायता

इसोप्रकार ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम की एक टीका लिखी जा चुकी थी। यह इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि साधारण पाठक ध्वन्यालोक के रहस्य को इस टीका के द्वारा इसी प्रकार नहीं समझ सकता था जिस प्रकार चाँदनी का सहरा लकर कोई नेत्रहीन व्यक्ति आलोक का आनन्द नहीं ले सकता। इसीलिए अब मनब गुप्त ने लोचन टीका में पाठकों को बाँधें खोलने की चेष्टा की है।)

जिन भगवती पार्वती जो की प्रकाशन शक्ति से ही सारा विश्व जगत्तर में प्रकाशित हो जाता है। (अर्थात् जैसे ही भगवती पार्वती अपने कृपा कटाक्ष से हृदय तत्व को उन्मोहित कर देती है वैसे ही सारा विश्व करतलामलकज्वल्व् बिना किसी अन्य उपकरण के हमारे अन्त करणों में एकदम उद्भासित होने लगता है।) जो केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं। अथवा ब्रह्मचिन्मय रूपी आयतन में जिनका स्वरूपत निवास है जो ध्यानस्वरूपिणी हैं जिनका नाम शिवा है उस आदिशक्ति की हम वन्दना करते हैं।

अथवा जिस प्रतिभा के प्रकाशन योग से सारा विश्व जगत्तर में प्रतिभासित होने लगता है। (अर्थात् कवि प्रतिभा के अन्त करण में आगस्क होते ही कवि श्रितोक्तरणों बन जाता है। पुरानो से पुरानो वस्तुयें उसे फिर नवीन और चिर सुन्दर प्रतीत होती हैं तथा कवि प्रतिभा के सहचार से कार्य वुरूप से वुरूप वस्तु रमणीय बन जाती है। जो भाँडभा निरन्तर अपनी धामा में ही वासना रूप में विद्यमान रहती है, जो शिवा है अर्थात् रसावेश के कारण विशद भी है, सुभग भी है और आनन्द विधाविनी भी है तथा लोकरमहल का सम्पादन करनेवाली है। उस कविप्रभा की हम वन्दना करते हैं।

इति सारायता समाप्तोऽयं प्रथम उपोठ ।